मीरा
की
प्रेम-साधना

मीरा की प्रेम-साधना

डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन (प्रा०) लि०
दिल्ली-६

मूल्य : १०.००

परिवर्तित एवं परिवर्धित चतुर्थ संस्करण

मुद्रक
एवरेस्ट प्रेस, ४ चमेलियान रोड,
दिल्ली-६

प्रकाशकीय वक्तव्य

इस ग्रन्थ के लेखक श्री माधवजी ने काशी विश्वविद्यालय से अंग्रेजी और हिन्दी में एम० ए० कर चुकने के बाद देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन, विशेषत: करबन्दी आन्दोलन में तीन वर्ष और फलत: जेल में डेढ़ वर्ष रह चुकने के बाद काशी के 'सनातनधर्म' के प्रधान सम्पादक रहते हुए परम पूज्य मालवीयजी महाराज के परम पावन चरणों का सान्निध्य लाभ किया। इनके जीवन-निर्माण में पूज्य मालवीयजी महाराज के कृपा-प्रसाद का विशेष हाथ रहा है। कुछ दिनों तक ये प्रयाग के 'चाँद' और 'भविष्य' के भी प्रधान सम्पादक रहे और 'भविष्य' में एक सम्पादकीय के कारण इन्हें राज-विद्रोह के अभियोग में पुन: इलाहाबाद की मलाका जेल में सेल की सजा भुगतनी पड़ी। परन्तु इनके जीवन को वास्तविक रससिंचन का अवसर तब मिला जब गीता प्रेस, गोरखपुर में 'कल्याण' तथा 'कल्याण कल्पतरु' (अंग्रेज़ी मासिक पत्रिका) में संयुक्त सम्पादक के रूप में पूरे ग्यारह वर्ष सेवा करने का इन्हें शुभ संयोग मिला। 'कल्याण' में श्री पोद्दारजी का अजस्र वात्सल्य-स्नेह तो मिला ही, साथ ही देश के प्रमुख सन्त-महात्माओं के शुभ सान्निध्य का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। ऋषिकेश के स्वामी शिवानन्दजी, अरुणाचलम के श्री रमण महर्षि और पांडिचेरी के श्री अरविन्द का सान्निध्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'कल्याण' के अनन्तर आरा जैन कॉलेज में ये छ: वर्ष तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे और तदुपरान्त सच्चिदानन्द सिन्हा कॉलेज औरंगाबाद के प्राचार्य पद पर पूरे सात साल। फिर लगभग पाँच वर्ष तक ये विहार सरकार के शिक्षा विभाग में समाजशिक्षा के उपनिदेशक तथा समाजशिक्षा बोर्ड के सचिव पद पर काम कर पाठ्यग्रन्थ शोध-संस्थान के निदेशक हुए और १९६० से बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के निदेशक हैं।

इनकी मुख्य कृतियाँ 'सन्त साहित्य', 'मीरा की प्रेम-साधना', 'धूप-दीप', 'मेरे जनम-मरण के साथी', 'सन्त वाणी', 'हँसता जीवन', 'रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना' 'श्री अरविन्द चरितामृत' और 'पुराण स्मरण' हैं। 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' शोध-ग्रन्थ पर इन्हें 'डॉक्टर ऑफ़ फिलासफ़ी' की उपाधि मिली है। सन्तों और भक्तों के साहित्य में माधवजी का हृदय विशेष रमता है।

निवेदन

मीरा की प्रेम-साधना का सौन्दर्य मेरे हृदय-मन्दिर का एक हँसता हुआ स्निग्ध प्रकाश है। इसकी सहायता से मैं जो कुछ देख सका हूँ उसी को आपके सम्मुख ला रखने की विनम्र चेष्टा इस छोटी-सी पुस्तक का उद्देश्य समझा जाना चाहिए। इस उद्देश्य में मुझे सफलता कहाँ तक मिली है, यह बताना मेरा काम नहीं है। मैं तो अपने को इतने ही से धन्य समझूँगा कि मेरे इस प्रथम प्रयास को आप सहृदयतापूर्वक स्वीकार कर लेने की कृपा करें।

अपने आदरणीय आचार्य ध्रुवजी तथा शुक्लजी को मैं धन्यवाद कैसे दूँ? मेरे प्रति इन दोनों गुरुवरों के हृदय में जो अमूल्य वात्सल्य-स्नेह भरा रहता है, धन्यवाद के शब्द लिखकर, उसका मूल्य कैसे निर्धारित कर दूँ? इन्होंने अपनी-अपनी ओर से 'परिचय' और 'प्रस्तावना' लिखकर मेरी इस छोटी-सी पुस्तक की महत्ता बढ़ा दी है। इसके लिए मेरा हृदय कृतज्ञ है, पर वाणी तो मूक ही रहेगी।

हाँ, यह आवश्यक है कि इस पुस्तक में जो कुछ भूल-चूक हो, मेरी या छापे की, उसके लिए मैं अपने पाठकों और आलोचकों से नम्रतापूर्वक क्षमा माँग लूँ। बस।

असी सङ्गम, काशी

माधव

१—१—३४

द्वितीय संस्करण की भूमिका

लगभग बारह वर्ष पूर्व 'मीरा की प्रेम-साधना' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ और साहित्य तथा साधना के क्षेत्र में इसका बड़े उल्लास के साथ स्वागत हुआ। सबने बड़े प्रेम से इसे अपनाया। देश और विदेश के विख्यात विद्वानों तथा मनीषियों ने, प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा की और उनमें से कइयों ने निजी तौर पर पत्र लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया। उन पत्रों और सम्मतियों को प्रकाशित कर मैं पुस्तक का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता।

मीरा के साथ मेरे अन्तर्जीवन की एक दिव्य समरसता है जो भावयोग के कारण बड़ी ही मीठी, प्यारी, पर साथ ही परम रहस्यमय एवं गोपनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा के साथ मेरे किसी अतीत जीवन का अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध रहा है। 'मीरा' नाम सुनते ही वह सुध हरी हो आती है। यह मादक मिठास मुझे बेहाल, बेचैन, पर फिर भी 'रस' में सराबोर किये रहती है। परिणाम यह है कि चलता जा रहा हूँ और 'तलाश' ज़ारी है। खोजने का अनुपम आनन्द अपने-आप में इतना नशीला होता है कि वह किसी और चाह को स्थान नहीं देना चाहता। इस 'खोज' में खो जाना ही शायद साधना का चरम सौन्दर्य है। अस्तु।

इस बार इस परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण में कई और नये अध्याय लिखे गए और पुराने अध्यायों को भी नये सिरे से लिखा। सौ-सवासौ और पद इस संग्रह में संकलित किये गए और उनके फुटनोट में काफ़ी विस्तार हुआ। पर सच तो यह है कि मीरा पर लिखते हुए कभी भी मेरा जी न भरा। मालूम होता है बाहर-ही-बाहर चक्कर काटकर रह जाता हूँ और 'हृदय की बात' लिखने को रह गई। रसज्ञ पाठक मेरी बेबसी समझेंगे।

पुस्तक बड़ी ही अस्तव्यस्तता की अवस्था में छपी है, अतएव इसमें छापे की बहुत भूलें रह गई हैं, जिनके लिए मैं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

विन्ध्याचल
विजयादशमी, १९३७

विनीत
माधव

तृतीय संस्करण में

आज 'मीरा की प्रेम-साधना' का तीसरा संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे अपूर्व आह्लाद हो रहा है। इस बीच गंगा का बहुत-सा जल पुल के नीचे से बह चुका है और बहुत-सी बातें 'पुरानी' होकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गई हैं। पर यह आश्चर्य है कि मीरा मेरे लिए नित्य नई होती जा रही है—ऊषा की भाँति। जितनी बार उसे देखता हूँ, और देखने की लालसा बनी ही रहती है; जितना निकट आता गया, और निकट आने की लालसा बढ़ती गई है। लगता है, उसे कभी छू न पाऊँगा, पा न पाऊँगा। इसीलिए उसके बारे में सब-कुछ कहकर भी ऐसा अनुभव होता रहा है कि कहने की बात तो कही ही न जा सकी, मन-की-मन में ही रह गई। अजीब विवशता है, पर है बड़ी भारी, बड़ी मीठी, सर्वथा स्वसंवेद्य।

इस संस्करण में दो नये अध्याय और जुड़े हैं। इधर मीरा पर विद्वानों का ध्यान गया है और बहुत-कुछ लिखा गया है, लिखा जा रहा है। परन्तु लगता है हम अपनी 'पंडिताई' में मीरा के साथ अन्याय करते चले जा रहे हैं। उसके प्रेम-प्रवण हृदय पर पांडित्य की शल्य-चिकित्सा भयावह है; साहित्य-साधना, शील, सौन्दर्य, प्रेम, अन्तःप्रेरणा, भावमाधुर्य किसी भी दृष्टि से। परन्तु आज का विद्वान् अपनी विद्वत्ता के घाट सब-कुछ उतारने पर आमादा है, परिणाम चाहे जो हो। परिणाम जो भी हो, इसकी परवाह न करना साहित्य-स्रष्टा और समालोचक का धर्म है, परन्तु अपने समालोच्य या वर्ण्य विषय के साथ अन्याय न होने पाए इतना तो हर हृदय रखने वाले सुधी को सोचना ही पड़ेगा। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में भावपूर्ण ग्रहण करना साहित्य के पिपासु को शोभा देता है, परन्तु वह वैसी क्यों है, ऐसी क्यों नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मीरा क्यों आने लगी ? सचमुच मीरा भाव-भक्ति से निःसृत अपने गीतों की पंडिताऊ व्याख्या और समालोचना देखकर असीसती होगी, विद्वान् समालोचकों और धुरन्धर पंडितों को। वह देखती होगी ये लोग कहाँ उसे खींचे लिये जा रहे हैं। परन्तु इसका एक शुक्ल पक्ष भी तो है और वह यह कि सबकी अपनी-अपनी पूजा की स्वतन्त्र शैली है और जो कुछ भी चढ़ाया जा रहा है—तुलसीदल हैं या बिल्वपत्र—सब उपासना के प्रकार के भीतर ही है।

इस संस्करण के मुद्रण के समय मैं अपने कार्यालय के कार्य-भार से इतना दबा हुआ था कि प्रूफ़-संशोधन के लिए समय निकालना कठिन था। इस विवश परिस्थिति में श्री शीलभद्र साहित्यरत्न ने इस कार्य में मेरी अत्यधिक सहायता प्रदान की है। यदि उनका हार्दिक सहयोग न मिला होता तो पुस्तक अशुद्धियों से इतनी मुक्त न होती जितना पाठक इसे पा रहे हैं। इस सहयोग के लिए मैं श्री शीलभद्र साहित्यरत्न का सदा आभारी रहूँगा।

विनीत

२।६ बेली रोड, पटना

माधव

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, २०१४ वि०

प्रस्तावना

भक्ति में श्रद्धा और प्रेम दोनों का योग रहता है। दोनों की मात्रा के भेद से भक्ति के कई स्वरूप हो जाते हैं। ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध को विशेष रूप से लेकर जहाँ भावना चलती है वहाँ श्रद्धा का अवयव अधिक रहता है। जहाँ भक्त केवल अपना और भगवान् का सम्बन्ध लेकर चलता है वहाँ प्रेम का अवयव प्रधान हो जाता है। जहाँ दोनों अवयव समान हों वहाँ भक्ति की साम्यावस्था समझनी चाहिए।

भारतवर्ष में जो वैष्णव भक्तिमार्ग चला आ रहा है उसमें भावों की अत्यन्त विशद और मार्मिक व्यंजना रामभक्ति और कृष्णभक्ति के क्षेत्रों में हुई। इन दोनों क्षेत्रों की भक्ति के स्वरूप में भेद स्पष्ट लक्षित होता है। रामभक्ति के क्षेत्र में भगवान् और जगत् की सम्बन्ध-भावना बराबर ऊपर रही। इससे वहाँ शील, भक्ति और सौन्दर्य—इन तीनों विभूतियों से समन्वित भगवान् का लोकरक्षक और लोकरंजक रूप सामने रहा। इस प्रकार वहाँ श्रद्धा और प्रेम का साम्य रहा। पर श्रीमद्भागवत के पीछे श्रीकृष्ण का लोक-संग्रही रूप क्रमशः हटता गया और वे कर्मक्षेत्र से अलग होकर प्रेम के मधुर आलम्बन मात्र रह गए। आगे चलकर मुसलमानी ज़माने में वल्लभाचार्यजी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोकसंग्रही रूप हटाया। उन्होंने लोक और वेद दोनों की मर्यादा का अतिक्रमण अपने सम्प्रदाय में आवश्यक ठहराया। इस प्रकार कृष्णभक्ति के क्षेत्र में श्रद्धा का अवयव दबता गया और प्रेमतत्त्व की प्रधानता होती गई। लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेम-साधना के रूप में आ गई। भक्तजन केवल अपना और भगवान् का सम्बन्ध लेकर चलने लगे। इस प्रकार कृष्णभक्ति के क्षेत्र में रहस्य-भावना का उदय हुआ।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का जो स्फुरण हुआ वह जब से क्रमशः प्रधानता प्राप्त करने लगा तभी से कृष्णभक्ति की साधना कुछ-कुछ व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्ध-निर्वाह के रूप में आने लगी थी। यह बात दक्षिण में विशेष रूप से घटित हुई। वहाँ कई-एक भक्तिनें ऐसी हुई जिन्होंने श्रीकृष्ण को एकान्त भाव से पति मानकर भक्ति की साधना की थी। दक्षिण के मन्दिर में देवदासियाँ रखने की जो प्रथा थी उससे इस 'माधुर्यभाव' की उपासना को

और भी सहारा मिला। कुछ लोग अपनी कुमारी कन्याओं को मन्दिर में चढ़ा आते, जहाँ उनका विवाह देवता के साथ हो जाता था। ये ही देवदासियाँ कहलाती थीं। इन देवदासियों के लिए उस देवता की भक्ति पति-रूप में ही विधेय थी। इनमें 'अंदाल' सबसे प्रसिद्ध भक्तिन हो गई हैं। वे कृष्ण को ही अपना पति कहती थीं और उन्हीं के प्रेम में मग्न रहती थीं। 'अंदाल' का जन्म विक्रम संवत् ७७० के लगभग हुआ था।

सूफियों की भक्ति-साधना भी ऐकान्तिक और माधुर्य-भावपूर्ण थी। इससे मुसलमानी ज़माने में कुछ कृष्णभक्तों पर सूफियों का भी पूरा असर दिखाई पड़ता है। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की अनेक प्रवृत्तियाँ साफ़ दिखाई पड़ती हैं। जिस प्रकार सूफी कव्वाल गाते-गाते बेहोश या 'हाल' की दशा में हो जाते हैं, उसी प्रकार महाप्रभुजी की मण्डली भी नाचते-नाचते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्योन्मुख भक्ति का प्रधान लक्षण है। उत्तर भारत के प्रसिद्ध कृष्णभक्तों में मीराबाई और नागरीदास की भक्ति 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत आती है। मीराबाई 'लोकलाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थी। नागरीदास की भक्ति तो साफ़-साफ़ सूफी ढाँचे में ढली हुई थी। उसमें तो यार, महबूब के साथ मद, प्याला, मूर्च्छा, उन्माद—सूफियों के सारे सामान मौजूद हैं।

कबीर ने भी 'राम की बहुरिया' बनकर अपने प्रेमभाव की व्यंजना की है, पर 'माधुर्य भाव' की जैसी व्यंजना स्त्री-भक्तों द्वारा हुई है वैसी पुरुष-भक्तों द्वारा न हुई है, न हो सकती है। पुरुषों के मुख से वह अभिनय के रूप में प्रतीत होती है। उसमें वैसा स्वाभाविक भोलापन, वैसी मार्मिकता और कोमलता आ नहीं सकती। पति-प्रेम के रूप में ढले हुए भक्ति-रस ने मीरा की संगीत-धारा में जो दिव्य माधुर्य घोला है वह भावुक हृदयों को और कहीं शायद ही मिले।

उस दिव्य माधुर्य का, उस अलौकिक मिठास का, जो अनुभव पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' को हुआ है, उसी को बताने का प्रयत्न इस छोटी-सी पुस्तक में उन्होंने किया है और, मैं समझता हूँ, कि वे बहुत-कुछ बता भी सके हैं। उस मिठास के अनुभव के लिए जिस ढाँचे की भावुकता चाहिए उस ढाँचे की भावुकता उनमें है। माधुर्य भाव से प्रेरित मनोवृत्तियों की बड़ी अच्छी परख का परिचय उन्होंने दिया है। उनकी भावुकता की पद्धति के अनुरूप ही उनकी भाषा भी कहीं हावपूर्ण, कहीं मदाकुल और कहीं रहस्यमयी है। पुस्तक के आरम्भ में भक्ति और प्रेम का व्यापक दृष्टि से कुछ ऐतिहासिक

तथा आध्यात्मिक कहा जाने वाला विवेचन भी है। इस पुस्तक को देखकर आशा होती है कि मीरा के ढब के कुछ और भक्तों का भाव-सौन्दर्य भी माधवजी इसी प्रकार प्रदर्शित करेंगे।

रामचन्द्र शुक्ल
(अध्यक्ष, हिन्दी विभाग)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

दुर्गाकुण्ड, काशी

२६-१२-१६३३

सूची

परिचय

मनुष्य की अपेक्षा परमात्मा अनन्त गुणवाला है। उसकी लीला अनिर्वचनीय है। वह इस अद्भुत सृष्टि की नाट्यशाला का माया-यवनिकाच्छन्न नटनागर है। मनुष्य उसकी महिमा के अणुमात्र अंश को भी अपनी कल्पना-शक्ति से नहीं समझ सकता। अतएव तत्त्वदर्शी लोग परमात्मा की सत्ता मानते हुए, उसके स्वरूप की अज्ञेयता से उत्पन्न हुए आश्चर्य में निमग्न हो जाते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता. २.२९)

केशव ! कहि न जाय का कहिये।
देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये॥

(विनयपत्रिका)

गीता के श्लोक के भाव का सन्निवेश महात्मा तुलसीदास ने दो पंक्तियों में कैसी मधुरता से किया है! इन उद्गारों से भगवान् की आश्चर्यमयी देवमाया के निरन्तर निदिध्यासन में निरत हो जाना यह वेदान्त का पक्ष है। यह पक्ष ज्ञानी को बहुत ही रुचिकर है। परन्तु परमात्मा की अमित महिमा को देखकर चकित न होते हुए उसके मधुर सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाना और उसके अज्ञेय स्वरूप को न सोचते हुए उसके प्रत्यक्ष प्रेम पर आत्मसमर्पण कर डालना यह एक दूसरा पक्ष है जो परमसुख की प्राप्ति का सरल साधन है। पहला पक्ष ज्ञानमार्ग का और दूसरा भक्तिमार्ग का है। यद्यपि दोनों मार्गों में कोई तात्त्विक विरोध है नहीं, तथापि मानव-हृदय इन दोनों में प्रायः एक ही ओर झुकता है। इनमें जिस पथ का पथिक जो कोई बन गया वह अपने जीवन के निर्दिष्ट लक्ष्य तक अवश्य पहुँच जाता है—

"सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।'

भक्ति और ज्ञान के परस्पर विरोधी अंश को छोड़कर दोनों ही को अपने हृदय में अवकाश देना यह तो परमात्माभिमुख हृदय की उच्च से उच्च अवस्था है। परन्तु मनुष्य के हृदय में भक्ति और ज्ञान दोनों में एक का

प्राधान्य हो जाना स्वाभाविक है। दोनों ही मार्गों को मानते हुए प्रत्येक मार्ग में मन्द और शिथिल रहने की अपेक्षा एक ही मार्ग पर आरूढ़ हो जाने से परमात्मा के स्वरूप का अनुभव भली प्रकार हो सकता है।

ऐसे ही एकदेशीय किन्तु अत्यन्त तीव्र और उत्कृष्ट साधन के अभ्यास से उत्पन्न हुए अनुभव का निम्नलिखित पद में सन्निवेश है, जिसमें 'आत्मसमर्पण' का भाव कूट-कूटकर भरा है—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥
माता छोड़ी पिता छोड़े, छोड़े सगा सोई।
सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई॥
सन्त देखि राजी भई, जगत देखि रोई।
प्रेम आँसू डार डार अमरबेल बोई॥
मारग में तारण मिले, सन्त राम दोई।
सन्त सदा शीश ऊपर राम हृदय होई॥
अन्त में तन्त काढ्यो पीछे रही सोई।
राणा मेल्या विख का प्याला पीने मस्त होई॥
अब तो बात फैल गई जाणे सब कोई।
दासि मीरा लाल गिरधर होनी हो सो होई॥

यह पद मेवाड़ की सुप्रसिद्ध भक्तिविह्वला मीराबाई का है। उस साध्वी का स्वाभाविक अबलापन उसकी परमात्म-प्रेमजन्य विवशता में, और उसका मेवाड़-उचित पौरूष, प्रेम में विघ्नभूत संसार-शृंखला को कच्चे धागे की नाईं विच्छिन्न कर डालने में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अबलापन और पौरूष—उत्कट प्रेम और वैराग्य—इन दोनों का यथार्थ चित्र इन सुन्दर पंक्तियों में उत्तम रीति से अंकित किया गया है। जिस हृदय में इस रस की तरल तरंगें कभी-कभी उठती होंगी उसे तो इस सुचारू संगीत से कुछ अनिर्वाच्य आनन्द मिलेगा। परन्तु जो इस भाव से नितान्त अनभिज्ञ है, जिसने इस रस का कदापि आस्वादन नहीं किया, उसे इस भावमयी कविता की मार्मिकता और उत्कृष्टता विशद करके बताना निष्प्रयोजन होगा। तथापि इस वैराग्य और प्रेम के विलक्षण भाव में किलोल करती हुई रस-लहरियों के पृथक्-पृथक् अवलोकन करने का यत्न अनुचित न समझा जाएगा।

वैराग्य और प्रेम

परमात्म-प्राप्ति के लिए सबसे पहला और आवश्यक साधन वैराग्य है। जगत् के व्यवहार की ओर कुछ अरुचि उत्पन्न हुए बिना मनुष्य परमात्माभिमुख

नहीं हो सकता। यद्यपि परिणाम में ज्ञानी को जगत् में ही परमात्म-दर्शन होता है, तथापि आरम्भ में जगत् पर जगत् रूप से त्याज्य-बुद्धि होना आवश्यक है। मायिक जगत् से अपनी ममता हटाकर, और परमात्मा की ओर प्रेम-प्रवण होकर ही मनुष्य कृतकृत्य होता है। जब तक मनुष्य की आत्मा की महत्ता को ममता की शृङ्खलाओं ने नियन्त्रित कर रखा है, तब तक वह आत्मा की स्वाभाविक विशालता का अनुभव नहीं कर सकता। इस प्रकार का अनुभव तो उसे तभी होता है जब वह यह समझ लेता है कि मैं यह देह नहीं और माता-पिता भी मेरे नहीं। अनन्त काल-महोदधि में जीवन के पाँच, पचास या सौ वर्ष तो एक-एक क्षण-बिन्दु मात्र ही हैं। इतने परिमित काल तक प्रतीयमान वस्तुओं में, जो अनाद्यनन्त है, उस आत्मा को कैसे सुख मिल सकता है ? ऐसे महान् पदार्थ ही होना चाहिये और वह पदार्थ परमात्मा के बिना और कुछ नहीं। वही जीव का सच्चा आश्रय और परम लक्ष्य है। **"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति"**—वही रस है और उसको पाकर जीव सन्तृप्त होता है। अतएव भक्त-जन बार-बार यह कहते हैं कि परमात्मा ही हमारा घर है—"God is our home".

"परा हि मे विमन्यवो पतन्ति वस्य इष्टये वयो न वसतीरूप"

—ऋग्वेद

जैसे पक्षी अपने घोंसले की ओर लौटते हैं वैसे ही, उतने ही आनन्द और उल्लास से, मेरी मनोवृत्तियाँ परमात्मा की ओर खिंचती हैं।

आत्मोन्नति की इस ऊँची अवस्था को प्राप्त कर मीरा कहती है—

"माता छोड़ी, पिता छोड़े, छोड़े सगा सोई।
अब तो बात फैल गई जाणे सब कोई।।"

लोक-सुखवाद के वर्तमान समय में इस तरह संसार छोड़ने की बात सुनकर कुछ लोग अप्रसन्न होंगे। उनकी दृष्टि में जगत् में रहकर भी परमात्म-चिन्तन हो सकता है। कर्त्तव्य-कर्म तो सदा करना ही चाहिये। प्रवृत्ति में ही सच्ची निवृत्ति है। संन्यास का वास्तविक अर्थ त्याग नहीं, किन्तु कर्म-फल का त्याग है। इस शैली की उक्तियाँ प्रायः हम सुना करते हैं। यद्यपि इन युक्तियों में बहुत-कुछ सत्य है, तथापि मीराबाई के त्याग की अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है। वस्तुतः ज्ञान के लिए वैराग्य परमावश्यक है। यद्यपि महा-पुरुष जगत् में विचरते हुए भी अरण्य सदृश एकान्तवास का अनुभव कर सकते हैं, तथापि यह बात तो बिरलों में ही देख पड़ती है। क्या जाने ऐसे महानुभाव पुरुष का जगत में 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लेप रहना उसके असंख्य जन्मों के वैराग्यमय संस्कारों का ही परिणाम हो ! मीरा का जीवन अनन्य भक्ति का

आदरणीय दृष्टान्त है। इस मेवाड़-रमणी का त्याग जगत् के बड़े-बड़े धर्म-धुरीण महात्माओं के त्याग के सदृश ही था। क्राइस्ट, बुद्ध, शंकर आदि महात्माओं ने जो प्रबल धार्मिक आन्दोलन चलाये, उन्हें वे संसार में रहते हुए कभी न चला पाते। उनके त्यागमय जीवन से ही उनका दिग्विजय मनुष्य के हृदय पर स्थापित हो सका। धर्मभावना में त्याग का कैसा माहात्म्य है, इसे समझने के लिए सम्राट् अकबर के चलाये हुए दिव्य-धर्म (दीन-ए-इलाही) का दृष्टान्त बहुत ही शिक्षाप्रद है। उस धर्म में वैराग्य का बड़ा अभाव था, जिस कारण वह निष्फल हुआ। सच तो यह है कि साधारणतया संसार के पामर जीव संसार में पुष्करपलाशवत् निर्लेप नहीं रह सकते। अतएव संसार-त्याग के उद्यम दृष्टान्त के बिना उनका धर्म और ज्ञान की ओर प्रवृत्ति होना असंभव है। मीरा का वैराग्य शुष्क संसार के झगड़ों से नहीं, बल्कि परमात्मा के प्रति अगाध प्रेम से ही उत्पन्न हुआ था।

जगत् से विरक्त होकर रहने वाला मनुष्य जगत् को प्रायः कठोर दृष्टि से देखा करता है। परन्तु मीरा के वैराग्य में परमात्मा का प्रेम-रस भरपूर होने से कुछ मनोहर मृदुता थी, उसका हृदय अत्यन्त कोमल और करुणार्द्र था। वह जगत् के पारमार्थिक दुःखों से दुःखी थी। वर्तमान समय के परोपकारी पुरुष जगत् के व्यावहारिक दुखों से सहानुभूति करते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझते कि संसार के पारमार्थिक दुःख तो अत्यन्त त्रासदायक हैं। सूक्ष्म होने के कारण वे स्थूल दृष्टि से प्रतीत नहीं होते। अतएव वे और भी भयंकर हैं। 'जो परमात्मप्रेम मेरा हृदय अनुभव कर रहा है वह समस्त जगत् क्यों न अनुभव करे', इस प्रकार की प्रगाढ़ उत्कण्ठा प्रत्येक परोपकार-परायण हृदय में हुए बिना नहीं रहती। इसलिए ऐसी ही प्रबल उत्कण्ठा से प्रेरित होकर मीरा—

'जगत् देखि रोई'

ऐसा दयार्द्र हृदय बिरले ही महात्माओं में होता है। बुद्ध में था, क्राइस्ट में था, मीरा में था। क्राइस्ट और बुद्ध ने दया से ही प्रेरित हो जगत् के उद्धार करने का मार्ग रचा था। मेवाड़ की यह भक्त महिला यह सब-कुछ तो न कर सकी, किन्तु केवल भक्ति, प्रेम और दया के दिव्य दृष्टान्त रूप में प्रकट होकर उसने अपनी मधुर मूर्ति भारत के हृदय में सदा के लिए स्थापित कर दी। क्या यह बात कुछ साधारण है? मीरा के सदृश परमात्म-प्रेम की सरस मूर्ति जगत् में मिलना बहुत ही कठिन है। अतः उसके दृष्टान्त मात्र से ही हमारा कल्याण हो सकता है।

प्रसङ्गवशात् लौकिक नियमों के माननेवाले पुरुष यह आक्षेप करेंगे कि जिस स्त्री ने पति-सेवा न की उसके दृष्टान्त से जगत् की रीति-नीति और

मर्यादा टूट जाएगी। इस आक्षेप का उत्तर यही है कि सच्चे परमात्म-प्रेम के आवेग में पति की उपेक्षा करना भी क्षम्य है। क्या किसी अलौकिक प्रतिभा-शाली कवि की कृति मे काव्य के छोटे-मोटे नियमों का उल्लंघन होते हुए भी साधारण मनुष्य को दोषोद्भावना करने का अधिकार है? क्या किसी महा-पराक्रमी पुरुष को प्राकृत नियमों में बाँधा जा सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार महात्माओं के साधारण नियम-भङ्ग करने में कोई दोष नहीं होते—"समरथ को नहिं दोष गुसाईं"। इस दृष्टि से देखते हुए मीरा ने जो साहस किया वह दोष रूप नहीं, किन्तु उसकी कीर्ति को अमर करने वाला तथा जगत् को उन्नत भावना की ओर आकृष्ट और प्रेरित करनेवाला एक उच्च पराक्रम है।

भक्ति, ज्ञान, अमृतत्व

परमात्म-प्रेम के अनेकानेक स्वरूप हो सकते हैं। प्रभु की मधुर मूर्ति का कोई पितारूप से, कोई मातारूप से, कोई बालकरूप से, कोई प्रियारूप से, तो कोई पतिरूप से भजन करते हैं, अर्थात् उससे किसी प्रकार के प्रेम का नाता जोड़ भक्तजन तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि यह प्रेम लौकिक प्रेम के अनुरूप होता है तथापि लौकिक प्रेम से परमात्म-प्रेम में कुछ विलक्षण विभिन्नता होती है। इसका कारण परमात्मा की परता—अर्थात् उसका हर प्रकार के लौकिक भाव से अतीत होना है। परन्तु मनुष्य उस 'परता' अर्थात् विदूरता को सहन नहीं कर सकता। अतएव मनुष्य अपने हृदय में प्रिय-से-प्रिय वस्तु का रूपक लेकर परमात्मा की आराधना करता है। इस विधि की आराधना से यह न समझना चाहिए कि हम उस परमतत्त्व को, जिसकी कोई प्रतिमा नहीं—"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः" किसी तरह की संकीर्ण दृष्टि से देखते हैं अथवा उसे स्थूल स्वरूप दे देते हैं। हम उस चैतन्यघनतत्त्व को हृदय में प्रेम का ऊँचे-से-ऊँचा आसन देकर उसकी आराधना करते हैं। गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रेम अनन्यता का अनुपम दृष्टान्त है। *'*भक्ति परम प्रेमरूपा'—यथा व्रजगोपिकानाम्'* इस प्रकार भक्ति का लक्षण बतलाकर इसकी विशद व्याख्या करते हुए देवर्षि नारद ने

---

*"Hence the Soul's devotion to the Diety is pictured by Radha's self abandonment to her beloved Krishna and all the hot blood of Oriental passion is encouraged to pour forth in one mighty flood of praise and prayer to the Infinite Creator who waits with loving, out-stretched arms to receive the worshipper into his bosom and to convey him safely to eternal rest across the seemingly shoreless Ocean of Existence. Yet I am persuaded that no indecent thought entered their minds

कहा है—"*तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति*" अर्थात् रपमात्मा के लिए अखिल कर्मों का अर्पण करना और उसकी क्षणमात्र विस्मृति में अत्यन्त व्याकुलता अनुभव करना—इस अवस्था का नाम 'प्रेम' या 'भक्ति' है। इस अलौकिक प्रेम के उन्मेष में मीरा गद्गद् कण्ठ से बोल उठती है—

"अँसुअन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोई।"

"मैंने तो प्रेम के आँसुओं से सिचन कर अमर प्रेम-बेल लगाई है।" वह अमरबेल तो अमृतत्व ही है, जिसके विषय में, भक्ति-मूर्ति मीरा की नाईं; ज्ञान-मूर्ति मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था—"येनाहं नामृता स्यां तेन किं कुर्याम्—अमृतत्वस्व वित्तेन नाऽशाऽस्ति।" मुझे तो अमृतत्व चाहिये, वित्त से अमृतत्व की आशा नहीं, इसलिए वित्त लेकर मैं क्या करूँगी ? प्रेम, परमात्म-प्रेम, यही अमृतत्व का साधन है, क्योंकि उस प्रेम में ही आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है, और स्वरूप साक्षात्कार अमृतत्व ही किसी स्वर्ग में या अन्य किसी स्थान में मिल सकनेवाली वस्तु नहीं और न इसका यह अर्थ है कि यह भौतिक देह नित्य निरन्तर स्थायी बन सकता है, या अमुक समय से जरा-मृत्यु के बन्धन से मनुष्य छूट सकता है। अमृतत्व यह आत्मा का नित्य-सिद्ध स्वभाव है जिनका अनुभव करना ही 'अमृतत्व' है। यह दशा ज्ञान-साध्य है, क्रिया-साध्य नहीं। आत्मा के साक्षात्कार होने ही का नाम 'अमृतत्व' है।

आत्मा का अमरत्व सिद्ध करने का यत्न अनेक विद्वानों ने किया है। इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि आत्मा का अमरत्व देश-काल-परिच्छिन्न होने के कारण आत्मा का अमरत्व उसके लिए तृप्तिकर होने के बदले केवल क्लेशजनक ही होगा। कोटि वर्ष-पर्यन्त यहाँ या सर्वोत्तम स्वर्ग भूमि में रहकर भी क्या करना है ? विषयता के प्रवेश से आत्मा का गतसंग हो जाना ही उसकी सच्ची अमर दशा है। उस आत्मा का या परमात्मा का अमरत्व भी विषयता के प्रदेश से अतीत है, इसलिए वह अमरत्व क्रिया-साध्य नहीं किन्तु ज्ञान-साध्य है।

पूर्वोक्त प्रकार का ज्ञान किस विधि से प्राप्त हो सकता है ? हमारी तर्क-बुद्धि तो—आत्मा अमर है—इस विचार से अधिक दूर पहुँच नहीं सकती। तो फिर आत्मा के अमर भाव का साक्षात् अनुभव किस रीति से हो सकता

---

when they wrote those burning words; and to those who would protest, as I have heard the protest made, against using the images of the secular in dealing with the most sacred mysteries of the soul, I can only answer—'Wer den Dichter will verstehen Muss in Dichters Lande gehen."

Dr. Grierson's Introduction to the Satsaiya of Biharilal.

है ? ज्ञान से अथवा भक्ति से ? प्रेम-लक्षणा भक्ति ही ज्ञान है और अपरोक्ष ज्ञान ही भक्ति है, इस सिद्धान्त पर यद्यपि कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, तथापि भक्ति और ज्ञान की एकता किस प्रकार की है, इस पर कुछ विचार करना चाहिए ।

भक्ति के दो मुख्य और आवश्यक अङ्ग हैं— प्रेम और श्रद्धा । प्रेम और श्रद्धा के द्वारा भय, शंका आदि दोषों से आत्मा मुक्त हो जाता है । प्रेम से उसमें चैतन्य का विकास होकर आनन्द का भान होता है । ज्ञान के द्वारा भी यही वस्तु प्राप्त की जाती है और उसकी प्राप्ति के लिए भी श्रद्धा और प्रेम अलग ढंग से आवश्यक होते हैं, क्योंकि उनके बिना ज्ञान अस्थिर, शिथिल, शुष्क और परोक्ष रह जाता है । ज्ञान और भक्ति का समन्वय मानते हुए यह शंका उत्पन्न होती है कि भक्ति द्वैत के बिना हो ही नहीं सकती, क्योंकि जब मनुष्य को परमात्मा पर भरोसा और प्रेम करना आवश्यक है तब उसे अपने से भिन्न पदार्थ अथवा द्वैत को स्वीकार करना ही पड़ता है । परन्तु वस्तुतः भक्ति ही द्वैत के अपलाप का सच्चा साधन है । परमात्मा के प्रेम में संलग्न प्रेमी अपनी अहन्ता ममता से मुक्त हो जाता है और यही मुक्ति अद्वैतवाद का भी परम लक्ष्य है । ज्ञान के द्वारा भी यही दशा प्राप्त की जाती है । वस्तुतः आत्मा को अहन्ता ममता का बन्धन नहीं, इसका तात्पर्य यही है कि अहन्ता ममता से रहित आत्मस्थिति प्राप्त करना चाहिये । अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस अहन्ता ममता से रहित आत्मा ही ब्रह्म है । यदि यह बात ध्यान में रखें तो यह स्पष्ट समझ में आता है कि भक्ति और ज्ञान के उभय पक्षों में परमात्मा का समान रीति से अन्तर्भाव है, अर्थात् उभय साधनों द्वारा एक ही गति प्राप्त होती है । इतना ही नहीं, किन्तु दोनों पक्षों में धार्मिकता का भाव भी समान है । तात्पर्य यह कि एक ही तत्त्व पर भक्ति और ज्ञान का लक्ष्य होते हुए भी एक को यदि तत्त्वज्ञान (Philosophy) और दूसरे को धर्म (Religion) कहा जाए तो यह भी अनुचित है । ज्ञान और भक्ति दोनों ही धर्म है और एक ही पदार्थ के विभिन्न स्वरूप हैं ।

उक्त प्रकार के प्रेम से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि प्रेम होते ही जब 'मैं' ऐसी वस्तु ही नहीं रहती तब कौन जरा और मृत्यु के पाश में बँधा हुआ कहा जा सकता है ? जिन्होंने अपनी अहमाकार वृत्ति परमात्मा को अर्पित कर दी है, अर्थात् जैसे नदियाँ नाम रूप तजकर समुद्र में लीन हो जाती है, वैसे ही जिसने अपनी भेदमयी अहंमूर्ति ब्रह्मरूप प्रेमसागर में लीन कर दी है, उसकी दृष्टि से ब्रह्म से अलग 'मैं' कहने लायक कोई पदार्थ ही अवशिष्ट नहीं रहता और ऐसी स्थिति में यदि ब्रह्म का नाश सम्भव हो तो वह अपना भी नाश होना मान सकता है ।

जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु हैं हम नाहिं ।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ।।
प्रीतम छवि नैननि बसी, औ छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय ।।

यदि ब्रह्म अपने से भिन्न हो तो किसी काल में अपने नाश होने की आशङ्का हो सकती है, किन्तु जब अपना आत्मत्व ही ब्रह्म में है तो फिर अपना विनाश कैसे सम्भव हो सकता है ? अद्वैत वेदान्त में इसी रीति से आत्मा के अमृतत्व के अनुभव करने की प्रक्रिया है। इस विचार-शृंखला से इतना स्पष्ट हुआ कि जो भक्ति को मन्दाधिकारी के लिए उपयुक्त मानते हैं और जो परमात्मा के ज्ञान के बदले (अहङ्कारास्पद) आत्मा के ज्ञान सम्पादन करने में ही सिद्धि मानते हैं, वे वेदान्त-सिद्धान्त को भली-भाँति नहीं समझे।

साधु संगत

परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधु-सङ्ग का कितना माहात्म्य है, इस पर अब कुछ विचार करना चाहिये। मीरा ने ठीक ही कहा है—

"मारग में तारण मिले, सन्त राम दोई ।
सन्त सदा शीश ऊपर, राम हृदय होई ।।"

इस संसार-सागर से तारण करनेवाले दो ही पदार्थ हैं—एक 'सन्त' और दूसरा 'राम'। उनमें सन्त का स्थान 'शीश' ऊपर और राम का 'हृदय' में है। सन्त केवल परोक्ष रीति से मार्ग बताकर दूर रहते हैं, वे अपने सहवास से जितना असर हो सकता है उतना करते हैं, किन्तु परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव करना—यह अन्तिम काम हृदय का है। सन्त का मान करना चाहिये और राम हृदय में विराजने चाहिएँ। गुरु का प्रयोजन मार्ग-प्रदर्शन मात्र है और वह जितनी सरलता से उस मार्ग का अनुभव करा सकता है, उतना ही वह आदरणीय है—शिरोधार्य है। किन्तु जिस लक्ष्य तक पहुँचना है उसको भूल-कर उस लक्ष्य के बतलानेवाले गुरु के ही समाराधन में लग जाना एक अत्यन्त शोचनीय भूल है। निःसन्देह साधु-संग बड़ा श्रेयस्कर है। साधुता परमात्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप है। सचमुच इसके सम्पर्क से आत्मा सहज ही में निर्मल हो जाता है।

अमुक व्यक्ति सन्त है या नहीं, इसकी समीक्षा हमें आँख खोलकर करनी चाहिये। सद्गुरु का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वयं उसी पथ का हमारा सहचर पथिक बने और उस विकट मार्ग की जो-जो कठिनाइयाँ हों उन्हें समय और अधिकार देखकर हमें बतलाए।

सन्त के समागम में, मनुष्य की घोर-से-घोर पशुवृत्ति शान्त हो जाती है और उसके सच्चे मनुष्यत्व का विकास होने लगता है। शास्त्रों में सत्सग की बड़ी महिमा गाई गई है—

सन्तो दिशन्ति चक्षुंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ।।

भागवत, ११, २६, ३४

आकाश-मण्डल में उदय हुआ सूर्य मनुष्य को केवल बाह्य नेत्र देता है, किन्तु सन्तजन ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं। अतः सन्तजन देवता और बन्धुरूप हैं तथा वे सबके आत्मा और साक्षात् भगवान् रूप ही है।

प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ।।
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ।।
त एते साधवः साध्वि सर्वसंगविवर्जिताः।
संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते ।।

भागवत, कपिल-देवहूति सवाद

विवेकी जन संग को ही आत्मा का अच्छेद्य बन्धन मानते हैं, किन्तु वही साधु पुरुषों के साथ किया जाने पर मोक्ष का खुला द्वार हो जाता है। जो लोग सहनशील, करुणामय, समस्त देहधारियों में हितचिन्तक, शत्रुहीन, शान्त, शास्त्रानुसार चलनेवाले और सद्गुण-सम्पन्न होते है, जो मुझ (भगवान्) में अनन्य भाव से सुदृढ़ प्रेम करते हैं, मेरे लिए सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियों को त्याग देते हैं और मेरी पवित्र कथाओं का परस्पर कीर्तन-श्रवण करते है, उन मुझ ही में चित्त लगाने वाले भक्तों को संसार के विविध ताप कोई कष्ट नही पहुचा सकते। हे साध्वि ! ऐसे सर्वसंगपरित्यागी महापुरुष ही 'साधु' होते हैं।

तुम्हें उन्हीं का संग प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वे सम्पूर्ण दोषों को दूर कर देने वाले होते हैं।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम ।।
भगवत्सङ्गिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।

मीराबाई का जीवन आत्मसमर्पण का ज्वलन्त उदाहरण था। उसने प्रेम की अश्रुधारा से अमरबेलि का सिंचन किया था, और सत्संग मे काल व्यतीत कर लोकापवाद की तनिक भी परवाह न की। किसी भी ओजस्वी आदर्श के लिए आत्मसमर्पण करते हुए मनुष्य को लोक-लाज बहुत ही सताती है,

इसके कारण उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ मन-की-मन ही में विलीन हो जाती हैं। लोग क्या कहेंगे, इस आशंका से पीड़ित होकर बहुत से विवेक-सम्पन्न पुरुष भी अपने ध्येय का ध्यान से तिरोधान कर देते हैं। किन्तु मीरा ने तो—

सन्तन संग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।

ऐसा ही गोपिकाओं ने भी किया था—

किती न गोकुल कुलबधू, काहि न केहि सिख दीन।
कौने तजी न कुलगली, ह्वै मुरली सुर लीन॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

उद्धव ने प्रार्थना की है—अहो! इन गोपियों की चरणरज को सेवन करने वाले वृन्दावन में उत्पन्न हुए गुल्म, लता और औषधियों में से कुछ भी मैं होऊँ, क्योंकि इन्होंने दुस्त्यज (कठिनाइयों से भी नहीं छोड़े जा सकनेवाले) अपने बान्धव और कुल की श्रेष्ठ रीतियों का त्याग कर श्रीकृष्ण भगवान् का भक्तिमार्ग पाया जिसको श्रुतियाँ भी ढूँढा करती हैं।

भगवान् कृष्ण के चरण-कमलों को रास-विलास के समय इन्होंने अपने हृदय पर रखकर अपनी विरह-व्यथा शान्त की थी। रास के समय भगवान् ने अपनी भुजलताओं से इनका प्रगाढ़ आलिङ्गन किया—इन गोपियों की चरणरज को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय,
वसन्त पंचमी, '३३　　} **आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव**

अन्तर्दर्शन

रस की प्यास

यदि सौन्दर्य के विषय में कुछ कहना हो तो पहले रस के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। संसार रस के लिए पागल है। कैसे रस मिलेगा, कहाँ रस है, इसका किसी को पता नहीं है, फिर भी सभी रस चाहते हैं। भँवर जो गूंजते-गूँजते एक फूल से दूसरे फूल में भ्रमण करता है, वह भी रस की आकांक्षा से, योगी योगमग्न है, भोगी भोग-विलास में विभोर है, लोग स्त्री को चाहते हैं, पुत्र से स्नेह करते हैं, जहाँ सौन्दर्य देखते हैं वहाँ दौड़ पड़ते हैं—रस की प्यास से, रस के लोभ से सभी चंचल हैं। रस के बिना प्राणी जी नहीं सकता। "को ह्यन्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्।" रस ही सार है—रस ही सत्व है।

जिसका आस्वादन कभी हुआ नहीं, उसके लिए आकांक्षा हो नहीं सकती। रस के लिए सारा संसार पागल है, इसलिए उसका अनुभव एक-न-एक दिन कहीं अवश्य ही हुआ है। निश्चय ही एक दिन सारा संसार उस रसपान से मतवाला होकर आत्मविस्मृत हुआ था, पीछे नियति की प्रेरणा से उस अवस्था से च्युत हो पड़ा है। योग से भ्रष्ट होकर संसार आज उसी की पुनः-प्राप्ति की आशा से खोई मणि वाले सर्प के समान व्याकुल हुआ-सा भाग रहा है। जब तक फिर उस योग की स्थापना नहीं होगी तब तक इस अशान्ति के हटने की सम्भावना नहीं।

जिस वस्तु का स्वाद जिसे मिला नहीं, उसके लिए उसकी आकांक्षा नहीं होती। किन्तु रस का आस्वाद हमें कब मिला, कहाँ और किस प्रकार मिला? कोई-कोई कह सकते हैं कि इस प्रश्न की कोई विशेष सार्थकता नहीं है, क्योंकि जीवन के अतीत अध्यायों की ओर दृष्टिपात करने पर सभी को मानना पड़ेगा कि रसानुभव सभी को कहीं-न-कहीं थोड़ा-बहुत अवश्य ही हुआ है। अच्छा लगना, सुन्दर प्रतीत होना और आनन्द का अनुभव करना—ये किसी को भी कभी हुए नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए रस के लिए आकांक्षा होना कोई विचित्र बात नहीं है, किन्तु यह उत्तर ठीक प्रतीत नहीं होता। इसका प्रधान कारण यह है कि जिसको हम चाहते हैं और जिसका हमें अनुभव हुआ, वे एक तरह के नहीं हैं। हमने आस्वाद लिया हो बेदाने का और चाह

रहे हों अंगूर—ऐसा हो नहीं सकता। जिस रस का हमने अनुभव किया है, वह परिच्छिन्न, एकदेशीय, क्षणिक और मलिन है, किन्तु जिसे हम चाहते हैं वह इसके विपरीत है। यदि पूर्ण आनन्द, पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण प्रेम का कभी आस्वादन हमने नहीं किया, तो उसके लिए तृष्णा जागी कैसे? जिस परम सौन्दर्य ने पीछे रहकर इस तृष्णा का उद्दीपन किया है, उसी की फिर सामने उपलब्धि किये बिना इसकी निवृत्ति होगी नहीं। हम संसार में आनन्द जितना ही पाते हैं, सौन्दर्य जितना ही देखते हैं, उतनी ही हृदय में अभाव-प्रतीति और भी अधिक जाग उठती है। देखकर भी देखने की साध किसी तरह भी मिटती नहीं, मालूम होता है यह अपूर्ण है। जभी अपूर्ण समझते हैं तभी सीमा आँखों के सामने दिखाई देती है, तभी अनजाने में हृदय रो उठता है। सोचते हैं और भी—और भी आगे जाएँ, सम्भवतः सुदूर भविष्य में किसी-न-किसी दिन उसे आयत्त कर सकेंगे। किन्तु हाय मोह! यह समझ नहीं पाते हैं कि काल-प्रवाह में इस आकांक्षा की तृप्ति हो नहीं सकती। आनन्द चाहे जितना ही क्यों न बढ़े, सौन्दर्य चाहे जितना ही छलछला उठे, तृप्ति तब भी बहुत दूर की वस्तु है। क्योंकि और भी विकास हो सकता है एवं कभी भी इस क्रम-विकास की सम्भावना दूर होगी नहीं। इससे ज्ञात हो जाएगा कि हृदय जिसकी आकांक्षा करता है वह ससीम सौन्दर्य अथवा परिमित आनन्द नहीं है। यदि ऐसा होता तो एक-न-एक दिन क्रम-विकास से उसकी तृप्ति हो जाती। वस्तुतः यह असीम सौन्दर्य, अनन्त प्रेम, निरवच्छिन्न आनन्द है। पूर्ण सौन्दर्य का सम्भोग पहले हुआ है। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य की आकांक्षा होती है, विच्छिन्न (खण्ड) सौन्दर्य से तृष्णा मिटती नहीं। जिसका विरह है, उसे पाये बिना व्याकुलता का अवसान हो नहीं सकता।

इसलिए प्रश्न रह गया है कि यह पूर्ण सौन्दर्य कब हमें मिला था एवं कहाँ मिला था? हम पहले देख चुके हैं कि कालक्रम से इस पूर्ण सौन्दर्य को हम पा नहीं सकते; करोड़ों कल्पों में भी हम ऐसा सौन्दर्य पायेंगे नहीं जिससे बढ़कर और सौन्दर्य हो न सके, अर्थात् काल के मध्य में पूर्ण सौन्दर्य का विकास हो नहीं सकता। काल में जो विकास होता है वह क्रम-विकास है। इस क्रम का अन्त नहीं है। और भी अधिक, और भी अधिक हो सकता है—किन्तु कभी भी पूर्णता होती नहीं। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि काल में कभी इसकी अनुभूति भी होती नहीं। अर्थात् हमें जिस सौन्दर्य की अनुभूति हुई है, वह कोई सुदूर अतीत में नहीं है, किसी दिगन्तस्थित नक्षत्र में नहीं है अथवा किसी विशिष्ट काल या देश में नहीं है।

अतएव एक प्रकार से यह प्रश्न ही अनुपपन्न है। किन्तु घूम-फिरकर प्रश्न फिर भी होता है। परस्पर विरुद्ध होने पर भी यह सत्य है कि इस सौन्दर्य

का आस्वादन जब हमें हुआ था तब काल नहीं था—जहाँ हमने इसका आस्वादन किया था वहाँ देश नहीं था। वह हमारी 'योग' अवस्था अथवा मिलन था। उसके बाद वर्तमान अवस्था 'योगभ्रंश' अथवा विरह है। फिर उस योग में जाने के लिए हम छटपटा रहे हैं, पुनर्मिलन चाहते हैं। अर्थात् हम देश और काल में निर्वासित हुए हैं। फिर देश-काल को छिन्न-भिन्न कर, विलीन कर वैसे ही योगयुक्त होना चाहते हैं।

किन्तु यह वियोग क्या अत्यन्त वियोग है ? पूर्ण से विच्छेद क्या सचमुच इतना वास्तविक है ? नहीं, यह बात नहीं है। वियोग सत्य है, विच्छेद स्वीकार्य है—किन्तु उस वियोग के मूल में भी नित्य योग खोया नहीं है, वह कभी खोता नहीं है। यदि खो गया होता, यह वियोग चिर वियोग हो जाता, फिर लौटने की सम्भावना नहीं रहती।

यह जो आकांक्षा है, यह जो ससीम अतृप्ति है, यह बतला रही है कि असीम के साथ योग एकदम टूटा नहीं है। स्मृति है—इसीलिए योग है। वह योग, वह अनुभूति अस्पष्ट है, यह हम स्वीकार करते हैं, किन्तु वह है अवश्य।

यदि यह अनुभूति—यदि पूर्ण का यह आस्वादन न रहता तो सौन्दर्य का मानदण्ड न रहता। मान के बिना तुलना करना सम्भव न होता। जब हमें दो फूले हुए फूलों को देखकर किसी समय एक दूसरे की अपेक्षा सुन्दर जँचता है, तब अनजाने में सौन्दर्य के मानदण्ड का हम प्रयोग करते हैं। जहाँ तारतम्य का बोध होता है वहाँ निश्चय ही मान के न्यूनाधिक्य की निर्णायक उपाधि रहती है। प्रकृत स्थल में चित्रस्थित पूर्ण सौन्दर्य की अस्पष्ट अनुभूति अथवा अनुभवाभास ही बाह्य सौन्दर्य के तारतम्य का बोधकनिमित्त है। अर्थात् बाहर की वस्तुओं को देखकर उनमें जो पूर्ण सौन्दर्य का जितना अधिक निकटवर्ती प्रतीत होता है वह उतना सुन्दर लगता है। सौन्दर्य का विकास जैसे क्रमिक है यह सन्निकर्ष भी वैसे ही क्रमिक है। बाहर में जैसे पूर्ण विकसित सौन्दर्य का कभी सम्भव नहीं, वैसे ही सन्निकर्ष की इस चरमावस्था का अर्थात् एकीभाव का भी सम्भव नहीं है।

देश और काल में जब पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त नहीं होता एवं वृत्ति ज्ञान जब देश और काल की सीमा में बँधा रहता है। तब पूर्ण सौन्दर्य वृत्ति के निकट प्रकाशित नहीं हो पाता, यह बात सत्य है। बल्कि वृत्ति पूर्ण सौन्दर्य की प्रतिबन्धक है। सौन्दर्य का जो पूर्ण आस्वाद है, वृत्ति रूप में वही विभक्त हो जाता है। वृत्ति से जिस सौन्दर्य का बोध होता है वह खण्ड सौन्दर्य है, परिच्छिन्न आनन्द है। पूर्ण सौन्दर्य स्वयं ही अपने को प्रकट करता है, उसे अन्य कोई प्रकट नहीं कर सकता। वृत्ति के द्वारा जो सौन्दर्य-बोध का आभास प्रस्फुटित होता है वह

सापेक्ष, परतन्त्र क्रम से बढ़ने वाला और काल के अन्तर्गत है। पूर्ण सौन्दर्य उससे विपरीत है। इस पूर्ण सौन्दर्य की छाया लेकर ही खण्ड सौन्दर्य अपने को प्रकट करता है।

तब क्या पूर्ण सौन्दर्य और खण्ड सौन्दर्य दो पृथक् वस्तुएँ हैं? नहीं, ऐसा नहीं है। दोनों वास्तव में एक हैं। लेकिन इस वियोगावस्था में दोनों को ठीक एक कहना सम्भव नहीं है। मालूम पड़ता है दो पृथक् हैं। यह जो दो का अनुभव होता है इसी के भीतर वियोग की व्यथा छिपी हुई है। इसको ज़ोर-ज़बरदस्ती से एक नहीं किया जास कता।

फिर भी सत्य बात यह है कि दोनों ही एक हैं। जो सौन्दर्य बाहर है वही अन्दर है, जो खण्ड सौन्दर्य होकर इन्द्रिय-द्वार में वृत्ति रूप से विराजमान होता है, वही पूर्ण सौन्दर्य रूप में अतीन्द्रिय भाव से नित्य प्रकाशमान है। गुलाब का जो सौन्दर्य है वह भी वही पूर्ण सौन्दर्य है, शिशु के प्रफुल्लित मुख-कमल में जो शोभा है, वह भी वही पूर्ण सौन्दर्य है—जिसे जब जहाँ जिस रूप से जिस किसी सौन्दर्य का बोध हुआ है, वह भी वह पूर्ण सौन्दर्य ही है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि सभी यदि पूर्ण सौन्दर्य हैं एवं पूर्ण सौन्दर्य यदि सभी का आस्वादित और अस्वाद्यमान है, तो ऐसी स्थिति में फिर सौन्दर्य के लिए आकांक्षा क्यों होती है? बात यह है, पूर्ण सौन्दर्य का बोध अस्पष्ट रूप से सभी को है। किन्तु अस्पष्टता ही अतृप्ति की हेतु है, इस अस्पष्ट को स्पष्ट करनाही तो सब चाहते हैं। जो छाया है उसे काया देने की इच्छा होती है। वृत्ति द्वारा इस अस्पष्ट का स्पष्टीकरण होता है, जो छाया के तुल्य था वह मानो स्पष्ट रूप से भास उठता है। भासित हो उठता है सही, किन्तु खण्ड रूप से। इसीलिए वृत्ति की सहायता से स्पष्ट हुए सौन्दर्य का साक्षात्कार होने पर भी, खण्ड होने से, ससीम होने के कारण उससे तृप्ति परिपूर्ण नहीं होती। वृत्ति तो अखण्ड सौन्दर्य को पकड़ नहीं सकती। अखण्ड सौन्दर्य के प्रकाश में वृत्ति कुण्ठित हो जाती है।

इसी बात को और स्पष्ट रूप से कहते हैं। कल्पना कीजिये, एक खिला गुलाब का फूल हमारी दृष्टि के सामने पड़ा है, उसके सौन्दर्य ने हमें आकृष्ट किया है—उसका सुन्दर रूप में हम अनुभव कर रहे हैं। इस अनुभव का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ क्या लगता है? यह सौन्दर्य कहाँ है? यह क्या गुलाब में है, अथवा हममें है अथवा दोनों में है? इस अनुभव का स्वरूप क्या है?

आपाततः यही प्रतीत होता है कि यह केवल गुलाब में नहीं है। यदि वही होता तो सभी गुलाब को सुन्दर देखते। किन्तु सब उसे सुन्दर देखते नहीं। और यह केवल हममें अर्थात् द्रष्टा में है, यह कहना भी ठीक नहीं है। यदि

ऐसा होता तो हम अर्थात् द्रष्टा सब वस्तुओं को सुन्दर देखते, किन्तु हम सभी को सुन्दर देखते नहीं। इसलिए मानना होगा कि इस अनुभव के विश्लेषण से सिद्ध होता है कि वर्तमान क्षेत्र में जब वृत्ति द्वारा बोध हो रहा है तब सौन्दर्य खण्डित-सा हुआ है, एक ओर अस्पष्ट अथच पूर्ण सौन्दर्य है, जो हममें है, दूसरी ओर स्पष्ट अथच खण्ड सौन्दर्य है, जिसे हम गुलाब में देख रहे हैं। किन्तु यथार्थ रस-स्फूर्ति के समय ऐसा रहता नहीं। तब सौन्दर्य द्रष्टा में नहीं रहता, गुलाब में भी नहीं रहता। तब द्रष्टा और गुलाब एकरस साम्यावस्थापन्न हो जाते हैं, केवल सौन्दर्य ही, स्वप्रकाशमान सौन्दर्य ही तब रहता है। यही पूर्ण सौन्दर्य है, जिसमें भोक्ता और भोग्य दोनों ही नित्यसम्भोग रूप से विराजमान रहते हैं।

वृत्ति द्वारा सौन्दर्योपलब्धि किसे कहते हैं? जब किसी विशिष्ट वस्तु का हम प्रत्यक्ष करते हैं, तब वह वस्तु हमारे चित्त में स्थित आवरण को धक्का देकर थोड़ा-बहुत हटा देती है। चित्त पूर्ण सौन्दर्यावभासमय है, किन्तु यह अवभास आवरण से ढँका होने से अस्पष्ट है। किन्तु सर्वथा ढका नहीं है, न हो ही सकता है। मेघ सूर्य को ढकता है, किन्तु एकबारगी ढंक नहीं सकता। यदि एकबारगी ढँकता तो मेघ स्वयं भी प्रकाशित न होता। मेघ जो मेघ है, वह भी वह प्रकाशमान होने से है, इसीलिए वह सूर्यलोक की अपेक्षा रखता है। उसी प्रकार आवरण चित्त को एकबारगी ढक नहीं सकता। चित्त को ढकता है, किन्तु आवरण का भेद करके भी ज्योति का स्फुरण होता है। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य, आवरण के प्रभाव से, अस्पष्ट होने पर भी एकबारगी अप्रकाशमान नहीं है। जहाँ चित्त है वहीं यह बात लागू होती है। पर अस्पष्टता का तारतम्य अवश्य है। यह जो आवरण के कारण अस्पष्टता है, आवरण के हटने पर वह भी अस्पष्टता में बदल जाती है। आवरण के तनिक हटने पर स्पष्टता दिखती है वह किंचित् मात्र है। घर के झरोखे के छिद्र से अनन्त आकाश का जैसे एकदेश मात्र दिखलाई देता है, आंशिक रूप से आवरण हटने पर उसी प्रकार पूर्ण सौन्दर्य का एकदेश मात्र ही प्रकाशित होता है। यह प्रकाशमान एकदेश ही खण्ड-सौन्दर्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह आंशिक आवरणनाश ही वृत्तिज्ञान है। इसलिए जो गुलाब का सौन्दर्य है वह भी पूर्ण सौन्दर्य ही है पर एक एकदेशमात्र है। इसी प्रकार जगत् का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही उस पूर्ण सौन्दर्य का एकदेश है। आवरणभङ्ग के तारतम्यवश उद्घाटित सौन्दर्य के तारतम्य अथवा वैशिष्ट्य का निरूपण होता है।

किन्तु आवरणभङ्ग के वैशिष्ट्य का नियामक क्या है? आपाततः यह बाह्य पदार्थ के स्वरूप में स्थित वैशिष्ट्य के रूप से ही गृहीत होगा। किन्तु हम आगे देखेंगे कि यही अन्तिम बात नहीं है, इसलिए आवरणभङ्ग का भेद, जो स्वाभाविक

है, वह इस अवस्था में कहा नहीं जा सकता। आपाततः कहना ही होगा कि आगन्तुक कारण के वैचित्र्य वश आवरण के हटने पर भी वैचित्र्य रहता है। स्फटिक के समीप नील वर्ण की स्थिति से स्फटिक नीला प्रतीत होता है और पीत वर्ण की स्थिति से पीला प्रतीत होता है। यह आगन्तुक कारणजन्य भेद का दृष्टान्त है। चक्षु के निकट स्थित घट में घटाकार वृत्ति एवं पट में पटाकार वृत्ति चित्त धारण करता है, यह भी आगन्तुक भेद है। ठीक उसी प्रकार फूल के सौन्दर्य और लता के सौन्दर्य दोनों में अनुभव का भेद जानना होगा। फूल के सौन्दर्यास्वाद की जो वृत्ति है, लता के सौन्दर्यास्वाद की वृत्ति उससे विलक्षण है, इसका कारण आगन्तुक है। फूल और लता का वैशिष्ट्य जैसे सत्तागत है वैसे-वैसे ही ज्ञानागत भी है, फिर आस्वादगत भी है। इसलिए स्वीकार करना होगा कि फूल और लता में ऐसा विशिष्टक कुछ है जिससे एक एक प्रकार की सौन्दर्यानुभूति का उद्दीपक है, दूसरा दूसरी प्रकार की।

किन्तु यह आपेक्षिक सत्य है। बाह्य पदार्थ यदि परमार्थतः नहीं रहते अथवा जिस अवस्था में नहीं रहते तब अथवा उस अवस्था में बाह्य पदार्थ के स्वरूपगत वैशिष्ट्य द्वारा रसानुभूति के वैचित्र्य का उपपादन नहीं किया जाता। सत्ता जैसे एक और अखण्ड होने पर भी फूल और लता खण्डसत्ता है, ज्ञान जैसे एक और अखण्ड होने पर भी फूल था; ज्ञान और लता का ज्ञान अर्थात् फूल-रूप ज्ञान और लता-रूप ज्ञान परस्पर विलक्षण हैं, वैसे ही सौन्दर्य एक और अखण्ड होने पर भी फूल का सौन्दर्य और लता का सौन्दर्य अर्थात् फूल-रूप सौन्दर्य और लता-रूप सौन्दर्य परस्पर भिन्न हैं। इस जगत् में दो वस्तुएँ ठीक एक नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु का एक स्वभाव है, एक व्यक्तित्व है, एक विशिष्टता है जो दूसरी वस्तु में नहीं होती। यदि यह सत्य है, तो खण्ड सत्ता जैसे अनन्त है संख्या में तथा प्रकार में, खण्ड ज्ञान भी वैसे ही अनन्त है, खण्ड सौन्दर्य भी वैसे ही अनन्त हैं। किन्तु जो सत्ता है वही तो ज्ञान है, क्योंकि प्रकाशमान सत्ता ही ज्ञान है और अप्रकाशमान सत्ता आलोक है। फिर जो ज्ञान है वही आनन्द है, क्योंकि अनुकूल ज्ञान ही, भला लगना ही आनन्द या सौन्दर्यबोध है और प्रतिकूल ज्ञान ही दुःख या कदर्यता है। सत्ता जब ज्ञान होती है तब वह नित्यज्ञान है और ज्ञान जब आनन्द होता है तब वह नित्य संवेद्यमान आनन्द है। यह नित्य संवेद्यमान आनन्द ही रस है। इसलिए रस का सदा अभिन्न रूप से आस्वादन ही अखण्ड या पूर्ण अनुभूति का स्वरूप है। यह वृत्ति नहीं रस-स्फूर्ति है।

इसलिए रस पदार्थ में सत्ता और ज्ञान का अन्तर्निवेश है। रस से सत्ता और ज्ञान का वस्तुतः पार्थक्य नहीं है। अतएव रस एक होकर भी अनन्त है, सामान्य होकर भी विशेष है। एक विशिष्ट रस की स्फूर्ति फूल है तथा दूसरे विशिष्ट रस की स्फूर्ति लता है—दोनों के आस्वादन में भेद है। इसीलिए

जगत् किसी के भी अभाव का सहन नहीं कर सकता। एक का अभाव दूसरा पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक वस्तु की मर्यादा है, जो अलंघनीय है।

इससे यह ज्ञात हुआ कि पूर्ण सौन्दर्य ही खण्ड सौन्दर्य है। किन्तु खण्ड सौन्दर्य जब वृत्ति से प्रकाशमान होता है, तब वह रस-विशेष नहीं है, रसाभास-मात्र है। यह रसाभास विक्षिप्त वृत्ति के निरोध से यथार्थ रस में परिणत होता है, जिसे Estatic अथवा Aesthetic intuition कहा जा सकता है।

यह जो रस विशेष है, यह अनन्त है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में स्फुरण और आस्वादन का वैशिष्ट्य है। पर आलंकारिकों ने जो इसे श्रेणीबद्ध किया है, वह केवल जातिगत भेद को लक्ष्य में रखकर, शास्त्रीय व्यवहार की सुगमता के लिए किया है। शहद का स्वाद और गुड़ का स्वाद एक प्रकार का नही है, फिर शहद का स्वाद और नमक का स्वाद भी एक तरह का नहीं है। तथापि जिस कारण से शहद और गुड़ को एक श्रेणी के अन्तर्गत किया जाता है एवं शहद और नमक को नहीं किया जाता, उसी कारण से आलंकारिकों ने रस को श्रेणियों में विभक्त किया है। इसलिए जानना होगा कि शहद और गुड़ प्रयोजनवश एक जाति के अन्तर्गत होने पर भी वस्तुतः दोनों के जैसे आस्वाद में वैचित्र्य है, वैसे ही एक रस दूसरे रस के साथ एक श्रेणी के अन्तर्गत होने पर भी (जैसे शृंगार) ठीक एक नहीं है। सत्ता और ज्ञान के वैचित्र्य में यदि कोई सार्थकता है तो रस में भी वह है।

इसलिए एक हिसाब से रस अनन्त और दूसरे हिसाब से रसों की निर्दिष्ट संख्या है। मूल में रस एक ही है।

यह निर्दिष्ट संख्या कितनी है, इस विचार को यहाँ उठाने की आवश्यकता नहीं है। हम केवल मूल बात समझने की चेष्टा कर रहे हैं। हमने ये जो अनन्त रस कहे हैं, इनमें प्रत्येक के अवस्था के भेद हो सकते हैं। ये भेद स्थूल-मान से शुद्ध और मलिन भेद से दो प्रकार के हैं। यह बाह्य दृष्टि से है अर्थात् प्रत्येक रस शुद्ध भाव से स्वप्रकाश है। तभी यथार्थ में वह रस कहलाता है। और मलिन होने पर ही वह मिश्रित हो जाता है, इसीलिए वह वास्तविक रस नहीं है, रसाभास है। यह जो एक शुद्ध स्वप्रकाश रस का आस्वाद है उसकी भी फिर दो अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था चिरस्थायी है, उसमें प्रवेश करने पर फिर उतरा नहीं जाता; दूसरी अवस्था स्थायी होने पर भी काल से अवच्छिन्न है, वहाँ से व्युत्थान संस्कार की प्रवलता से उतरना पड़ता है। दोनों ही स्वच्छ और उज्ज्वल हैं, वस्तुतः दोनों ही एक हैं। पर एक चांचल्य अथवा मालिन्य की सम्भावना से रहित है और दूसरे में उसकी सम्भावना है। एक में व्युत्थान संस्कार तथा निरोध संस्कार नहीं है अथवा चिरनिद्रित हैऔर दूसरे में वह है। किन्तु आस्वादन में कोई तारतम्य नहीं है।

इसलिए जब एक खण्ड सौन्दर्य को देखकर हम उसका सम्भोग करते हैं तब पहले वह विक्षिप्त वृत्ति का आस्वादन है। यह एक विशिष्ट (Unique) सौन्दर्य का ही आस्वादन है सही, किन्तु वह आस्वादन निर्मल नहीं है, इसलिए गम्भीर नही है। उस आस्वादन से हम आत्मविस्मृत नहीं होते हैं। क्रम से जब वृत्ति स्थिर होने लगती है अर्थात् जब वृत्ति अपने क्षेत्र से विषयान्तर को डुबा देती है अथवा हटा देती है, केवल उस एकमात्र खण्ड सौन्दर्य को ही प्रकाशित करती है, अर्थात् वृत्ति जब सब विषयों की उसी एक सौन्दर्य में आहुति देकर उसी एक को लेकर मिश्रितभाव से प्रकटित होती है, उस समय का आस्वादन कुछ नया आस्वादन नहीं है। वह उस विक्षिप्त अवस्था का आस्वादन ही है; दोनो मे Qualitative कोई भेद नही है, पर वह इस समय निर्मल है और इसी कारण अत्यन्त गम्भीर है। यही एकाग्र भूमि की प्रज्ञा है। यहाँ रस का स्फुरण होता है—रस सामान्य के अङ्क में एक विशिष्ट रसव्यक्ति प्रकट होती है। इस अवस्था म वह खण्ड सौन्दर्य अपने आलोक से अपने-आप प्रकाशित होना है। भोक्ता और भोग्य मानो स्वसंवेद्यमान सम्भोग में एकाकार होकर स्थित होते हैं।

किन्तु इस अवस्था में चिरकाल तक स्थिति नही होती। भाव का नशा हट जाने पर ही पूर्व अवस्था लौट आती है—योग के बाद फिर वियोग होता है—मिलन के अन्त में विरह जागता है। किन्तु जिस कारण से इस योग का भङ्ग होता है वह योगावस्था में भी अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। मिलन के अङ्क में विरह इसी प्रकार छिपा रहता है।

दुहुँ कोरे दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।

अर्थात्—वियोग की भावना कर, दोनों की गोद में दोनों रोते हैं। इसको हम संस्कार कहें चाहे और कुछ कहें, उससे कुछ आता-जाता नहीं। किन्तु यदि यह संस्कार कट जाए तो फिर वह योग हटता नहीं।

इसलिए विशिष्ट रसस्फूर्ति की शुद्धावस्था भी कालातीत और कालावच्छिन्न भेद से दो प्रकार की है। जिस उपाय से काल का अतिक्रम किया जाता है, सदा रहने वाली स्थिति प्राप्त की जाती है, उस उपाय के सफल होने पर ही वह विशिष्ट निर्मल रसास्वाद भी अबाधित रहेगा। किन्तु उसकी आलोचना का यह स्थान नहीं है। पर रस-सामान्य रस-विशेष का बाधक नहीं है, यह हम आगे चलकर कहेंगे, क्योंकि सामान्य 'विशेष' का विरोधी नहीं होता—विशेष में भी सामान्य जुटा रहता है।

यहाँ हमें एक बात की मीमांसा करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। कोई-कोई कह सकते हैं कि रस में विशिष्टता आरोपित भेद है, स्वगत भेद नहीं है। रस एक ही है, केवल उपाधि के भेद से उसमें आगन्तुक भेद की

प्रतीति होती है। हमें यह यथार्थ सिद्धान्त प्रतीत नहीं होता। रस एक है, यह बात सत्य है, उसमें सजातीय अथवा विजातीय भेद की बात तो दूर रही, स्वगत भेद तक नहीं है। किन्तु रस बहुत है यह कथन भी मिथ्या नहीं है। विभाव, अनुभाव आदि के वैचित्र्य वश रस विचित्र है। यह लौकिक दृष्टि के अनुसार है, यह कहना अनावश्यक है। किन्तु यहाँ भी विभावादि तो मूल में रस के अंग हैं। घट के आकार से रहित घट ज्ञान जैसे कल्पनायोग्य नहीं है, फिर भी अखण्ड ज्ञान निर्विषयक है, वैसे ही विभाव आदि से विरहित खण्ड रस कल्पनीय नही है, फिर भी रस सामान्य में विभाव आदि का अवकाश नहीं है। विक्षिप्त वृत्ति में भेद-बोध परिस्फुट रहता है, वहाँ विभाव आदि पृथक् हैं यह अवश्य ही मानना होगा। किन्तु जहाँ रसस्फूर्ति होती है वहाँ भी विभावादि रहते हैं पर वे अभिन्न रूप से रस के अंग प्रतीत होते है। ये विशिष्ट रस हैं। रससामान्य में अवश्य विभावादि का भान नहीं रहता, किन्तु विशिष्ट रस का बोध हुए विना रससामान्य में नहीं पहुँचा जाता। जब विशिष्ट रस का स्फुरण होता है तब रससामान्य का भी स्फुरण होता है—अर्थात् रसस्फुरण में सामान्यांश और विशेषांश दोनों ही मिले हुए रहते हैं। उनमें विशेष अंश का निरोध होने पर सामान्य अंश रह जाता है। जैसे सुवर्ण और कुण्डल हैं। एक विशिष्ट आकार में ढाला गया सुवर्ण ही कुण्डल कहा जाता है। दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। जब हम कुण्डल को देखते हैं तब सुवर्ण को भी देखते है, वैसे ही जब विशिष्ट रस का आस्वादन होता है तब सामान्य रस का भी आस्वादन होता है। सामान्य रस को ही विशेषवश विशेष रस कहा जाता है। वह विशेष अंश यदि न रहे अर्थात् विलीन हो जाए तो रससामान्य ही रहता है। वह निर्विशेष निराकार है। जिस आकार के कारण सुवर्ण को हम कुण्डल कहते है, वह आकार यदि न रहे तो सुवर्ण जैसे सुवर्ण मात्र है, निराकार सुवर्ण है, कुण्डल नहीं है। यहाँ भी उसी प्रकार समझना होगा। सामान्य का आश्रयण करके ही विशेष का स्फुरण होता है। आधार का आश्रयण करके ही आधेय का स्फुरण होता है एवं उपादान का आश्रयण करके ही कार्य का स्फुरण होता है। किन्तु विपरीत मत सत्य नहीं है, क्योंकि विशेषरहित सामान्य, आधेयहीन आधार और कार्यशून्य उपादान प्रतीत नहीं हो सकते। उस जगह अपेक्षा बुद्धि न रहने के कारण सामान्य, आधार और उपादान इस आकार से ज्ञान नहीं होता। किन्तु वस्तु का ज्ञान अवश्य ही होता है। तब जानना होगा कि जिस विशेष के कारण एक रस नाना रस होता है, उस विशेष का स्वरूप क्या है ?

मान लीजिए यह विशेष ही उपाधि है। इसी के भेद से रस में भेद होता है। वर्तमान अवस्था में अर्थात् जब हम विक्षिप्त वृत्ति के अधीन हैं

तब यह उपाधि, जो बाह्य और अनित्य है, अवश्य ही स्वीकार योग्य है। वस्तुतः यह उपाधि बाह्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है। फलतः रस में नित्य ही अन्तरंग रूप से यह विशेष लगा है; इसलिए रस नित्य ही नाना, नित्य ही स्वभावतः ही परस्पर-विलक्षण और विशिष्ट है, यह मानना होगा। अतएव रस एक है, सर्वत्र अनुस्यूत सामान्य भूत है, यह जैसे सत्य है वैसे ही रस अनन्त हैं, प्रत्येक रस विलक्षण और विशिष्ट है एवं यह विशेष स्वाभाविक है—किसी बाहरी कारण के सम्बन्ध से नहीं है, यह भी वैसे ही साथ है। जहाँ रसास्वाद होता है वहाँ बाह्यत्व और आगन्तुकत्व का सम्भव नहीं है। बाह्य तब तक है जब तक भेद है, जब तक रस का उदय नहीं हुआ। किन्तु रस की अभिव्यक्ति होने पर फिर बाह्यत्व नहीं रहता।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह उपाधि अनित्य क्यों नहीं है ? इसका उत्तर है—जगत् की सभी वस्तुएँ उपाधि-स्वरूप हैं। जिस दृष्टि में कोई भी वस्तु अनित्य या असत् नहीं है, उस दृष्टि में इस प्रश्न का समाधान अपने-आप ही हो जाता है। हम आपाततः युक्ति द्वारा इसका समाधान करते हैं। असत् शब्द से किसकी प्रतीति होती है ? यही प्रतीति होती है कि जो रूप एक बार दृष्टिगोचर होता है, अभिव्यक्त होता है, ठीक वही रूप फिर दिखाई नहीं देता। प्रत्येक निमेष में इस प्रकार का परिवर्तन हो रहा है। किन्तु इसका तात्पर्य क्या है ? एक के बाद दूसरी—इस प्रकार अनन्त-रूपपरम्परा अभिव्यक्त हो रही हैं अथवा जिसके द्वारा देखना होता है, वह चित्र क्रमशः भिन्न-भिन्न वृत्तियों में परिणत हो रहा है। वृत्ति के बिना रूप की अभिव्यक्ति जैसे असम्भव बात है, रूप के बिना शुद्ध वृत्ति भी वैसे ही असम्भव है। असल बात यह है कि यह विशिष्ट वृत्ति और विशिष्ट रूप परस्पर सापेक्ष हैं। इन्हीं का स्रोत चला है, इसे काल-स्रोत कहते हैं। हम विक्षिप्त अवस्था में हैं, इसलिए इस स्रोत को रोक नहीं सकते। किन्तु किसी उपाय से इस बह रहे स्रोत को यदि हम रोक सकें तो स्थैर्य आएगा, अर्थात् वृत्ति के स्थिर होने पर रूप भी स्थिर होगा एवं रूप के स्थिर होने पर वृत्ति भी स्थिर होगी। इसलिए एकाग्र अवस्था में जिस रूप का भान होता है, वह रूप चंचल या परिवर्तन-शील नहीं है। जब तक चित्त की एकाग्र अवस्था रहेगी तब तक उस स्थिर वृत्ति के सामने वह रूप भी स्थिरभाव से प्रकाशमान रहेगा। यदि यह एकाग्र अवस्था इच्छानुसार स्थायी रह जाए, जो मलिन प्रकृति के ऊर्ध्व में हो सकती है, तो रूप का प्रकाश-काल स्वायत्त हो जाता है। मान लीजिये कि एक गुलाब के फूल का अवलम्बन कर यदि हमारी प्रज्ञा का उदय हो एवं यह एकाग्र समाधि यदि एक हज़ार वर्ष तक न टूटे तो ठीक हज़ार वर्ष तक ही उस गुलाब का प्रकाश रहेगा। विक्षिप्त चित्त के निकट जगत् के करोड़ों परिवर्तन

संघटित होने पर भी स्थिर चित्त के निकट वही एकमात्र रूप प्रकाशमान रहेगा। अवश्य यह समाधि टूट सकती है, किन्तु उसका हेतु यह है कि उसके टूटने का कारण चित्त में है। जब वह बीज नहीं रहेगा अर्थात् जब रज और तम हट जाएँगे, जब सत्त्व विशुद्ध होगा, तब यह समाधि सदा स्थायी अथवा इच्छानुसार रहने वाली होगी। जगत् के सभी रूप एक-एक खण्ड प्रकाशात्मक हैं, जो महाप्रकाश के विशिष्ट विलास हैं। आज यदि समाधि टूट जाने से अथवा अपनी इच्छा से उस रूप का तिरोधान हो जाए तो फिर ठीक उसी को उद्भासित किया जा सकता है क्योंकि तिरोहित होने पर भी वह कभी भी महाप्रकाश के निकट तिरोहित नहीं होता, हो भी नहीं सकता, अव्यक्त होता है सिर्फ़ वृत्तिज्ञान के निकट। यदि यह सत्य है तो सभी रूप नित्य हैं, वस्तु मात्र सर्वदा सत्य है। फिर जिस अवस्था में वह रूप इच्छानुसार प्रकाशमान रहता है तब उस अवस्था में वह बाह्य नही है, प्रकाश के ही अन्तरंग अर्थात् अनन्य रूप से स्थित है।

अतएव उपाधि जब नित्य ही अन्तरंग रूप से प्रकाशमान है, तब अनन्त विशिष्ट रस परमार्थतः सदा ही हैं—अभिव्यक्त रूप से ही हैं, यह स्वीकार करना होगा। रसमात्र ही नित्य सिद्ध है, कदापि साध्य नहीं है। पर वृत्ति के अधीन होने के कारण हम उसे अव्यक्त मानते हैं। अभिव्यंजक सामग्री आवरण को हटाकर नित्य सिद्ध रस का ही उद्बोधन करती है। एवं उद्बोधन के समय अभिव्यंजक भी रस के अन्तर्गत हो जाता है।

इसलिए मानना होगा कि विशिष्ट रस प्रकार और संख्या में सदा ही अनन्त हैं। किन्तु अनन्त होने पर भी इसकी स्थिति दो प्रकार की है। कभी रस सामान्य में विशेष अन्तर्लीन रूप से शक्ति में रहता है और कभी परिस्फुट रूप में रहता है।

प्रथम शंका का समाधान एक प्रकार से हो गया। जिनका यह मत है कि रसमात्र ही विशेष रूप है, सामान्य रस हो नहीं सकता, उनका मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। सामान्य के न रहने पर विशेष रह ही नहीं सकता, यह बात हम पहले कह चुके हैं। विशेष अवस्था में जब आस्वादन होता है, तब सामान्य अवस्था को रस नहीं है नहीं कहा जा सकता। पर साधारणतः हमारे लिए उस रस की धारणा करना कठिन होता है।

इससे ज्ञात हुआ कि रस यद्यपि एक है, फिर भी उसमें अनन्त वैचित्र्यों की शक्ति है एवं यह शक्ति कभी-कभी प्रस्फुट होती है। जिसके बल से रस अपनी वैचित्र्य शक्ति को प्रस्फुटित करता है अथवा प्रस्फुटित वैचित्र्य को अपने में लीन करता है, वही उसका स्वातन्त्र्य है। यह शक्ति अथवा उपाधि ही रस की देह है। यह सूक्ष्म रूप से रस में चाहे लीन रहे अथवा स्थूल रूप से विकसित

रहे, सदा ही है। इस देह के साथ रस का अभेद सम्बन्ध है। प्राकृत जगत् में जैसे देह और देही भिन्न हैं, यहाँ वैसा नहीं है।

यह तो हुई शुद्धावस्था की बात। हम लोगों के इन्द्रियगोचर जगत् में भी ठीक इसी के अनुरूप अवस्था है। ये जो अनन्त वैचित्र्य हमें दिखाई देते हैं इनमें प्रत्येक का अर्थ है। एक-एक मुख का जो भाव है, केवल मुख का ही भाव क्यों, प्रत्येक मनुष्य—प्रत्येक पशु-पक्षी, प्रत्येक वृक्ष, लता एक-एक विशेष भाव या रस का विकास अर्थात् स्थूल रूप में प्रकाश है। पर यह अमिश्र नहीं केवल यही बात है। किसी मनुष्य का चेहरा वैसा न होकर अन्य प्रकार का क्यों नहीं हुआ? हो नहीं सकता, यही उसका उत्तर है। प्रत्येक मनुष्य जब भाव का विकास है तब भाव के वैशिष्ट्य के अनुसार आकृति का वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। आकृति तो भाव की ही देह है, इसलिए भाव से अभिन्न है। चरम परमार्थ दृष्टि से यदि देखा जाए तो एक देह में एक विशिष्ट भाव का ही विकास होता है, अन्य भावों का नहीं होता। जितने भाव उतनी देह। एक भाव का अवलम्बन कर बहुत भाव प्रकाशित नहीं हो सकते। पर एक देह के बहुत विलास हो सकते हैं—एक हिसाब से उसमें भी भाव-वैचित्र्य सम्पन्न होता है।

इसके अनन्तर एक और बात ध्यान में रखनी होगी। प्रत्येक जीव का एक अपना रूप है—उसे विनश्वर पदार्थ की तरह कल्पित रूप मानने का कोई कारण नहीं है। सब कल्पनाओं का उपशम होने पर भी वह रहता है। यह रूप केवल उसी का रूप है, दूसरे का नहीं। इसके अतिरिक्त उसका और एक रूप है, वह सामान्य रूप से सभी जीवों का है और ईश्वर का भी है; इस दृष्टि से वे सभी जीव ईश्वर से अभिन्न हैं। पहला रूप उसका विशेष (Individual) रूप है और दूसरा सामान्य (Universal) रूप है। अर्थात् निर्विशेष भाव से देखने पर जैसे सब जीव एक हैं एवं जीव और भगवान् अभिन्न हैं, सविशेष भाव से देखने पर वैसे ही प्रत्येक जीव भिन्न है एवं जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न है। इसलिए जीव और ईश्वर में तथा जीव और जीवान्तर में यह भेदाभेद नित्य ही है। भेद जब अनन्त और अभेद जब एक है एवं दोनों ही जब नित्य हैं, तब यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भेद मे अभेद की ओर अथवा भेद की ओर दृष्टि अथवा भाव भी अनन्त प्रकार के हैं। अर्थात् एक जीव भगवान् अथवा जगत् को जिस दृष्टि से देखता है, जिस भाव से जानता है, दूसरा जीव ठीक वैसा नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव का दृष्टिकोण स्वभावतः भिन्न है। इसलिये भगवान् के साथ एवं उन्हीं के अंश जीव के साथ प्रत्येक जीव का अपना एक विलक्षण सम्बन्ध है। भगवान् का भी वैसे ही प्रत्येक जीव के साथ एक विशिष्ट भावमय सम्बन्ध है।

इस परस्पर सम्बन्ध का आविष्कार ही रस-साधना की पहली सीढ़ी है। सौन्दर्य-तत्त्व की साधना तभी यथार्थ में सिद्ध हुई है। कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त प्रकार से रस साक्षात्कार हुआ हो। जीव शुद्ध चित्शक्ति, तटस्थ होने पर भी वैशिष्ट्ययुक्त और दर्पण के तुल्य स्वच्छ है; उसके ऊपर अनन्त प्रकार के सौन्दर्यों की छाया पड़ने के कारण ही अनन्त प्रकार के विशिष्ट रसों का आस्वादन होता है। ये अनन्त रस अनन्त प्रकार के हैं क्योंकि जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक दृष्टिकेन्द्र से सौन्दर्य के आभास अनन्त हैं, दृष्टिकेन्द्रों में अनन्त होने से प्रत्येक आभास भी अनन्त है।

यह जो जीव के विशेष और सामान्य रूपों की बात कही गई है, इनमें एक का त्याग कर दूसरा रह नहीं सकता। जहाँ विशेष रूप अभिव्यक्त रहता है वहाँ भी अव्यक्त रूप से सामान्य रूप रहता है तथा सामान्य रूप की अभिव्यक्ति के समय भी अस्फुट भाव से विशेष रूप रहता है, अतएव भेद जैसे अभेद से जुटा है, अभेद भी वैसे ही भेद से जुटा है, दोनों में नित्य सम्बन्ध है। भेदावस्था में भी अभेद विद्यमान रहता है, पर अभिभूत रहने से उसकी केवल उपलब्धि नहीं होती। अभेदावस्था में भेद के अस्तित्व को भी उसी प्रकार अवश्य स्वीकार करना चाहिए। वस्तुतः इनमें एक भी साम्यभाव नहीं है। साम्यभाव जीवभाव नहीं है, ईश्वरभाव भी नहीं है, भेद अथवा नानात्व नहीं, अभेद या एकत्व भी नहीं है। यह समान काल में भेद और अभेद समान रूप से दोनों ही हैं, फिर भी दोनों के ही अतीत हैं। जालन्धरनाथ की एक उक्ति का इस प्रसङ्ग में स्मरण होता है—

द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शंकरं वा।

अर्थात् परमार्थ तत्त्व द्वैत भी है, अद्वैत भी है; फिर वस्तुतः यह द्वैताद्वैत विकल्प के अतीत है।

पूर्णरस स्फूर्ति के स्वरूप की आलोचना के प्रसंग में यही बात ध्यान में रखनी होगी। इस साम्यभाव में खड़े हुए बिना रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ खड़े होने पर सभी कुछ सुन्दर दिखाई देता है, सब-कुछ भला लगता है, सभी के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि सब कुछ हमारा ही रूप है। उस अवस्था में उसको 'मैं' कहें चाहे 'तुम' कहें, उसमें कुछ क्षति नहीं होती। 'मैं' और 'तुम' दोनों ही शब्द उस अवस्था में एक ही वस्तु के वाचक हैं। औपनिषदगण उसको आत्माराम अवस्था कहते हैं। भक्तगण उसे पराभक्ति कहते है—स्वरूपतः दोनों में कोई भेद नहीं है। प्रह्लाद ने कहा है—

नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः।

पहले प्रह्लाद ने 'त्वम्' कहकर नमस्कार किया, फिर प्रत्यगात्मभाव के स्फुरण की ओर लक्ष्य कर 'अहम्' कहकर नमस्कार किया। उसके बाद जब

उन्होंने देखा जो 'त्वम्' है वही 'अहम्' है, इसलिए 'त्वम्' और 'अहम्' एकत्र जुटाकर कहे। जहाँ 'त्वम्' और 'अहम्' का साम्यभाव उपलब्ध हुआ है, वहाँ 'त्वम्' कहने से 'अहम्' की प्रतीति होती है और 'अहम्' कहने पर भी 'त्वम्' प्रतीत होता है। एक ही पदार्थ के दो नाम हैं 'त्वम्' और 'अहम्'।

सूफी सम्प्रदाय के सिद्ध कवि हल्लाज ने कहा है—

I am He whom I love, He whom I love is I; We are two spirits dwelling in one body.

यह वही उपनिषद् में कही गई एक वृक्ष में बैठे दो पक्षियों की कथा है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्व जाते।"

पक्षान्तर में जिलि ने कहा है—

We are the spirit of one, though we dwell by turns in two bodies.

जलालुद्दीन रूमी ने भी प्रकारान्तर से वही भाव प्रकट किया है—

Happy the moment when we are seated thou and I;

With two forms and with two figures. But with one soul, thou and I.

जीव और ईश्वर के भेदाभेद के सम्बन्ध में इसकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट निर्देश और क्या हो सकता है?

जिसने इस प्रकार से आरोहण किया है वह अपने रूप में आप ही विभोर है। किसी एक भक्त ने पूर्ण सौन्दर्य के अपार समुद्र में डूबने के बाद उस अवस्था की स्मृति का अनुसरण कर गाया था—

अहो निमग्नस्तव रूपसिन्धौ पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिम्।
अवाक् च निःस्पन्दतमो विमूढ़ः कुत्रास्मि कोऽस्मीतिन वेद्मि देव॥

यहाँ 'तुम' भाव का अवलम्बन कर भक्त का हृदय उच्छ्वासित हो उठा है। किसी का फिर 'मैं' भाव प्रधान रूप से फूट उठता है।

साधारण मनुष्य के जीवन में भी ऐसा शुभ मुहूर्त कभी-कभी आता है, जब वह अपना खण्ड 'मैं' या परिच्छिन्न 'अहम्' का अतिक्रमण कर पूर्णहन्ता के आभास को मानो कुछ परिमान में प्राप्त होता है। तब जगत् की सब वस्तुओं की ओर, यहाँ तक कि अपने रूप की ओर भी वह विस्मयविमुग्ध-नेत्रों से दृष्टिपात करता है, तब उसके नेत्रों के सामने सब-कुछ ही एक अपूर्व सुषमा से अलंकृत-सा प्रतीत होता है। तब "मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः" होता है, तब सभी—तुम, मैं और जगत् अर्थात् सभी—पदार्थ मधुमय प्रतीत होते हैं। तब मालूम पड़ता है सुख और दुःख आनन्द से भरे हैं, निन्दा और स्तुति माधुर्यपूर्ण हैं एवं भला-बुरा एकाकार हैं। तब अन्दर

और बाहर एक-एक तान मधुर स्रोत बहने लगता है। एक असीम अनन्त माधुर्य सागर अपने उज्ज्वल प्रकाश में स्वयं अपने निकट प्रकाशमान हो उठता है। कभी उसमें तरंगें रहती हैं और कभी नहीं रहतीं अथवा समान काल में तरंगें और स्थिरता दोनों ही रहती हैं, किन्तु माधुरी में कभी नहीं आतीं। यही पूर्ण रसबोध की अवस्था है। यहाँ मिलन में आनन्द है और विरह में भी आनन्द है, हँसने में भी माधुर्य है और रोने में भी माधुर्य है।

जो मैं हूँ वही तुम हो, फिर जो तुम हो वही जगत् है, इसलिए जिसे आत्म-प्रेम कहते हैं, उसी का दूसरा पहलू भगवत्प्रेम है, वैसे ही भगवत्प्रेम की दूसरी दिशा जीव और जगत् के प्रति प्रेम है। मूल वस्तु एक और अद्वितीय है।

एक ही पुरुष उत्तम, मध्यम और प्रथम भेद में केवल कल्पित हुआ है। पूर्ण रस का उद्बोध होने पर इस एक और अखण्ड प्रेम का विकास होता है।

किन्तु भेद दृष्टि से जीव, जगत् और भगवान् का स्वरूपगत परस्पर वैलक्षण्य भी तो है। पूर्ण रस के आस्वादन के समय वह भी अवश्य ही प्रकटित होता है, अन्यथा आस्वादन की पूर्णता असिद्ध रह जाती है।

अतएव यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक जीव रसानुभूति के समय ऐसी एक अवस्था में स्थित होता है जहाँ वह जिस आनन्द का आस्वादन करता है, दूसरा जीव भी रसानुभव के समय वही करता है—क्योंकि तब वह भी जैसे पूर्ण 'मैं' है, अन्य जीव भी वही है, इसलिए आस्वादनकर्ता वस्तुतः एक ही है। यह आनन्द ही नित्यसिद्ध ब्रह्मानन्द है। किन्तु केवल इतना कहने से ही तो चलेगा नहीं। प्रत्येक जीव का स्वभाव जब विलक्षण है, तब एक जीव जिस विशिष्ट आनन्द का आस्वादन करता है, दूसरा कोई जीव उसका आस्वादन नहीं कर सकता, यह मानना ही पड़ेगा। इस आस्वादन के प्रकार अनन्त हैं, सम्भावनाएँ अपरिमित है। इसीलिए कालातीत ऐक्य अथवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर भी प्रत्येक जीव की आनन्द-प्राप्ति की सम्भावना कभी न्यून नहीं होती। एक स्थिर आनन्द के वक्ष में नित्य नूतन विचित्र आनन्द का स्फुरण होता है—ब्रह्मानन्द के समुद्रवक्ष में यही तो नित्य लीला की लहरमाला है। इस विशिष्ट आनन्द की दिशा से ही भगवान् के साथ जीव का गुप्त सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

इस सम्बन्ध का आविष्कार कर विशिष्ट रस के आस्वादन में ही रस-साधना की सार्थकता है। रसज्ञ सामाजिकगण इसी कारण निर्विशेष सामान्यात्मक ब्रह्मानन्द-लाभ को रसचर्चा का चरमफल नहीं मानते। स्वायम्भुव आगम में कहा—

ब्रह्मानन्द रसादनन्त गुणितो रम्यो रसो वैष्णवः ।
तस्मात् कोटिगुणोज्ज्वल मधुरः श्रीगोकुलेन्दो रसः ।।

ब्रह्मानन्द रस में माधुर्य नहीं है, यहाँ तक कि वैष्णव रस में अर्थात् वैकुण्ठाधिपति परमात्मानन्द रूप रस में भी, शान्त और दास्य के ऊपर गति न होने के कारण, माधुर्य की सम्भावना नहीं है । माधुर्य एकमात्र भगवदानन्द-रस में ही है, सख्य और वात्सल्य का अतिक्रम कर उज्ज्वल रस में ही माधुर्य की पराकाष्ठा है । अतएव सविशेष भगवद्भाव में आरूढ़ हुए बिना पूर्णभाव से रस का आस्वादन नहीं हो सकता ।

प्रत्येक व्यक्ति के साथ ही सामान्य का एक निगूढ़ और आन्तरिक सम्बन्ध है । व्यक्ति सामान्य को सामान्य रूप में पाकर तृप्त नहीं होता । वह उसका अपने विशिष्ट भाव में अनन्त काल तक सम्भोग करने की इच्छा करता है । जब कर सकता है तभी वह यथार्थ रसिक होता है, उससे पहले नहीं । प्रत्येक व्यक्ति के साथ सामान्य का यह मिलन अति गुप्त स्थान में संघटित होता है—उस निर्जन कुञ्ज में अन्य किसी के भी प्रवेश का अधिकार नहीं, क्योंकि वहाँ सामान्य सिर्फ़ उसी व्यक्ति का है, अन्य व्यक्ति का नहीं ।

प्रत्येक व्यक्ति ही सामान्य को कह सकता है—'तुम मेरे ही हो – केवल मेरे ही हो' यह बात सत्य है । फिर, यह बात भी सत्य है कि सामान्य सभी व्यक्तियों का समान धन है, किसी का भी निजस्व (स्वधन) नहीं है । श्रीकृष्ण राधावल्लभ हैं, यह जैसे सत्य है, फिर वह गोपी मात्र के ही वल्लभ हैं यह भी वैसे ही सत्य है । पर इसमें एक रहस्य है । जिस गुप्त स्वधाम में श्रीकृष्ण सिर्फ़ एक जन के हैं, जब तक ठीक उस स्थान में न पहुँचा जा सके, तब तक 'तुम मेरे हो' यह कहना तो बनता है, किन्तु 'केवल मेरे ही हो' यह कहना नहीं बनता । उसी स्वभाव का नाम राधाभाव है । जो गोपी उस महा-भावमय स्वभाव में प्रतिष्ठित है वही राधा है ।

हमने पूर्ण रसास्वाद का थोड़ा-सा दिग्दर्शन किया । अभिनवगुप्ताचार्य ने रस का जो स्वरूप दिखलाया है उसमें केवल रसतत्त्व का मूल सूत्रमात्र आविष्कृत हुआ है । रस नित्य वस्तु है—आस्वाद्यमान न होने पर जब रसपद की सार्थकता नहीं है तब वह नित्य ही आस्वाद्यमान है । किन्तु आस्वादन करता है कौन ? जहाँ भोग्य नित्य है और भोग भी नित्य है, वहाँ भोक्ता भी अवश्य ही नित्य है यह सहज में ही जाना जा सकता है । इसलिए यह भोक्ता 'खण्ड मैं' नहीं है । जो मैं देश और काल से परिच्छिन्न है, मलिन सत्त्व से उपहित है, वह मैं नहीं, जो मैं देह से सम्बद्ध होने के कारण जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख के अधीन है वह मैं नहीं, जो मैं प्राकृतिक नियम की हथकड़ियों से बँधा है एवं अनादि कर्म संस्कारों के वशीभूत है वह मैं नहीं; किन्तु पूर्ण

अपरिच्छिन्न, निर्मल और नित्य मैं है। यह पूर्ण अहम् देश और काल के अतीत है, प्राकृतिक देह से रहित है, जागतिक नियमों के ऊपर स्वाधीन भाव से नित्य विराजमान है। इनके जन्म-मरण नहीं, सुख-दुःख नहीं तथा वासना-कामना नहीं हैं। यह पूर्ण मैं ही रस का आस्वादयिता है, भोक्ता है। किन्तु भोक्ता, भोग्य और भोग वस्तुतः एक ही पदार्थ है—रसस्फूर्ति के समय इनका पृथक् भान नहीं रहता। यदि रहे तो रस का स्फुरण नहीं हो सकता। "भोक्तैव भोगरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः।" पर जो भोक्ता, भोग्य आदि का प्रयोग किया जाता है, वह केवल अलौकिक त्रिपुटी के अनुरोध से किया जाता है। पानकरस के तुल्य भोक्ता आदि तीन पदार्थ अनेक होकर भी एकरूप हैं। इसलिए अभिनवगुप्ताचार्य का सारभूत सिद्धान्त यह है कि पूर्ण मैं ही निरन्तर अपना आप ही आस्वादन कर रहे हैं। यह आस्वादन अथवा चर्वण केवल शुद्ध ज्ञान-मात्र (Congnition) नहीं है—सांख्य के पुरुष जैसे प्रकृति का निर्लिप्त और उदासीन दृष्टि से पृथक् रूप से साक्षिभाव से दूर से अवलोकन-मात्र करते हैं[१] वैसा नहीं है—यह भावमय अनुभूति (Feeling) है। इसलिए रस जब भाव की गाढ़ और अभिव्यक्त अवस्था मात्र है तब वह शुष्क ज्ञानमात्र नहीं है, यह सुख से जाना जा सकता है, अर्थात् रसतत्त्व आनन्द रूप है, केवल चिदात्मक नहीं है।[२] इसीलिए आचार्य ने रसानुभूति को सविकल्प और निर्विकल्प इन दो विरुद्ध कोटियों से पृथक् बतलाया है, क्योंकि सविकल्प आदि भेद ज्ञानगत हैं, भावगत नहीं हैं।

रस ही आनन्द और रस ही प्रेम है। यह भगवान् की अंशभूत ह्लादिनी शक्ति का सारांश है। इसीलिए वैष्णवाचार्य गणों ने प्रेम को 'आनन्दचिन्मय रस' कहकर व्याख्या की है।

प्रेम का जो आलम्बन है, वह इस प्रेम से नित्य ही संलग्न है। रसस्फूर्ति के समय अलौकिक त्रिपुटी की सत्ता के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकेगा। आलम्बन आश्रय और विषय-भेद से दो प्रकार

---

१. प्रकृति पश्यति पुरुषः स्वस्थः प्रेक्षक वदुदासीनः।

२. केवल चिदात्मक नहीं। यह कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्योक्त कैवल्य रस पदवाच्य नहीं है। पुरुष चित्स्वरूप है—यह स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है। यह आनन्दात्मक अवस्था नहीं है। इसलिए वेदान्तिक और वैष्णवाचार्यगण इस अवस्था को परम पुरुषार्थ नहीं मानते। यहाँ भी वास्तव में आवरण की सत्ता है। जब यह आवरण हटेगा, जब चित्त्व आबाधित होगा, तभी आनन्द का प्रकाश होगा। क्योंकि आबाधित आत्मविश्रान्त चैतन्य ही आनन्द का स्वरूप है।

का है। यहाँ आश्रयालम्बन अथवा भोक्ता के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। किन्तु प्रेम का विषयालम्बन सौन्दर्य है। अर्थात् जो अच्छा लगता है अथवा जिसे हम प्यार करते हैं, वही सौन्दर्य है एवं यह भला लगना ही प्रेम है। अतएव मूलतः प्रेम और सौन्दर्य अभिन्न होने पर भी रस-स्फुरण की दृष्टि से दोनों नित्य सम्बद्ध हैं।

हम साधारण अवस्था में भी इस तत्त्व का थोड़ा परिचय पाते है। कवि ने कहा है—

भावेद अञ्जन माखि जे दिके पालटि आँखि
नेहारि जगत् एइ असीम सुन्दर।

अर्थात् हृदय में प्यार रहने पर चक्षु के उसी राग से रंजित होने पर सर्वत्र ही सौन्दर्य दिखलाई देता है, अन्वेषण कर उसे बाहर निकालना नहीं पड़ता। प्यार ही सौन्दर्य को प्रकट करता है। जिसको जो प्यार करता है, उसको इसीलिए वह सुन्दर देखे बिना रह नहीं सकता। इसीलिए स्नेहमयी जननी की दृष्टि में अपना काना बालक भी कमल-नयन मालूम पड़ता है। फिर, जहाँ सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है वहाँ प्रेम अपने-आप जाग उठता है। दोनों ही पक्ष बीज और अंकुर के तुल्य परस्पर सम्बद्ध हैं। रसानुभूति जब भोक्ता की ओर से स्फुरित होती है तब प्रथम पक्ष एवं जब भोग्य की ओर से जागती है तब द्वितीय पक्ष सार्थक समझा जाता है। यह अनुभूति किसकी किस ओर से कब जागती है, यह कहा नहीं जा सकता। वस्तुतः दोनों ही पक्ष समान रूप से सत्य हैं. अर्थात् प्रेम और सौन्दर्य दोनों में परस्पर व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। कौन पहले है और कौन बाद में है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

हम इन दोनों दिशाओं से विषय की थोड़ी आलोचना करेंगे। सभी देशों और सभी कालों में विद्वानों ने इस तत्त्व को स्वीकार किया है। शकुन्तला के—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्य्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदयानि॥

इस श्लोक में कालिदास ने इसी तत्त्व को इंगित किया है। रूप, रस, गन्ध आदि की रमणीयता कहने पर सौन्दर्य की ही प्रतीति होती है। कालिदास कहते हैं, इस सौन्दर्य के दर्शन से चित्त में प्रेम अथवा सौहृद की स्मृति जाग उठती है। भले ही वह स्मृति अस्पष्ट हो, भले ही अबुद्धिपूर्वक हो एवं भले ही वह प्यार 'भावस्थिर' हो, तथापि वह प्रेम की ही स्मृति है न। किन्तु जिनको अनुभव नहीं हुआ, उनको तो स्मरण होता नहीं, इसलिए मानना होगा कि हमने

सौन्दर्य को ही प्यार किया था। अन्यथा सौन्दर्य देखने पर प्रेम की स्मृति जागती नहीं।

सौन्दर्य और सुन्दर, प्रेम और प्रेमिक एक ही है। धर्म और धर्मी में स्वरूप-गत कोई भेद नहीं है। जो ज्ञाता है वही ज्ञान है, जो आनन्दमय है वही आनन्द है, जो चेतन है वही चैतन्य है, फिर विषय भी वही है।

फिर भी ज्ञानांश में बहुत्व का आरोप होता है, ज्ञाता एक ही रहता है। जैसे उपाधि के भेद से सौन्दर्य अनन्त होने पर भी सुन्दर एक ही है, वैसे ही उपाधि-भेद से प्रेम अनन्त होने पर भी प्रेमिक एक ही है, यह सत्य है।

प्रेमिक मानो 'मैं' हूँ और सुन्दर मानो 'तुम' हो। जगत् के जितने सौन्दर्य हैं सभी जब एक हैं तब एकमात्र अद्वितीय सुन्दर तुम हो। सभी प्रेम जब मूल में एक हैं, तब एकमात्र अद्वितीय प्रेमिक 'मैं' हूँ। तुम्हारा अनन्त सौन्दर्य, मेरा अनन्त प्रेम—प्रकार में अनन्त, काल में अनन्त, देश में अनन्त, वैचित्र्य में अनन्त—है, इसी से तुममें, मुझमें नित्य लीला है। अवश्य इस लीला की स्फूर्ति तब हो सकती है जब तुम और मैं दोनों स्वरूप में सजग रहें[1]।

इसलिए लीलाएँ अनन्त, धाम अनन्त और आस्वादन अनन्त हैं। इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य चिर पुरातन होकर भी प्रत्येक क्षण में रसिकों के निकट नित्य नूतन रूप में भासित होता है। 'जनम अवधि हम रूप निहारलु नयन न तिरपित भेल' देखकर भी देखने की आकांक्षा कभी निवृत्त नहीं होती।

प्रेम और सौन्दर्य जल-पिपासा और जल के साथ उपमेय हैं। सौन्दर्य को छोड़कर प्रेम का दूसरा कोई अवलम्बन नहीं है। श्रद्धा अथवा निष्ठा का एक-मात्र विषय जैसे सत्य है, ज्ञान का एकमात्र विषय जैसे मंगल अथवा निःश्रेयस है, प्रेम का एकमात्र विषय वैसे ही सौन्दर्य अथवा प्रेय है। यदि जगत् में जल नाम का कोई पदार्थ न रहता तो पिपासा भी न रहती। क्योंकि जल और पिपासा परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं, इसीलिए पिपासा की सत्ता ही जल की सत्ता को प्रमाणित करती है।

वस्तुतः पिपासा जल के अभाव को सूचित करती है अथवा सत्ता को सूचित करती है, यह यहाँ आलोचना का विषय नहीं है। प्यास विरह है, वह एक ओर जैसे मिलने की अस्पष्ट स्मृति की उद्दीपक है, दूसरी ओर वैसे ही मिलने

---

१. **नाना भक्ते रसामृत नाना विध हय।**
सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय॥
चै० चरितामृत, मध्य लीला, अष्टम परिच्छेद।

श्री भगवान् ही सब रसों के विषय और आश्रय हैं। इसीलिए वस्तुतः भक्त और भगवान् अभिन्न हैं। लीलारस के आस्वादन के लिए इस अभेद में रूपभेद जाग उठता है।

की संघटक भी है। पिपासा शब्द का अर्थ क्या है ? (क) 'मुझे जल चाहिए।' यह जो बोध है, उसमें जल क्या है यह हमारे स्मृतिपथ में उदित होता है। उस तरह स्मरण कर सकने पर इसी बोध से जल का आविर्भाव हो सकता है, यह सृष्टि रहस्य[1] है। एक हिसाब से स्पष्टता और अस्पष्टता के सिवा अनुभव और स्मृति में मूल में कोई भेद नहीं है। स्मृति वास्तव में अस्पष्ट अनुभव है और अनुभव स्पष्टीकृत स्मृति है। दोनों में कालगत भेद के सिवा और कोई भेद रह नहीं सकता। अतीत का आवरण हटाने पर वही वर्तमान है। वर्तमान में आरोप (आवरण) पहनाने पर वही अतीत है। कालिक भेद कल्पनाजनित है। जिस किसी वस्तु के सम्बन्ध में तीव्र इच्छा, व्याकुल आकांक्षा होने पर वह वस्तु स्पष्ट होती है अथवा अभिव्यक्त होती है। स्मृति का अवलम्बन किये बिना इच्छा का उदय होना सम्भव नहीं। इच्छा के उदय होने पर प्राप्ति अवश्यंभावी है। शीघ्र अथवा विलम्ब से यहाँ अथवा देशान्तर में प्राप्ति होगी, यह इच्छा की तीव्रता पर निर्भर है। उत्कट इच्छा होने पर देश और काल का कोई नियम नहीं रहता। इच्छा के साथ-ही-साथ उसकी पूर्णता सम्पादित होती है।

जहाँ पिपासा इस प्रकार तीव्र हो वहाँ जल तो पिपासा से अपने-आप प्रकट होगा। इसलिए वहाँ पिपासा जल की सत्ता की सूचक और आविष्कारक है। (ख) पक्षान्तर में पिपासा शब्द से कण्ठशुष्कता आदि-बोध के अवसान की कामना प्रतीत होती है। इस स्थल में जल-लाभ की आशा नहीं, क्योंकि यहाँ जल तो इच्छा का विषय नहीं है। जो इच्छा का विषय है वह है कण्ठशुष्कता की निवृत्ति। उसका बोध अस्पष्ट होने पर भी पिपासु को अवश्य ही है। शास्त्रीय भाषा में इसी का नाम दुःखनिवृत्ति अथवा शान्ति है। इस इच्छा से जल के बिना ही पिपासा की निवृत्ति होती है। इस जगह पिपासा जल के भाव अथवा अभाव किसी को सूचित नहीं करती।

हम जिसको अभाव कहते हैं, वह वस्तुतः आंशिक आवरण मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि में अभाव नाम का कोई पदार्थ नहीं है। जो अभाव का प्रतियोगी है, अभावज्ञान उसी की स्मृति से घटित है। इस स्मृति में भाव ही आलम्बन-स्वरूप है, इसलिए स्मृति की गाढ़ता से अर्थात् अभाव-बोध की तीव्रता से भाव का उदय होता है। यह योग विज्ञान का एक गूढ़ तत्त्व है। आम का अभाव-बोध आम की स्मृति के बिना जब नहीं होता एवं आम की स्मृति में जब

---

१. इसीलिए आगमिकगण स्मृति को सब सिद्धियों के प्रदान में समर्थ चिन्तामणि के साथ तुलना करते हैं एवं उसे मंत्र आदि की प्राणस्वरूप कहते हैं—"ध्यानादिभावं स्मृतिरेव लब्ध्वा चिन्तामणि स्त्वद्विभवं व्यनक्ति।"

सूक्ष्म रूप से ग्राम ही आलम्बन है, तब कहना पड़ेगा कि ग्राम के अभाव-बोध के मूल में भी ग्राम है। इसलिए तीव्र भाव से उस बोध के उत्पन्न होने पर वह सूक्ष्म या अव्यक्त ग्राम स्थूल रूप से, व्यावहारिक रूप से अभिव्यक्त होगा। अतएव ग्राम के अभाव के मानी हैं ग्राम का सूक्ष्म अस्तित्व, ऐकान्तिक अभाव नहीं। ऐकान्तिक अभाव प्रतियोगिनिरपेक्ष है, भाषा से उसका निर्देश नहीं हो सकता। चिन्ता राज्य में भी उसका स्थान नहीं है। हम जिस अभाव शब्द का प्रयोग करते हैं, वह सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर भाव रूप में परिगणित होता है, किन्तु वह व्यवहार-योग्य भाव नहीं है। हमने अभाव को जो आंशिक आवरण कहा है, अब वह समझ में आ सकेगा।

पिपासा के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं, प्रेम के सम्बन्ध में भी ठीक वे ही सब बातें लागू होती हैं। यह आलोचना 'खण्ड मैं' अथवा परिच्छिन्न अहंकार की ओर से ही की जा रही है, यह कहना अनावश्यक है। जो जिस प्रकार का प्रेम चाहता है, जो जिस विशिष्ट सौन्दर्य को विषय रूप से प्राप्त करने की कामना करता है, उसके लिए वह अवश्य ही है। प्रेम तीव्र होने पर ही वह सौन्दर्य प्रकाशित होगा। अनन्त सौन्दर्य का भण्डार अनन्त है। माँग मकने पर अर्थात् इस विषय का अनुसन्धान ठीक-ठीक होने पर भण्डार खोला जा सकता है। इसलिए नरोत्तमदास ने कहा है, रागमार्ग की साधना का विशेषत्व केवल आकांक्षा करना है —

"भावना करिवे जाहा सिद्ध देहे पावे ताहा।" यह अति सत्य बात है।

हमने पहले जो कहा है उसी से काम और सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी जाना जा सकेगा। संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार कामदेव और रति में प्राकृत सौन्दर्य-कल्पना का चरम उत्कर्ष हुआ है, ग्रीक साहित्य में भी उसी प्रकार है। 'कादम्बरी' में कुसुमायुध का 'त्रिभुवनाद्भुत रूप संभार' कहकर वर्णन किया गया है। केवल यही नहीं, काम 'रूपैक पक्षपाती' और 'नवयौवन सुलभ' कहा गया है। Venus, Aphrodite, Adonis, Eros आदि के रूप-वर्णन की आलोचना करने पर प्राचीन पाश्चात्य साहित्य में भी कामदेव के ही सौन्दर्य की कल्पना का उत्कर्ष हुआ है, यह विश्वास होता है। जिस किसी कारण से हो, सौन्दर्य काम का उद्दीपक है एवं काम सौन्दर्य का प्रकाशक है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। विद्वान् Renny de Gourmout ने अपने 'Culture des Idees' (१६००, पृ० १०३) ग्रन्थ में कहा है—"That which inclines to love seems beautiful; that which seems beautiful inclines to love. This intimate union of art and love is indeed the only explanation of art. × × × Art is the accomplice of love." अन्यान्य वैज्ञानिक पंडितों ने भी इस विषय पर बहुत गवेषणा की

है। पंडित सान्तायन (G. Santayan) ने अपने 'The Sense of Beauty' नामक ग्रन्थ में, ग्रोस (Gross) ने 'Der Aesthetische Genuss' नामक ग्रन्थ में, कलिन स्काट ने 'Sex and Art' प्रबन्ध में (American Journal of Psychology, सप्तम भाग, संख्या २, पृष्ठ २०६), स्ट्राज़ (Stratz) ने अपनी 'Die Schonheit des weiblichen korpos' नामक पुस्तक में इस विषय की विशेष चर्चा की है। सान्तायन ने स्पष्ट अक्षरों में यौन-आकर्षण (Sexual attraction) का सौन्दर्य-बोध (Aesthetic contemplation) के अंग रूप से उल्लेख किया है। इनके मतानुसार विशिष्ट (Specific) यौन भाव (Sexual emotion) भी सौन्दर्य ज्ञान के अन्तर्गत है। ग्रोस ने दिखलाया है कि यौन भाव और सौन्दर्य ज्ञान परस्पर सम्बद्ध हैं। कामशास्त्र में भी इस विषय की आलोचना है। कामत्व का स्फुरण हुए विना चेहरे का लावण्य खिलता नहीं, यह चिरप्रसिद्ध है।

वस्तुतः प्रेम और काम में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। एक ही रस दो रूपों से कहा जाता है। प्राचीन काल में दोनों नाम एक ही वस्तु के वाचक रूप से प्रसिद्ध थे।

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

श्रीकृष्ण का बीज मन्त्र कामबीज है और गायत्री कामगायत्री है। 'कामाद्गोपयः' यह बात बहुत प्रसिद्ध है। जगत् के आदि दम्पती कामेश्वर-कामेश्वरी हैं, यह आगम शास्त्र में प्रसिद्ध है। आदि रस शृंगार-कामात्मक है। इन सब स्थलों में काम शब्द से प्रेम ही समझना चाहिये।

साधारणतः व्यवहार में काम और प्रेम का जो भेद दीख पड़ता है, जिसका अवलम्बन कर चैतन्यचरितामृत में काम लोह और प्रेम सुवर्ण कहा गया है, उस भेद का कारण रस की शुद्धता या मलिनता है। बाहरी विषयों के उपराग से रस में मलिनता आती है। कविराज गोस्वामी ने कहा है कि आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा काम है और कृष्णेन्द्रिय प्रीति की इच्छा प्रेम है। इसमें भी वही तत्त्व प्रकटित हुआ है।

सारांश यह कि इस भेद को प्राचीन आचार्यगण भी जानते थे। गौडीय वैष्णवों ने स्पष्ट अक्षरों में कहा है—श्रीकृष्ण अप्राकृत मदन हैं और कामदेव प्राकृत मदन है। किन्तु मदन एक ही है। प्रकृति के ऊर्ध्व में अर्थात् रज और तम के सम्बन्ध से शून्य होने पर मदन श्रीकृष्ण हैं। ये 'कोटिकन्दर्प लावण्य', 'साक्षा-मन्मथ मन्मथ' हैं—ये ही आगम की ललिता अथवा 'सुन्दरी' हैं। महायोगी अथवा महाज्ञानी भी इस विश्वविमोहिनी महाशक्ति के कटाक्षपात से

विचलित हो उठते हैं।[1] कामदेव ने इन्हीं का कणमात्र सौन्दर्य पाकर त्रिभुवन को पागल बना रखा है। सौन्दर्य लहरीकार ने कहा है—

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजन सौभाग्य जननी
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनं ले ह्येन वपुषा
मुनी नामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥

सौन्दर्य एक ही है, वह अप्राकृत भाव से श्रीकृष्ण में और प्राकृत भाव मे कामदेव में है। अप्राकृत सौन्दर्य और अप्राकृत काम की समरसावस्था शुद्ध शृंगार है, प्राकृत सौन्दर्य और प्राकृत काम की साम्यावस्था मलिन शृंगार है। अतएव काम और सौन्दर्य रस स्फूर्ति-काल में नित्य मिलित रूप मे ही प्रकाशमान होते हैं।

एक महासौन्दर्य की ही अनन्त कलाएँ अनन्त खण्ड सौन्दर्य के रूप में नित्य प्रकाशमान होती हैं। ये सब शुद्ध कालातीत कलाएँ काल-शक्ति के आश्रयण से मलिन और विनश्वर रूप मे प्रकट होती है।

अव्याहृताः कलास्तस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादिषड् विकारात्म भाव भेदस्य योनयः॥

जगत् के सौदर्न्य को देखकर पूर्ण सौन्दर्य की स्मृति हृदय में जागने के कारण ही हृदय रो उठता है। एक भावुक कवि[2] ने इस प्रसंग में कहा है—

The youth sees the girl; it may be a chance face, a chance outline amidst the most banal surroundings. But it gives the cue. There is a memory, a confused reminiscence. The mortal figure without penetrates to the immortal figure within, and there rises into consciousness a shining forms glorious, not belonging to this world, but vibrating with the agelong life of humanity, and the memory of thousand love-dreams. The waking of this vision intoxicates the man; it glows and burns within him; a goddess (it may be Venus herself) stands in the sacred place of his temple; a sense of a westruck splendour fills

---

१. शृंगार रस राजमय मूर्तिधर। अतएव आत्मपर्यन्त सर्वचित्रहर॥ चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद। श्रीभगवान् अपने सौन्दर्य से स्वयं भी मोहित हो पड़ते हैं। ललितमाधव में लिखा है—अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः। अयम हमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव॥ पूर्ण सौन्दर्य का ऐसा ही आकर्षण है।

2. Edward Carpenter, 'The Art of Creation', p. 137.

him and the world is changed." देश और काल के बाहर इस पूर्ण सौन्दर्य का, साधारणतः और विशेषतः हमने आस्वादन किया है। उसी की पुनः प्राप्ति की आकांक्षा से ऐन्द्रियिक जगत् में हम विचरण कर रहे हैं। किन्तु यहाँ उसे पाने की सम्भावना नही है। यहाँ जो कुछ देखते है—जो सुनते है, मालूम पड़ता है सभी मानो परिचित हैं, अति परिचित हैं, फिर भी इस परिचय के ऊपर एक पर्दा पड़ गया है। इन्द्रियाँ केवल आंशिक रूप और क्षणिक रूप से उस पर्दे को हटा देती हैं तभी चिर-परिचित को 'यही है' यों चीना देती हैं।

जो संसार-सुख से सुखी है वे भी सौन्दर्य के मोहन कर-स्पर्श से व्याकुल हो उठते हैं, मानो किसी के विरह से व्याकुल और चंचल हों। वस्तुतः वे तब अनजाने में जन्मान्तर के सौहृद का स्मरण करते हैं। अनन्त प्रकार के अनन्त विशिष्ट भाव हृदय में स्थिर हैं। विभावादि के प्रभाव से उनमें से कोई-न-कोई अकस्मात् रस रूप मे जाग उठता है।

एक सौन्दर्य ही जब नाना सौन्दर्य है एवं वह मौलिक नाना सौन्दर्य ही जब जगत् में भिन्न-भिन्न सौन्दर्यों के रूप में प्रकाशमान है, तब जगत् सौन्दर्य-सार है यह जाना जा सकता है। सभी वस्तुएँ सुन्दर है, सभी रसमय हैं, किन्तु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय वह अनुभूत नहीं होता है। रस तब सुख और दुःख के रूप में और सौन्दर्य सुन्दर और कुत्सित के रूप मे विभक्त हो पड़ता है। काल का स्रोत वेग से बहता है एवं हम लोगों को बहा ले जाता है। तब श्रेय और प्रेय से विभाग होता है, नियम के जगत् में हम उतर पड़ते हैं, पाप और पुण्य का आविर्भाव होता है एवं राग और द्वेष की संभावना फूट उठती है।

जिस ओर ताकें उसी ओर यदि हम सौन्दर्य न देख पाएँ, जिसको देखें उसी को यदि प्यार न कर सकें, तो रस-साधना की सिद्धि नहीं हुई, यह जानना होगा। सौन्दर्य को खोजकर बाहर निकालना नहीं पड़ता, प्रेम का कोई हेतु नहीं। पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण प्रेम के साथ स्वाभाविक मिलन पुनः होने पर जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ ही स्वाभाविक मिलन फूट उठता है। योग प्रतिष्ठित होता है। तब कोई भी पर नहीं रहता तथा कुछ भी कुत्सित नहीं रहता। मनुष्य के जीवन में सौन्दर्य-साधना का यही यथार्थ परिणाम है।

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।

दक्षिण के आलवार सन्तों से अब तक इस देश मे भगवद्भक्ति का जितना सम्यक् एवं दिव्य विन्यास मीरा में हुआ है उतना कही भी नही। मीरा प्रीति-

मयी भक्ति की दिव्य रति की राजरानी है, कारण उसका जीवन उसकी साधना और उसका आत्मार्पण सर्वथा सहज रूप में इसके अनुरूप था—सम्भवतः क्या निश्चय ही राधाभाव को व्यक्त करने के लिए ही मीरा का इस धराधाम पर अवतार हुआ था ? अस्तु दिव्य गुणों से सम्पन्न परब्रह्म पुरषोत्तम श्रीकृष्ण से मिलन की चिर अभिलाषा अनादि काल से मानव-हृदय को आन्दोलित और उद्वेलित करती रही है। जीवात्मा से परमात्मा का वियोग स्वाभाविक वियोग है। जिस तरह प्यासे को जल की ज़रूरत है, उसी प्रकार भक्त को भगवद्-दर्शन की, उसके उस रूप-माधुर्य की दिव्य मनोहारी सुषमा की। वह माधुर्य तो कृष्ण के पुरुषोत्तम रूप में ही है, जिस मुरलीधर की मधुर मुरली की तान ने सिर्फ़ गोकुल की गोपियों के मन के तारों को ही नहीं झंकृत किया है, जर्रा-जर्रा को झकझोर दिया है। जिसकी लीला नित्य है, शाश्वत है और इसी नित्य लीला-लहरी की मधुरिमा मे प्रवेश पाना साधक जीवन की चरम परिणति एवं परितृप्ति है। जिस गोपाल कृष्ण की भक्ति की अविरल धारा दक्षिण और उत्तरपूर्व में प्रबल वेग से प्रवाहित हुई थी, उसकी उच्छल तरंगें, चंचल लहरें कहाँ नहीं पहुँचीं—कहाँ-कहाँ नही पहुँचीं ?—वैष्णव साधना की अकम्प लौ ने ही भक्तों के हृदय मे प्रीति की बाँसुरी टेरी है—उस अमर आह्वान के प्रति लोक-परलोक की सारी कामना को तिलांजलि देकर उस प्यारे के प्यार में अपने को सर्वथा खो देने के लिए।

भक्ति या प्रीति का यह मार्ग सर्वात्म समर्पण का है। इसकी प्रेम-साधना सरस और सुगम भी है। साथ ही कठिन और कठोर भी है। यही कारण है कि यह मार्ग सर्वसाधारण में अत्यधिक प्रचलित होकर लोकप्रिय हुआ। इसके ठीक विपरीत प्रज्ञात्मिका साधना की आश्रयस्थली वेदान्त और उपनिषद् है। प्रज्ञात्मिका के साधक गुरु-गम्भीर दर्शन को गहन तत्त्वज्ञान मान अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मानन्द की साधना में जुटे। रागात्मिका साधना काव्य-संगीत और भजन-कीर्तन के द्वारा भगवान् पुरुषोत्तम के साकार रूप को सहज ही स्पर्श करने लगी। इनके इष्ट दिव्य स्वरूप परब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, जिनका धाम ब्रज है और कृष्ण ही है जिनका व्यक्त रूप। भागवत पुराण में 'नवधाभक्ति' का निरूपण किया गया है—

श्रवणं कीर्तन विष्णो स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्थनं बन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्।

यही भक्ति के वे नौ सोपान है, साधन है, जो मानव-हृदय को अभय करते हैं, नैराश्य और अशंका से रहित करते हैं। इसी 'नवधाभक्ति' से अन्तः-करण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की शुद्धि ही तो वैधी भक्ति का

चरम लक्ष्य है—

अन्तःकरण शुद्धेश्य भक्तिर्परम साधनम् ।।

इस देश में ईश्वर की प्राप्ति के विविध प्रसिद्ध-प्रचलित पन्थ, साधन और मार्गों में कृष्ण-भक्ति मार्ग का इतिहास बहुत ही प्राचीन, हृदयग्राही और रोचक है। अन्य मार्गो और साधनों की अपेक्षा यह मार्ग अपने में एक ही है अनूठा—वेजोड़। इस पथ के पथिक को सांसारिक जीवन से दूर जाकर कही अन्यत्र भटकना नहीं पड़ता और न कोई वैसा बन्धन ही है, जिससे संसार से विमुख होकर सांसारिक वस्तुओं से मुँह मोड़ लेना पड़े। इस साधना के इष्ट हैं विष्णु के अवतार कृष्ण—"स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषं, अशेष कल्याण गुणैक राशिम्।" यही तो रूप है उनका, उस परब्रह्म का—हरि का।

भारतवर्ष की वैष्णव साधना के विषय मे ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, विष्णु-पुराण और भागवतपुराण मुख्य हैं। वह कृष्ण कही यशोदा मैया की गोद के नट-खट बालक हैं, तो कहीं कंस की छाती पर सवार भयंकर योद्धा। कहीं गोपियों के साथ प्रेमलीला करने वाले हैं, तो कहीं गूढ़ और कठिन धर्मतत्त्व के कुशल और प्रकाण्ड पंडित। कहीं यमुना के तीर खड़े होकर मुग्धकारी बाँसुरी बजाने वाले है, तो कहीं कुरुक्षेत्र में राजनीति के उपदेशक।

जिसने उसे जैसे देखा, उसने वैसे ही उसके माधुर्य को पाया। वह असीम अगोचर सत्ता भी है और साकारता की सरस सीमा में भी प्रादुर्भूत। उस तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न भले ही हों, लेकिन है वह एक ही—पूर्ण। शांडिल्य-प्रतिपादित भक्ति की मीमांसा के आधार पर भक्ति के पाँच प्रकार हैं—सौम्य, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्त। इन पाँच तरह की भक्ति में सनत्कुमार और नारद की भक्ति सौम्यरूपिणी भक्ति मानी गई है और दास्य भाव के प्रतीक एकनिष्ठ होकर स्वामी-सेवा में संलग्न हनुमान हैं। सख्यभाव की अनुरक्ति के प्रतीक हैं उद्धव, अर्जुन और ग्वाल-बाल। इनकी यह मित्रता लौकिक व्यावहारिकता के दायरे से बाहर नही आँकी जा सकती।

सोलहवी-सत्रहवीं शताब्दी में भक्ति का प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि क्या ईरान और क्या तूरान, क्या चीन और क्या जापान—ग्रीस और अरब के लोग भी आकृष्ट हुए और वे भारतीय भक्ति की पावन ज्ञानगंगा में स्नान करने, पी अघाने, तृप्त होने और अपने विकार धोने लगे। बौद्ध-धर्म की तरह शंकर का अद्वैत भले ही विश्वव्यापी नहीं हुआ हो, लेकिन शंकर के ब्रह्मवाद ने (अहं ब्रह्मास्मि) बौद्ध-धर्म को चुनौती दे दी और उनका ब्रह्मवाद प्रबल वेग से आगे बढ़कर क्या अयोध्या, क्या मिथिला, क्या विदर्भ और क्या मगध—तमाम में छा गया। अरब और ईरान के सूफी मतों पर भी ब्रह्मवाद का गहरा रंग चढ़ गया। बौद्ध-धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए दूतों का

भी प्रयोग किया गया था। लेकिन ब्रह्मवाद तो विद्युत्-गति से अपने-आप विश्व में फैल गया और उसके आगे भारतीय सम्राटों ने भी माथा टेक दिया।

लेकिन ब्रह्मवाद का सिद्धान्त लाख अपने-आप में पूर्ण रहा हो और विद्वानों के लिए उपयोगी भी, पर वह जन-साधारण के मन के तारों को झकझोर न सका। परमज्ञानोन्मुख ब्रह्मवाद मानव-चेतना को तृप्त न कर सका और मानव-चेतना अतृप्त ही रह जाती जब रामानुज द्वारा विशिष्टाद्वैत की स्थापना न होती। शंकर का वही ब्रह्मवाद रामानुज द्वारा विशिष्टाद्वैत का नया परिधान पहनकर सामने आया।

यामुनाचार्य ने भक्ति के चरम लक्ष्य को निर्धारित करते हुए कहा—'न धर्मतिष्टोऽस्मि'। इसका उद्देश्य है कि भक्ति के विविध सोपानों द्वारा भक्त भक्तिमार्ग पर बढ़े। लेकिन सबसे पहले निम्बार्काचार्य ने ही ईश्वर का वह विशिष्ट रूप भक्तों के सामने प्रस्तुत किया था, जो मानव-मन को दुर्बलताओं से ऊपर उठाकर उस परम तत्त्व के निकट पहुँचा दे।

इसी विशिष्ट रूपधारी ईश्वर की भक्ति भक्तों के लिए अमरता और वरदान है। जिसे वेदों ने 'नेति-नेति' कहा और 'बृहदारण्यक' ने जिसकी सत्ता को 'यतोवाचो निवर्त्तते अप्राप्य मनसा सह' कहा, ज्ञानमार्गियों ने उस अनन्त को प्राप्त करने के दावे को स्वीकार नहीं किया। किन्तु काश्यप तथा बादरायण के तमाम तर्कों को चुनौती देकर शांडिल्य, भागवतपुराण, विष्णुपुराण आदि ने उस अनादि अनामय को भक्तों के सामने नाच नचवाकर दिखला दिया। यों तो भक्तों और ज्ञानमार्गियों का द्वन्द्व और संघर्ष बहुत पुराना इतिहास-प्रसिद्ध है।

मानवता की सिद्धि की पराकाष्ठा भक्ति है। उस परम तत्त्व के प्रति अनुराग ही भक्ति है, जिस अनुराग का आधार प्रेम-तत्त्व है। ढाई अक्षर का बना हुआ यही वह अमोघ अस्त्र है, जिसके सहारे मनुष्य उस निराकार को साकार के रूप में पाता रहा है और उसके दर्शन से अघाता रहा है। इतना ही नहीं—दिल के किसी कोने में उसका दर्द भी मानव महसूस करता रहा है, उसकी पीड़ा के पीयूष से कहीं आप्यायित भी हुआ है और कहीं तड़प-तड़पकर उसका राज़ भी महसूस किया है। इस छोटे-से ढाई अक्षर की जाने कितनी मीमांसा हुई, लेकिन यह पूरी हुई है कभी और हो सकेगी कभी? कदाचित् नहीं। और, अक्खड़ निर्गुण उपासक कबीर ने भी कह दिया—"ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।" लेकिन इस ढाई अक्षर को क्या पढ़कर भी पढ़ पाता है कोई? उस रूप-सुधा-सरिता में सराबोर होकर भी प्यास बुझा पाता है कोई? तृप्त हो पाता कोई? कवि-कोकिल विद्यापति ने कहा—'जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।' पूर्ण तृप्ति कभी होनी नहीं।

हाँ, तो जीवन-व्यापार में प्रेम दो प्रकार के माने जाते हैं—शृंगारजन्य और वात्सल्यमूलक । ममत्व की प्रेरणा से प्रेरित प्रेम-क्रिया ही वात्सल्य-मूलक है और जो क्रिया शरीर से प्रारम्भ होकर मन, बुद्धि और आत्मा को स्पर्श करती है, वही शृंगारजन्य प्रेम-क्रिया है । इसमें प्रेमी ज्यों-ज्यों खोता जाएगा त्यों-त्यों उसमें निखार आता जाएगा और उसके प्रेम का रंग गाढ़ा होता जाएगा—हां, इसमे दृष्टि की विशुद्धता की अनिवार्यता है। ऐसा न होने पर प्रेमी उस असीमता की सात्विकता को खोकर तंगदिली का शिकार होकर रह जाएगा । इससे बचने के लिए शारीरिक सीमा से बचना पड़ता है, क्योंकि तमाम विकार शरीर से ही उत्पन्न होते हैं । यदि यह आकर्षण शरीर तक ही सीमित रह जाए ; मन, बुद्धि और आत्मा तक पहुँच न पाए, तो प्रेम का वह सात्त्विक रूप वासना की विभीषिका में बदल जाए और सिर्फ़ मन और बुद्धि तक ही आकर्षण रह गया, तब भी प्रेम की विशुद्ध अपार सत्ता मोहपाश में बँधकर रह जाएगी—बस, आत्मा की पहुँच ही दृष्टि-कोण की विशुद्धता और प्रेम की पराकाष्ठा है ।

प्रेम-विशेष को ही 'अनुराग' कहते हैं—और यही अनुराग भक्ति की संज्ञा को प्राप्त करता है ईश्वरोन्मुख होकर । यह स्नेहजन्य अनुराग सम्भव तो बस तीन ही तरह से है—सामान्य, उत्कृष्ट और निकृष्ट । सामान्य स्नेहानुराग तो एक स्तर के दो प्राणियों के साथ हो सकता है । इसे ही मैत्री या सख्य कह सकते हैं । निकृष्ट अर्थात् अपने से छोटे के प्रति स्नेहानुराग, जो दया के कारण ही होता है । उत्कृष्ट अर्थात् अपने से बड़ों के प्रति स्नेह है—भक्ति । अभीष्ट सिद्धि के लिए अन्य मार्गों में जहाँ विविध साधनों की आवश्यकता बतलाई गई है वहाँ भक्ति-मार्ग मे निष्काम भक्ति अर्थात् 'पराभक्ति' का निर्देश किया गया है और रति और अनुराग की प्रेम-साधना का भी पथ बतलाया गया है । अपने स्वभाव से प्रेमाधारित होने के कारण इस मार्ग द्वारा परमानन्द की अनुभूति और उपलब्धि जिस सीमा तक सम्भव माधुर्यभाव से हो सकती है, उतनी अन्य किसी मार्ग या साधन से नहीं । इसलिए इस मार्ग में विद्वानों ने माधुर्यभाव को ही श्रेष्ठ माना है ।

जिस छलिया को, जिस मदनमोहन-मनमोहन को ध्रुव, प्रह्लाद ने अपने वश में किया; उसी को वश में करने के लिए भक्ति की तीनों धाराएँ एक ही समय में भारत में प्रवाहित हुईं । प्रथम तो वही ज्ञानयोग की धारा, जिसमे हठयोग के मनीषियों, कबीर आदि संतों ने ईश्वर की अद्वैतता की सर्वोपांग साधना की । दूसरी प्रेमानुबन्ध धारा, जिसमें जायसी, कुतुबन, मंझन आदि कवियों ने स्नान करके अपनी अनमोल प्रेमगाथाओं की रचना कर हिन्दी-साहित्य का भण्डार तो भरा ही, संसार के साहित्य में भी गौरव प्राप्त किया । तीसरी

भक्तिभाव की धारा, जिसमें परमात्मा को सखा, स्वामी, कांत आदि मानकर नवधाभक्ति के साधनों द्वारा सूर, तुलसी आदि कवियों ने निमज्जन किया और मीराबाई ने डुबकी लगाकर वह ज्योति जलाई कि उसके प्रकाश मे सारा भारतवर्ष प्रकाशित हो उठा और जगमगा उठा। और-तो-और, इसी भक्ति-भाव की धारा में शराबोर हो गए पूर्व बंगाल के चैतन्यदेव और छा गया जिनका प्रभाव उत्कल से ब्रजमण्डल तक। गुजराती भक्त नरसी मेहता ने भी इसी भक्तिभाव के माधुर्य से अपना जीवन धन्य किया।

इसी मध्यकालीन युग, अर्थात् चौदहवी, पन्द्रहवीं और सोलहवी शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति से उत्तर भारत एक से दूसरे सिरे तक प्रभावित हो उठा था और भगवद्-भजन की महिमा से लोट-पोट हो रहा था। उस समय के आचार्यों ने समाज और जाति के हर स्तर के लोगों को उचित स्थान ही नहीं दिया—अपनी शिष्यता में भी सम्मिलित किया। रामानन्दजी की वह वाणी—

जाति पाँति पूछे नहीं कोई।
हरि कूँ भजै सो हरि कूँ होई।।

आज भी हर हृदय मे अंकित है और चैतन्य ने भी कहा था—

ईश्वरस्य कृपा जाति कुल न मेने।

अतः आचार्यो का अत्यन्त सरल और सुगम उपदेश जन-साधारण तक बहुत ही आसानी से पहुँच गया। उन्होंने जनता के सामने ईश्वर का जो स्वरूप रखा, वह बहुत ही मुग्धकारी और मनोहारी था। उनके निर्धारित इष्टदेव के स्वरूप विष्णु के अवतार राम और कृष्ण ही थे। वाणी मूक हो जाती है भक्ति-रस के उद्रेक मे और रोम-रोम में रोमांच होने लगते हैं आनन्दातिरेक से। विक्षिप्तावस्था में कभी अश्रुधारा फूट निकलती है तो कभी हँसी की लहर। भक्त कभी समाधिस्थ होता है और कभी संज्ञाविहीन। उस मदनमोहन मुरलीधर कृष्ण की मनोहारी मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित करने से भक्त के जीवन में भक्ति का संचार होता है। श्रीकृष्ण के भजन, कीर्तन और गुणगान तथा भक्तों के अंग-स्पर्श, सत्संग एवं प्रेमपूर्ण सेवा मे जीवन-पर्यन्त रत रहकर उसके महान् चरित के श्रवण से भक्त भव-बन्धनों से मुक्त होकर उस सच्चिदानन्द स्वरूप में लय हो जाता है सदा-सर्वदा के लिए।

इस नवीन धार्मिक आन्दोलन ने राजस्थान के लौह-हृदय वीर-बाँकुरा योद्धा राजपूतों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। उनके हृदय मे दया और करुणा ने नई वीर-भावना का रूप धारण किया और वे अपना सर्वस्व समर्पण कर कृष्ण-भक्ति में लीन हो गए, यहाँ तक कि मेवाड़ राजघराने के एकलिंग शिव के उपासकों ने भी इस नये धर्म की मर्यादा के सामने माथा टेक दिया। राणा मोथल का चित्तौड़ में द्वारिका नायक का भव्य और दिव्य मन्दिर बनवाना

जिसका प्रमाण है और उनके पुत्र राणा कुम्भा (१४३०-'६८ ई०) इस सम्प्रदाय में सम्मिलित ही नहीं हुए, इससे उन्होंने दीक्षा भी ली और जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के सरस गीतों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसकी टीका भी लिखी, जिसका नाम है 'रसिक प्रिया'। दामोदर का मन्दिर राणा रायमल ने कुम्भलमेर दुर्ग के भीतर १४९८ मे बनवाया था और यह बात भी बहुत प्रसिद्ध है कि जोधपुर के राजगुरु रामानन्द के प्रथम शिष्य अनन्तानन्द थे।

इसी नवीन धार्मिक आन्दोलन की क्रान्ति की तीव्रता ने रागानुगामिनी प्रेमोन्मादिनी, दर्द-दीवानी मीराबाई को राजस्थान की गोद में जन्म दिया था, जिसकी प्रीतिदग्ध प्रणयाकुल आत्मा की वेदना युग-युग की—घर-घर की वेदना बनी हुई है और जिसमें मीराबाई ने यह प्रमाणित कर दिया कि उस कृष्ण-कन्हाई की मधुराई पर सर्वस्व समर्पण करना ही प्रेम के प्राण को अभि-सिंचित कर रखना है। अपने प्रियतम गिरिधर गोपाल के लिए मीरा के हृदय में जो आग सुलगी, वह स्फुलिंग बनकर उनके गीतों की कड़ियाँ निकलीं।

इष्ट दर्शन की ऐसी तीव्र जिज्ञासा, तीव्रतम लालसा, उत्कृष्ट कामना किसी अन्य कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कसकती पिपासा उनके रोम-रोम में होती कैसे नहीं—

पूर्व जनम की प्रीति हमारी अब नहीं जाति निवारी।
सुन्दर बदन जोवते सजनी प्रीति भई छै भारी।।

मीरा का प्यार कुछ नया नहीं, वह तो पूर्व जन्म का प्यार है। वह कैसा निष्ठुर है कि कभी-कभी अपनी प्रेयसी मीरा को भूल जाता है, लेकिन मीरा उसे एक क्षण के लिए भी नहीं भूलती। तभी तो कहती है—

छोड़ गया विश्वास संघाती प्रेम की बाती बराय।
बिरह समुंद में छोड़ गया हो, नेह की नाव चलाय।

ऐसा छलिया है उसका प्रियतम। वह जानती ही क्या थी आखिर और जानकर भी उस परम रूपमय के प्रेमपाश से अपने को कैसे मुक्त रखती? कैसे वंचित होती उस छलिया की बाँसुरी के जादू से? कैसे बचाती अपने को उसके रूपजाल से? आवेश में कहीं पर यह भी कह जाती है—

जो मैं ऐसा जानती रे प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती रे प्रीत न करियो कोय।।

लेकिन यह कहते हुए भी तो उस चित्तचोर को नहीं भूलती।

जब से तुम बिछुरे प्रभु मेरे कबहूँ न पायो चैन।

० ० ०

निरखन को मोहि चाव धनेरो
कब देखूँ मुख तेरा।

और, कभी अपने प्रियतम के आने की आहट पाकर कहती है—

आवत मोरी गलियन में गिरिधारी।

कितनी आशा और कितना बड़ा विश्वास है उसके इस कथन मे! इतना ही नहीं, वह लज्जा का भी अनुभव करती है :—

मैं तो छुप गई लाज की मारी।

तरह-तरह से वह अपने प्रियतम के आने का अनुभव करती है। जिसका प्रियतम भी विचित्र है, कोई कहे तो कैसे कहे कि उसका प्रियतम किस-किस रूप में उसको तड़पा-तड़पाकर आता है और किस-किस प्रकार उसके आने का सन्देश उसे मिलता रहता है। कभी तो सावन के बादलों को देखकर एक स्थल पर कहती है—

झुक आई बदरिया सावन की,
सावन की मनभावन की।

० ० ०

सावन में उमग्यो मेरा मनवा,
भनक सुनी हरि आवन की।

किसी-किसी स्थल पर तो मीरा के हृदय-राज्य मे विरह-वेदना का नामो-निशान नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि वह कहती है—

औरों के प्रिय परदेश बसत हैं
लिख - लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हृदय बसत है
गूंज करूं दिन - राती।।

जल में कुम्भ और कुम्भ में जल की तरह वह स्वयं ही स्वयं में प्रियतम के होने का अनुभव करती है और कहीं-कहीं तो प्रियतम का ऐसा साक्षात्कार होता है कि लगता है जैसे उसके युग-युग की साध पूरी हो गई—

सहेलिया साजन घर आया हो।
बहोत दिना की जोवती, बिरहिणि पिव आया हो।

मीरा के काव्य मे जिस प्रकार प्रेम-विह्वलता, तन्मयता और प्रिय-चिन्तन है, उसी प्रकार परकीया होने के नाते उसमे तीव्रता और प्रांजलता भी है। जब उसका प्रियतम उससे दूर होता है, तो उसके वियोग में वह रोती है, कलपती है, बिलबिलाती है और तड़पती है। मालूम पड़ता है अपने प्राणो के प्राण, जीवन के जीवन, हृदय के हृदय के बिना वह एक क्षण के लिए भी जी नहीं सकती—

तुम हो मेरे प्राण जी कासूं जीवन होय।

और, लम्बी प्रतीक्षा की आँच सहने के बाद जब उसका प्रियतम आता है, तो उसे अपनी मज्जागत मर्यादा का ख़याल हो आता और वह कहती है—

मैं हूँ नारि पराये घर की
रीति छाड़ि अनरीत करो ना
० ० ०
छाँड़ो लंगर मोरी बहियाँ गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की
मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ॥

मीरा के काव्य में मिलन-विरह का अद्भुत सम्मिश्रण और विचित्र प्रक्रिया है। अतः यह कह देने में कोई झिझक नहीं कि मीरा के गीत केवल हिन्दी-साहित्य की ही नहीं, विश्व-काव्य की अक्षय-निधि हैं। उसके शब्द-शब्द अमृत से भी मधुर हैं। उसके रसीले गीतों की स्वर-लहरी ने यदि उत्तर भारत के लोगों को वशीभूत कर लिया तो आश्चर्य क्या है ?

मीरा के गीतों की भावमाधुरी की मीमांसा हम बाद में करेंगे। यहाँ हम यह जान लें कि यह मीरा कौन थी, जो संसार को ऐसी मोहकता दे गई। मीरा के जीवनवृत्त के बारे में हमारे विद्वानों में मतैक्य नहीं है, इसलिए मीरा का परिचय सीधे दिया जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राचीन या मध्यकालीन कवि-लेखक इतने उदार होते थे कि वे अपने बारे में कहीं कुछ भूलकर भी लिखना अनावश्यक समझते थे। भक्त कवियों ने यों तो अपने से सम्बन्धित पद नहीं के बराबर ही लिखे हैं, फिर भी उनकी पक्तियों में उनके समय की धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना किसी-किसी स्थल पर व्यक्त हो ही गई है, फिर भी जिनके पदों मे भाव-तल्लीनता का बाहुल्य है, उनमे बाह्य प्रभावों की छाया बहुत कम आ पाई है। मीरा का नारी-हृदय अपने प्राणवल्लभ में इतना रम गया था कि बाहरी प्रभाव के लिए उसमें अवकाश ही नहीं था।

मीराबाई की जन्मतिथि को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान् तो जोधपुर मेड़ता के राठौर घराने में उनका जन्म और मेवाड़ सिसौदिया वंश में उनका ब्याह मानते है। कर्नल टाड के आधार पर वह दूदा की पुत्री और जोधा की पौत्री हैं, जिनका काल लगभग १४५३-८९ ई० है और किसी विद्वान् ने उन्हें दूदा के पुत्र रतनसिंह की पुत्री माना है और शायद इसी के आधार पर ग्रियर्सन ने मीराबाई को पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में कविकोकिल विद्यापति का ही समकालीन मान लिया है। इस तरह उनकी जन्मतिथि के विषय मे भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इसलिए नाभादासजी के 'भक्तमाल' के आधार पर मेकांलिफ़ ने जो वार्ता लिखी है, उसमें वर्णित मीरा की जन्मतिथि कुछ युक्तियुक्त लगती है। उसके आधार पर मीरा की जन्मतिथि १५०४ ई० है और इनके पिता मेड़तावाले रतनसिंह थे। राणा सागा के पुत्र कुँवर भोजराज के साथ मीराबाई का विवाह हुआ था और यह सिद्ध

हो चुका है कि इनके दादा दूदा १५१५ ई० तक ही जीवित थे। उनके पिता रत्नसिंह के बड़े भाई वीरमदेव का जन्म १४७७ ई० में हुआ माना है, जो शाहशाह बाबर के विरुद्ध कनवा के मैदान-जंग मे १५२७ ई० में लड़ते-लड़ते मारे गए थे और इनके पिता रत्नसिंह भी उसी लड़ाई मे वीरगति को प्राप्त हुए।

यों तो बंगाली विद्वान् जन्मयोगिनी मीरा को सोलहवीं शताब्दी में ही मानते है और मुंशी देवीप्रसाद, कवि श्यामलदास, हर विलास, शारदा, गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा, जगदीशसिह गहलौत और नरोत्तमदास स्वामी तथा विशेश्वर-नाथ रेऊ ने भी मीरा के जन्म के बारे में अपनी-अपनी खोज के आधार पर लिखा है, अर्थात् १५०३ और १५८८ के बीच ही विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार मीरा के जन्म का अनुमान लगाया है। मेकांलिफ़ के आधार पर मीरा की जन्मतिथि १५०४ ही मानना एक हद तक सही है।

अब हमें यह देखना है कि मीरा को वह कृष्ण-भक्ति की सहज अनुभूति की विभूति मिली कहाँ से ?

लोक-लाज कुल काण जगत की
दई बहाय जस पाणी ।

जिसका प्रियतम जिसके प्राणों का प्राण है, उसको लोक और परलोक के सुख-दुःख मे क्या प्रयोजन !

प्राण पिया सखि हमारि पिया ।

वह तो सदा अमरलोक मे वास करनेवाली अमरत्व की साक्षात् देवी है—

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर
अमरलोक में रहणां ।

उसे सांसारिक यातनाओं का ग़म नहीं, प्रकोपों की परवाह नही और जो सदा अनहद नाद सुनती रहती है, उसे किसी के कुछ कहने-न कहने की क्या चिन्ता ! लौकिक सुख और दुःख की पहुँच तो वहाँ तक नहीं हो सकती—

बिन करताल पखावज बाजे
अनहद की झनकार रे ।

इतना ही नही, वह तो 'पचरंग चोली' पहनकर झिरमिट मे खेलने जाती है—झिरमिट अर्थात् वह झुरमुट जहाँ केवल वही होती है और वहाँ जब उसका प्रियतम आता है तो अंगों के वसन खोल उसमे लिपट भी जाती है—

मैं गिरिधर संग राती ।
पचरंग चोला पहर सखी मैं
झिरमित खेलन जाती ।
ओटि झिरमित मां मिल्यो साँवरो,
खोल मिली तन गाती ।

'गिरिधर गोपाल', 'गिरिधर नागर' ही जिसके इष्टदेव हैं, इसी 'गिरिधर नागर' कृष्ण को वह कई नामों से---जसुमति को लाल, जदुनाथ, बलवीर, सम्बोधित करती है और उनका सगुण रूप में स्मरण करती हुई उन्हें जन्म-जन्म का साथी मानकर 'म्हारो भरतार' के साथ कहीं-कहीं पर स्वकीया पत्नी होने का भी दावा करती है। 'वर', 'साजन', 'सैयां' 'धणी', 'पीव', 'भवनपति', 'बलिमा' आदि और 'बाँह गहे की लाज' की दुहाई देती हुई पूर्वजन्म के वायदे को भी याद दिलाती है---

मीरा कूँ प्रभू दरसण दीज्यो,
पूरब जन्म को कोल ।

कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के माधुर्य-भाव की भक्ति की प्रेरणा उन्हें बचपन से ही मिलती रही। उनके माता-पिता भी कृष्ण-भक्त थे और माता-पिता ने ही उन्हे कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया था और बताया था कि 'कृष्ण ही तुम्हारे वर हैं।' और उनके पितामह राव दूदाजी क्षत्रियकुल-भूषण होते हुए भी सुप्रसिद्ध वैष्णव कवि माने जाते हैं। माता भी वैष्णव भक्तों के कुल की थीं। उनके घर का वातावरण ही कृष्ण-भक्ति के रंग में रंगा हुआ था। पूर्व सांस्कारिक प्रेरणा के अनुकूल वातावरण में मीरा फूली-फली और पनपी। ऐसा भी कहा जाता है कि गिरिधर गोपाल की मूर्ति बाल्यकाल में पिता के घर में ही किसी साधु ने मीराबाई को दे दी थी। वह साधु कौन था? रैदास या और कोई?···निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। लेकिन, मीराबाई उस प्रतिमा को हरदम साथ रखती और उसकी पूजा करती—इतना तक कि ब्याह हो जाने के बाद वह ससुराल भी उस प्रतिमा को साथ लेती गई और मीरा से सम्बन्धित एक ताम्रपत्र के आधार पर बताते हैं कि बाल्यकाल में मीराबाई ने वेद, पुराण और उपनिषदादि की शिक्षा अपने पुरोहित गजाधर से पाई थी। विवाह हो जाने पर गजाधर को भी अपने साथ ससुराल (चित्तौड) ले गई। वहाँ उनको मुरलीधर के मन्दिर की पूजा का भार एक हजार बीघा जमीन दान देकर सौंप दिया, जो आज भी गजाधर के वंशज के जिम्मे पाई जाती है।

प्रेम-साधना में रत मीराबाई के पदों में कई भाषाओं का सफल प्रयोग पाया जाता है, जैसे पूर्वी हिन्दी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, फारसी और उर्दू और खासकर खड़ी बोली का प्रयोग खूब कूटकर किया पाया जाता है—" 'प्रेम की कटारी है', 'मनवारी है', 'प्रीति प्यारी है', 'दासी तुम्हारी है', 'भाग हमारा जागा', 'सोना में सुहागा', 'पूर्व-जनम के भाग', 'हो गया अचल सुहाग', 'सबका मैं बोल सहूँ', 'दुरजन जलो या अँगीठी', 'सूरत की कछनी काछूँगी', 'भजन भाव में मस्त डोलती', 'एही भगत की रीति', 'गैल बता जा', 'अपने हाथ जला जा', 'अंग लगा जा', 'जोत मे जोत मिला जा',

'सब हमारे हाथ है', 'देस-विदेस संदेस न पहुँचै', 'जनम-जनम की चेली', 'क्या देखूँ मुख तेरा', आदि-आदि। इसी प्रकार खुलकर फारसी के शब्दों का भी प्रयोग उनके पदों में पाया जाता है और खड़ी बोली का प्रयोग मीरा के पहले सूफ़ियों, संतों, योगियों ने किया है—विशेष रूप से रैदास, कबीर और खुसरो ने। यों तो आठवीं शताब्दी से ही खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था। मीरा का अधिकार संस्कृत भाषा पर भी था, इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने संस्कृत-शास्त्रों का अवश्य अध्ययन किया होगा। 'राग गोविन्द' और 'नरसीजी का मायरा' मीरा की ही कृतियाँ मानी गई हैं। प्रचलित उपाख्यान और किवंदन्तियों के आधार पर कहा जाता है कि जयदेव के 'गीत गोविन्द' की भी टीका मीराबाई ने की थी।

मीरा ने जिस रसीली भक्ति की याचना की है, उसका रूप है—

मैं तो सांवरो के रंग राँची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू,
लोक-लाज तजि नाची॥
नई कुमति लई साधु की संगति
भगत रूप भई साँची।
गाय गाय हरि के गुण निस दिन
काल ब्याल सूं बाँची॥
उण बिन सब जग खारो लागत
और बात सब काँची।
मीराँ श्री गिरधरनलाल सूं
भगति रसीली जाँची॥

० ० ०

भगति देखि राजी हुई, जगति देखि रोई।

और, यही कारण था कि मीरा सांसारिक विलास, ऐश्वर्य, सुख, वैभव छोड़ सदा रणछोड़ की भक्ति के रंग में रंगी हुई रहती थीं। साधु-सन्तों की सेवा में इतनी तल्लीन रहती थीं कि उसे लोक-लाज और कुल-मर्यादा का कुछ भी ख़याल नहीं रहा। सन्त-भक्तों को अपने हाथों भोजन बनाकर खिलाती-पिलाती और उनकी सुख-सुविधा का सदा ध्यान रखती। भक्त हरिदास के मीरा के सम्बन्ध में लिखे हुए निम्नांकित पद में भी इन्हीं भावों की अभिव्यंजना है—

एक राणी चित्तौड़ की,
मेड़तणी निज भगति कुमावै भोजराई जी का जोड़ा की।
हिमरू मिसरू साल दुसाला बैठण गादी मोड़ा की।

असा सुख छाड़ि भयी बैरागिणी सादी नरपति जोड़ा की ।
साइण बाइण रथ पालकी कभी हसती घोड़ा की ।
सब सुख छाड़ि छनक में चलती लाली लगाई रण छोड़ा की ।
ताल बजावै गोबिन्द गुण गावे लाज तजी बड़ ल्होड़ा की ।
निरति करै नीका होई नाचै भगति कुमावै बाई चौड़ा की ।
नवां नवां भोजन भाँति-भाँति का करिहैं सार रेणाड़ा की ।
करि करि भोजन साध जिमावै भाजी करत गिदोड़ा की ।
मन धन सिर सांधा के अरपण प्रीति नहीं मा थोड़ा की ।
'हरिदास' मीरां बड़ भागाणे सब राण्यों सिर मोड़ा की ।

इस प्रकार करताल-पखावज बजा-बजाकर वह रणछोड़जी के मन्दिर में भजन-कीर्तन करती और उसका तो साफ़ ऐलान था—

मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई हो नाथ दूसरा न कोई ।
साधुन संग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई ।
यह तो बात फूट गई जानत सब कोई ।
अँसुअन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई ।
यह तो बेल फैल गई इमृत फल होई ।
आई थी भगत जान जगत देख रोई !
लोग कुटुम्ब भाई बन्द संग नहीं कोई ।।

रतनसिंह की इकलौनी बेटी मीरा की माँ मीरा को बचपन की गोद में ही छोड़कर चल बसी थी । रतनसिंह को अपनी इकलौती बेटी मीराबाई से बड़ी उम्मीद थी कि वह चित्तौड़ की महारानी बनेगी, लेकिन यह क्या—मीरा की तरुणावस्था में ही उसका पति भोजराज काल-कवलित हो गया । मीरा ने अपने को प्राणपति कृष्ण की गोद में पाया । वह कहती है—

ऐसे वर को के बरूँ जो जनमे औ मरि जाय
वर बरियो एक साँवरो मेरो चूड़लो अमर होइ जाय ।

फिर कहती है—

म्हारो साँवरो ब्रजवासी ।
जग सुहाग मिथ्या री सजनी,
होवाँ हो मिटज्यासी ।

और, जिसको उस अविनाशी ने ही अपना बना लिया है और जिसका प्रियतम सदा हृदय में ही वास करता हो, उसे दुःख कैसा !

"बरन करयां अविनाशी म्हारो ।
काड़ ब्याड़ णा खाशी ।

म्हारो प्रीतिम हिरदां बशतां
दरस लह्यां शुख राशी ।
मीरां रे प्रभु हरि अविनाशी ।
सरण गह्यां थे दाशी ।

उस विशिष्ट काव्य-मर्मज्ञा मीरा के गीतों में कुछ ऐसे भी शब्दों के प्रयोग पाए जाते है, जिससे लगता है कि वह 'शब्दयोग' की भी साधना कर चुकी थीं। जैसे—'निज नाम', 'सुमिरन', 'अमर रस', 'निरत', 'सुरता', 'सुरत' अर्थात् उस परम तत्त्व का बार-बार स्मरण और 'सुरत की कछनी काछती', जैसा प्रयोग जीवात्मा के लिए भी किया है। 'निरति', 'सुरत' वह अवस्था है, जो जीवात्मा स्वयं परमात्म रूप हो जाता है तथा 'ग्यान की गुटकी' गुटकी आदि का व्यवहार कर उन्होंने आत्म-ज्ञान की ओर भी अपनी अभिव्यक्ति द्वारा संकेत किया है। इस प्रकार लगता है कि सन्तों ने जिस नैतिक आचरण के लिएप्रयोग कर सर्वसाधारण के समक्ष रखा है, उसी सदाचरण को स्त्रियोचित श्रृंगार व्यवहार के निखार के लिए मीरा ने 'सीलबरत' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है।

मीरा के काव्य में निर्गुणिये सन्तों का प्रभाव यत्र-तत्र स्पष्ट है—

सतगुर भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो ।

या—

भर मारी रे बाना मेरे सतगुर बिरह लगाए के ।

और—

री मेरे पार निकस गया, सतगुर मारया तीर ।

तथा—

सतगुर मिलिया सुँज पिछानी, ऐसा ब्रह्म मैं पाती,
सगुरा सुरा अमृत पीवें, निगुरा प्यासा जाती ।

कुछ विद्वानों का मत हैं कि मीरा वल्लभ या विष्णु स्वामी के वैष्णव सम्प्रदाय की अनुगामिनी थी—ऐसा मान लेना युक्तियुक्त नही लगता। मीरा के पदों में कहीं-कहीं ऐसा भी वर्णन है, जिससे अनेक साधक कवियों से मीरा की तुलना की जा सकती है। बंगाल के वैष्णव कवि के साथ भी, जैसा कि चण्डीदास लिखते है—

सखि रे मथुरा मण्डले पिया ।
असि-असि बलि पुनि न आसिल
कुलिष - पाषाण हिया ।
आसिवार आसे लिखिनु दिवसे
खोयाइनु नखेर छन्द ।
उठिते बसिते पथ निरखिते
दु आँखि हइल अन्ध ।

मीराबाई कहती है—

आऊँ-आऊँ कर गया साँवरा, कर गया कौल अनेक।
गिनते गिनते घिस गई उँगली, घिस गई उँगली की रेख।

० ० ०

आवन कह गए अजहूँ न आए, दिवसे रहे अब थोरी।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे, अरज करूँ कर जोरी।।

० ० ०

अजहूँ न आये मुरारी।
गिनताँ गिनताँ घिस गई रेखा आँगुरियाँ की सारी।

अब गोविन्ददास और मीरा के भावों का मेलजोल देखिए—

परान पिया सखि हामारि पिया।
अबहुँ न आउल कुलिश हिया।।
नटवर खो आलु दिवस लिखि-लिखि।
नयन अंधायलु पिया-पथ देखि।

मीरा कहती है—

जब से मोहि नन्द नन्दन दृष्टि पड़यो भाई।
तब से परलोक लोक कछुना सोहाई।

अब ज्ञानदास का पद देखिए। राधा अपने प्रियतम के वियोग में क्या कहती है—

मुड़ाब माथार केश धरबि योगिनी वेश।
यदि सोई पिया न आइल।
एहेन जौबन परश रतन।
काचेर समान मेल।
गेरुआ बसन अंगुते परिब।
शंखेर कुण्डल परि।
जोगिनीर वेशे जाब सेई देशे।
जेखाने निठुर हरि।

और; मीरा—

जोगिन हुई जंगल सब टेरूँ तेरा न पाया भेस।
तेरी सूरत के कारणे धर लिया भगवा भेस।

एक और स्थल पर देखिए—

जा तन ऊपर भसम रमाऊँ, खोर करूँ सिर केस।
भगवा भेख धरूँ तुम कारण, ढूँढलि च्यारू देस।

अपने-अपने प्राण प्यारे के लिए दोनों का दर्द एक होते हुए भी दोनों में वैसी समानता नहीं कही जा सकती, क्योंकि मीरा का दर्द अपना है और ज्ञानदास ने राधा के माध्यम से उस दर्द को व्यक्त किया है।

रागानुगामिनी साधिका मीरा के पदों में स्थल-स्थल पर सन्तों की तरह सहज प्रेम की साधना पाई जाती है। एक स्थल पर देखिए—

नित नहान से हरि मिले तो जलजन्तु होई।
फल मूल खाके हरि मिले तो बादुर बन्दराई।
दूध पीके हरि मिले तो बहुत बत्स-बाला।
मीरा कहे बिना प्रेम से न मिले नन्दलाला।।

यही भावना 'सहजिया' सम्प्रदाय की भावना कही जाती है। सहज प्रेम की साधना में जीव को बन्धनों से मुक्त करने के लिए सहजपंथी संत कवि प्राणीमात्र को शास्त्र, पांडित्य और ज्ञान के अनुष्ठान से बोझिल नहीं करते। सूफ़ी कवियों और बाउल पंथियों तथा बंगाल के वैष्णव सहजिया के पदों में यही भाव निहित-अभिव्यंजित हैं।

आधुनिक युग की महादेवी भी अपने प्रियतम के लिए मीराबाई की तरह ही व्यग्र हैं। लेकिन दोनों की व्याकुलता, टीस और कसक में अन्तर है। महादेवी मधुरिमा के मधु अवतार, सुधा-सुषमा से छविमान, तारकों से मूक अज्ञात-अजान प्रियतम पर अपना अनमोल यौवन लुटाकर कहती है—

जानते हो यह अभिनव प्यार
किसी दिन होगा कारागार ?

परन्तु, मीरा को इसका भय नहीं। वह तो कहती है—'सूली ऊपर सेज पिया की।'

म्हारो जणम जणम रो शाथी
थाणे ना विशरया दिन राती।
थां देख्यां बिण कल ना पड़तां
जाणे म्हारी छाती।

इसलिए मीरा को दुःख-सुख का अच्छा-ख़ासा अनुभव है। उसे अपने प्रियतम को समझाने की कोई ज़रूरत नहीं है।

महादेवी प्रियतम को जहाँ सपनों में बाँधने के लिए तड़पती है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में।
तो चिर-जीवन-प्यास बुझा लेती
उस छोटे क्षण अपने में।

पर, मीरा तो अपने प्रियतम मुरलीधर की मधुर मुरली की टेर भी सुनती है—

मुरळिया बाजां जमणा तीर।

उसे यह पता चलता है कि उसके प्रियतम उससे मिलने आये हुए हैं—

आजु शुण्या हरि आवां री।

और कभी अपनी सखी से पूछती है—

सजणी कब मिड़श्या पिव म्हारां।

सारा ससार सुख-सपनों में खोया पड़ा सोता भी रहा और वह अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में जगी बैठी भी रही—

री म्हा बैठ्यां जागां जगत शब शोयां।

सपनों मे भी उसका प्रिय आता है—

सोवत में ही पलका मैं
तो पल लागी, पल में पिऊ आये।
मै जो प्रभु आदर देन को,
जाग पड़ी पीऊ ढूंढ़े न पाये।

मीरा की तरह महादेवी को भी कभी पूछना पड़ा है—

मुसकाता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?

महादेवी प्रियतम को स्मरण कर सज्ञाहीन-सी हो जाती है और वह अपना संदेश लिखकर पहुंचवाने में भी असमर्थ हो जाती है। देखिए उसकी विवशता—

कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती—
दृगजल की सित मसि है अक्षय
मसि प्याली झरते तारक द्वय
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूं कुछ कुछ लिख जाती।

लेकिन मीरा को इसकी चिन्ता नहीं—

जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हृदय बसत है ना कहुँ आती जाती।

प्रिय-मिलन की विवशता इसमें है अवश्य, लेकिन इसके सामने प्रश्न है कि यह लिखकर भेजे तो कहाँ ? उसका प्रियतम तो उसके हृदय में ही वास करता है।

मीरा और महादेवी दोनो में करीब-करीब एक-सी ही बेकली है, लेकिन दोनों की रचनाओं पर अपने-अपने युग का प्रभाव पड़ा है, जो नैसर्गिक है। लेकिन हिन्दी साहित्य के लिए दोनों ही अमूल्य निधि है। अपने-अपने युग की देन—एक मध्य की और दूसरी आधुनिक युग की। कहीं-कहीं पर तो मीरा की तरह महादेवी भी अपने प्रियतम के बारे में कहती है—

तुम मुझमें, प्रिय फिर परिचय क्या ?
... ...

काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

और भी—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी।

मीरा की भी आसक्ति रोज़ मरने और जनमनेवालों के प्रति नही है, वह कहती है—

ऐसे बर को क्या करूँ जो जनमे और **मर जाय।**
बर बरिये एक साँवरो री मेरो चुड़लो अमर हो जाय।

आधुनिक काव्य में अभिव्यंजित वेदना देखिए—

शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाये तिमिर केश
गूँथे चुन तारक पारिजात
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनय शृङ्गार नहीं ?

और, यह है अपने प्राण प्रियतम के लिए मध्यकालीन युग की मीरा की तड़प—

फारूँगी चीर करूँगी गर कंथा रहूँगी **बैरागण होई री।**
चुरियां फोरूँ मांग बखेरूँ कजरा **मैं डारूँ धोई री।**
निसि-बासर मोहे बिरह सतावे **कल न परत पल मोई री।**
मीरा के प्रभु हरि अविनासी मिली बिछड़ो **मत कोई री।**

कहीं-कहीं पर महादेवी की वेदना भी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है और वैसी स्थिति में विरह को भी मिलन नाम लेने के लिए उन्हें मजबूर होना पड़ा है—

आज विरह की रात को तू
चिर मिलन का प्रात रे कह।

स्मृति बनकर निरन्तर मानस में खटकने वाले प्रियतम की निष्ठुरता को भी वह भूलना नहीं चाहती—

स्मृति बनकर मानस में
खटका करते हैं निशिदिन
उनकी इस निष्ठुरता को
जिसमें मैं भूल न जाऊँ।

युग बदलता है और युग के साथ परिस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। इसीलिए महादेवी के काव्य में जीवन-चेतना और है, मीरा के काव्य में और। महादेवी की वेदना भौतिक है—मीरा की आध्यात्मिक। महादेवी में लौकिक दाह है—मीरा में पारलौकिक कराह। महादेवी का प्रियतम लौकिक ही हैं, इससे इनकार नही किया जा सकता। मीरा अपने प्रियतम को देखकर भी जीभर देख न पाई और उसका वियोग उन्हें सहन न हुआ और उन्हें दुःख झेलना पड़ा। लौकिक प्रेम का परिणाम दुःख ही होता है। दोनों विषमधर्मा हैं, इन्हें समानधर्मा मानना उचित नहीं। युग के वैषम्य ने दोनों को दो किनारों पर रख दिया है, साहित्य का इतिहास चाहे उन्हें लाख मिलाने का प्रयत्न करे, लेकिन दोनों में जो दूरी है वह दूरी बनी की बनी ही रहेगी—निरन्तर।

महादेवी की पीड़ा देखिए—

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।

इस तरह पंचरंग चोला पहनकर झुरमुट में खेलने जाने वाली अध्यात्म-वादिनी मीराबाई की व्यथा व्यक्तिगत नहीं है। यों महादेवी की तरह मीरा में भी दाम्पत्य की भावनाएँ निहित हैं, फिर भी मीरा के प्रेम में अलौकिकता अक्षुण्ण ही है। महादेवी के प्यार में भी त्याग है, समर्पण है, पूजा की भावना है, फिर भी वह लौकिकता के दायरे में ही सिमटकर रह जाती है—

जिन चरणों की नख ज्योति से
हीरक जाल लजाए
उन पर मैंने धुँधले-से
आँसू दो-चार चढ़ाए।

और भी—

मैं निर्धन तब आई ले
सपनों में भरकर डाली।

कभी वह अपने प्रियतम के चरणों को फूलों से पूजती है और कभी उन्हीं चरणों पर धुँधले आँसू चढ़ाती है। इनके काव्य में निराशा ही निराशा मिलती है—मिलन में भी और विरह में भी। मिलन तो क्षणमात्र का है, लेकिन विरह चिर है और मीरा का क्या मिलन और क्या विरह दोनों ही अक्षुण्ण हैं, चिर हैं—स्थायी हैं। यों महादेवी अपनी जगह पर प्रतिष्ठित हैं और मीरा अपनी जगह पर। केवल वेदना के आधार पर उन्हें एक कैसे कहा जा सकता है ? जब दोनों की प्रेरणाओं के स्रोत भिन्न हैं, दिशा भिन्न हैं, और भिन्न हैं अनुभूतियों की विभूति भी।

मीरा उस अगम अगोचर अविनाशी तारणतरण की मीरा है, जिसने अशरण ध्रुव को शरण दी, प्रह्लाद को इन्द्र की उपाधि से विभूषित किया। वह कहती है—

मन थें परस हरि रे चरण।
सुभग सीतड़ कंवड़ कोमड़ जगत ज्वाढ़ा-हरण।
इण चरण प्रह्लाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण।
इण चरण ध्रुव अटड़ करस्यां सरण असरण सरण।
इण चरण धारयां गोबरधण गरब मघवा-हरण।
इण चरण ब्रह्मांड भेटयां णखसिखां सिरि भरण।
इण चरण कालियां नाथ्यां गोप ड़ीड़ा करण।
इण चरण धारयां गोबरधण गरब मघवा हरण।
दासि मीरां लाल गिरधर अगम तारण तरण।

यह है वह मीरा, जिसने अपने प्राण-प्रियतम के बारे में सुन रखा है—

म्हा सुण्या हरि अधम उधारण।
अधम उधारण भव भय तारण।
गज बूड़तां अरज सुन धायां भगतां कष्ट निवारण।
द्रुपद सुता णो चीर बढ़ायां दुसासण मद मारण।
प्रह्लाद परतग्या राख्यां हरणाकुस णो उदर बिदारण।
थे रिख पतणीं किरपा पायां बिप्र शुदामा बिपत बिडारण।
मीरां रे प्रभु अरजी म्हारी अब अबेर कुण कारण।

लीन हो गई है—बस, खो गई है, डूब गई है अपने प्रियतम की रूप-सुधा सरिता में लौकिक मान-अपमान और भले-बुरे की चिन्ता छोड़कर।

अत: मीरा की प्रेम-साधना भी राधा की तरह ही है, या यह कहा जा सकता है कि मीरा की सम्पूर्ण साधना ही राधा की भावना मे ओतप्रोत है। मीरा की वेदना भी राधा की वेदना है। विरह-उन्मादिनी महाभावरूपा राधा की भावना से अभिभूत होकर एक तो चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् कृष्ण का चिन्तन किया

और दूसरी मीरा ने अपने पदों में यद्यपि अपनी ही प्रेम-विह्वलता का वणन किया है, पर उसमें राधा भी झलक जाती है—

णेणा ड़ीयां अटकां ढयां णा फिर आय ।
रुम रुम नख सिख लख्यां लड़क लड़क अकुड़ाय ।
म्हा ठाढ़ि घर आपणे मोहण णिकड़ियां आय ।
बरण चन्द परगासतां मन्द मन्द मुशकाय ।
शकड़ कुटुम्बां बरजतां बोड़यां बोड़ बणाय ।
णेणा चंचड़ अटकणा माण्या पर हथ गया बिकाय ।
भलो कह्यां कांई कह्यां बुरोरी शबलयां सीश चढ़ाय ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बिणा पर रह्यांणा जाय ।

उस प्रियतम से मीरा के हृदय का ऐसा सम्बन्ध है कि उसे राधा की वेदना से पृथक् नहीं कर सकते—

हरि बिण क्यूँ जिवांरी माय ।
श्याम बिणा बौरां भयां मण काठ ज्यूँ घुण खाय ।
मूड़ ओखदणा ड़ग्यां म्हाणे प्रेम पीड़ा खाय ।
मीण जड़ बिछुड़्या णां जीवां तड़फ मर मर जाय ।
ढूढ़तां बण स्याम छोड़ा मुरड़ियां धुण पाय ।
मीरा रे प्रभु ड़ाड़ गिरधर बेग भिड़़्यो आय ।

और, मीराबाई के ऐसे पदों की तुलना चौथी और आठवीं शताब्दी के मध्य दक्षिण भारत के आलबार के प्रसिद्ध वैष्णव कवियों के गीतों के साथ की जाए, तो कोई अत्युक्ति नहीं कही जा सकती। ये भक्त कवि अपने को नायिका और भगवान् विष्णु को नायक के रूप में मानकर ही राधा की भावना से प्रेम-साधना करते थे। उक्त वैष्णव कवि-भक्तों की कृतियो में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला का महत्त्व नहीं है, उनमें विष्णु के अवतारों की महिमा का ही सारगर्भित वर्णन है।

इन्हीं दक्षिण भारत के आलवार लोगों मे कवयित्री आण्डाल हुई थी, जो मीरा की पूर्व प्रतिमूर्ति कही जाती है।

'तिसप्पा वाई' आण्डाल की ही रचना है, जिसमें आण्डाल एक स्थल पर सवेरे सखियों के साथ जाकर बालक कृष्ण को नींद से शंख बजाकर जगाती है और चारों ओर से उनकी शय्या को घेरकर कहती है—"जिस प्रकार राजे-महाराजे नम्रभाव से तुम्हारे सिंहासन को घेरकर खड़े हो जाते है, उसी प्रकार हम सब भी गर्वहीन होकर खड़ी हैं। क्या तुम्हारे कमल-नयन हमारे गीतों मे नहीं खुल सकते? तुम्हारी जिस नज़र से चन्द्र-सूर्य उदित हैं, उसी दृष्टि से हमें देख लो थोड़ा भी, तो हमारे पाप कट जाएँ।"

अपने प्रियतम को देवता के रूप मे वरण कर उन्हें जीवन की वनमाला अर्पित करने वाली भारतीय स्त्रियां तो अनेक हैं, किन्तु स्वयं देवता को अपना प्रियतम बनाकर उसे बहुमूल्य शब्द-पुष्पों के इस प्रेमगीतिशर से सजाने वाली तो केवल दो ही माधुर्य-मूर्ति है। एक उत्तर भारत की मतवाली मीरा, दूसरी दक्षिण भारत की रंगनायिका आंडाल।

आंडाल रामनाथ ज़िले के प्रख्यात विल्लिपुत्तूर में ही विष्णुचित (पेरियालवार) के रूप मे प्रकट हुई थी। कथानुसार, पेरियालवार पूजन के लिए उपवन में नित्य फूल चुनने जाते थे। एक दिन वन मे अद्भुत सुगन्ध फैली हुई थी। खोजने पर पुष्पशैया के बीच में एक सुन्दर बच्ची दिख पड़ी, जिसकी सुगन्ध से सारा उपवन महक रहा था। उसके केशों पर भ्रमर का समूह मँडरा रहा था। जन्म से ही भ्रमरों को आकृष्ट करने वाली ऐसी मदिर, मधुर सुगंध उसके अलकों मे कैसे आई! ऐसी सुन्दर बच्ची को श्री विष्णुचित अपने घर ले आए और उस बच्ची का नाम शुरुबार कुष कौदे (सुमनों की माला की तरह कमनीय केश वाली) रखा गया। इस बच्ची कौदे ने जब बोलना आरम्भ किया, तो सर्वप्रथम तुतलाहट-भरे स्वर में बोली—ॐ नमो नारायण नारायण, नारायण।

बचपन से ही कौदे का मन भगवान् के प्रति आकृष्ट हुआ। और वह अपने पिता के साथ भगवान् की पूजा में लगी रहती थी। पेरियालवार फूलों की मालाएँ अपने हाथ से गूँथकर भगवान् की मूर्ति को पहनाया करते थे। एक दिन इस भावुक शिशु ने यह देखना चाहा कि प्रियतम की माला तनिक मै भी तो गले मे डालकर देखूँ, कितनी सुन्दर लगती हूँ मै। और वह दर्पण के सामने खड़ी होकर मुस्करा उठी। इस प्रकार कौदे प्रतिदिन भगवान् के लिए बनाई माला स्वयं पहनकर दर्पण में देखती, मानो वह मन-ही-मन कहती—मै कितनी सुन्दर हूँ! क्या मेरा सौन्दर्य कृष्ण को मुग्ध-मोहित नही कर सकता ?

फिर रंगनाथ की मूर्ति के सामने जाकर खड़ी रहती और खिलखिला-कर कहती—'अरे, ओ निर्मोही! तुझे तो उस कुब्जा का ही रूप पसन्द है, क्यों ?'

किन्तु एक दिन पेरियालवार ने संयोगवश पुत्री के इस कार्य को देख लिया। देखते ही क्रोधावेश मे आकर कौदे को डाँटा—क्या तुम प्रतिदिन यह माला अपने गले मे डालती हो ? पुजारी भी आज कह रहा था कि तुम्हारी लायी हुई माला में से केश निकला है। अतः यह माला अपवित्र होने से भगवान् को नही चढ़ सकती···

किन्तु उस दिन रात को स्वयं भक्त-वत्सल भगवान् ने पेरियालवार को

स्वप्न में दर्शन दिए और कहा—कौदे की पहनी हुई माला ही मुझे प्रिय है। कहते हैं कि इसके पश्चात् पेरियालवार उन्हीं मालाओं को भगवान् को पहनाते थे, जिन्हें कौदे पहन चुकी हो।

इस प्रकार कौदे को ऐसी ही चीज़ें पसन्द आतीं, जो प्रिय से समानता रखती हों। अतः वह अपने वस्त्राभूषण को उतारकर नीलाम्बर पहन लेती और उस नीलिमा से श्याम-सुन्दर को देखने का प्रयत्न करती। पुष्पों से अपने को अलंकृत करके अपने प्रतिबिम्ब में अपना सौन्दर्य देख पाती, जिसको नंदनंदन पर न्योछावर करने के लिए तत्पर रहती।

मीरा की भाँति कौदे के हृदय में भी बचपन से ही भक्ति का बीज अंकुरित हो गया था। तभी से प्रियवर कृष्णचन्द्र की चकोरी बन गई थी। यौवनावस्था में पदार्पण करते ही उसकी शैशवकाल की भावनाएँ कुमुदिनी-सी विकसित और विकलित हो गयीं। और वह अपने को रसिकप्रिया राधिका मानती, माधुर्यभाव में अपने को भूलकर नृत्य तथा गान मे लीन रहती और इसी तन्मयता में उनकी अनुभूतियाँ संगीत और नृत्य में पायल की झंकार-सी वायुमण्डल में बिखर जातीं।

और रूपनिधि श्रीकृष्ण के प्रति यह आकर्षण दिन दुगुना, रात चौगुना बढ़ता ही जाता है, और आकर्षण आसक्ति में। इस प्रकार उनकी भाव-दशा बदल जाती है। तन से वह विष्णुचित्त पेरियालवार के उपवन में रहती है, किन्तु मन से नित्य वृन्दावन की कुंज गलियों में विचरती है। वह गोपियों के साथ रेत मे घरौंदे बनाकर खेल रही है। इतने में ही कन्हैया आकर उसके घरौंदों को ढहा देते और हँसने लगते। तब झुँझलाकर आंडाल कहती है—

'अपने कंगनधारी हाथों से बड़े यत्नपूर्वक रेत इकट्ठी कर हमने घरौंदे बनाए हैं। आँखों से हमें भेदते ही हो, इन्हें भी क्यों कुचलते-ढहाते हो, ओ, क्षीर-सागर-शयन !'

कभी वह गोपियों के साथ यमुना में स्नान करने लगती और प्रियतम कृष्ण आकर उनके वस्त्रों को उठाकर ले जाते और कुछ वस्त्र-पगे पगड़ी-सी सिर पर बाँधे, कुछ को बगल में दबाये कदम वृक्ष पर बैठ जाते। तब गोपियों की ओर से आंडाल अपनी मधुर बाणी में बोल उठती है—

'अच्छी सीख मिली कन्हैया ! यमुना-तट पर अब कभी नहीं आयेंगी। सखी-समेत मिन्नत करती है—हमारे चीर लौटा दो !'

और कभी वह वृन्दावन की गलियन में बावरी-सी विचरती। राही से पूछती, 'क्या तुमने मेरे प्राणधन को इधर कहीं देखा है ? क्या किसी को मेरे कमलनयन का पता है ?'

और अपने-आप ही प्रश्नों का उत्तर देती—'अजी, देखा क्यों नही ? वह

वृन्दावन में बाँसुरी बजाकर गोपियों के साथ विहार कर रहा है।'

फिर सहसा भावावेश बदल जाता है। तब न यमुना-तट है, न रेत के घरौंदे, न गोपियाँ, न कन्हैया ही। आंडाल का हृदय चीत्कार कर उठता है। वह बिलख-बिलखकर रो उठती है। भाव-लोक मे हृदयेश्वर कहाँ गायब हो गए ?

मुट्रतूड, पुहुन्दु निन मुहम्
काहि पुन्मुरूवल शेम्दु
शिट्रिलोड्डु एङ्गल शिन्युदैम्
शिदैक कड़वैयो गोविन्दा ?

—हमारे आँगन में मुखड़ा दिखाकर मुस्काते हो, इस रेत के घर के साथ हमारे चित्त को भी आकुल-व्याकुल कर जाने का इरादा है, गोविन्द ?

और दरद दिवानी आंडाल की प्रेम-विह्वल पिपासा की तड़पन इन मार्मिक पंक्तियों में सजीव हो उठी है :

'प्रियतम ! स्वप्न में आकर तुमने मिलने का उपक्रम किया है, उससे तो मेरे भीतर की विरहाग्नि और भी धधक उठी है। यों तड़पाने से तुम्हें कौन-सा आनन्द मिलता है ? हाय, एक क्षण भी तुम्हारे बिना रहा नहीं जाता, देव ! मेरे जीवनधन ! यदि मेरे प्राणों की इस आकुल तड़प से तुम्हारा कठोर हृदय तनिक भी पसीजे, तो अभी आकर मुझे अपने चरणों में स्वीकार कर लो, प्रभो !

'ओ मेरे प्राणाधार ! सीता की सुधि लेने के लिए तुमने समुद्र में पुल बँध-वाया और रावण को मारकर उसे अयोध्या लौटा लाये। शिशुपाल का वध करके रुक्मिणी को अपनी शरण में ले लिया। द्रौपदी, गज, गणिका और गोपियों की टेर सुन ली, परन्तु मेरी ही बार इतना विलम्ब क्यों कर रहे हो ? मैं जानती हूँ, मै अपराधिनी हूँ, परन्तु जैसी भी हूँ, तुम्हारी हूँ—तुम्ही मेरे प्राण-वल्लभ, हृदयेश्वर, जीवन-सर्वस्व और अवलम्ब हो। तुम्हें छोड़कर किसकी शरण में जाऊँ ? जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा को और चातक श्यामघन को चाहता है, वैसे ही मेरा हृदय तुम्हें देखने के लिए व्याकुल है।'

इस प्रेम-पिपासा, आकुलता का एक ही मार्ग, एक ही समाधान है—और वह है मिलन !

'आय्प्पाडिक्के एन्ने उयनिड्मनि'—मुझे गोकुल पहुँचा दीजिए। मेरा रहस्य मुझ तक सीमित नहीं रह गया है। वह लोक-विदित है। पर मैं लोक-मर्यादा, कुल-कानि छोड़ दूँ, इससे पहले उपाय कर दीजिए। मेरा माधव मुझे अपनी ओर खींच रहा है, मुझे बुला रहा है। मुझसे अब रहा नहीं जाता,

यौवन और सौन्दर्य-भरे-पूरे अंग-प्रत्यंग गोविन्द के संयोग के लिए छटपटा रहे हैं।···अब मुझे द्वारिकेश के पास पहुँचा दीजिये !'

और उसे स्वप्न आया कि उसका विवाह प्रियतम कृष्ण से हो गया है। उसने इस अद्भुत स्वप्न को श्रेणिक गान में लिखा है। उसे श्रीरंगम् के भगवान् श्रीरंगनाथ ने बुलाया और वह श्रीरंगम् चली गई। वहाँ जैसे कावेरी सागर से जा मिलती है, उसी प्रकार आंडाल की दिव्य आत्मा भी सशरीर, उस परम पुरुष में विलीन हो गई। अतः उसे श्रीकृष्ण की 'सनातन प्रेयसी' के नाम से ही स्मरण किया जाता है और वह आज भी अलौकिक प्रेम के प्रतीक-सी आंडाल भगवान् रंगनाथ के पास ही खड़ी है।

इन सोलह वर्षों में आंडाल ने मधुर-रस से ओतप्रोत अमर कविताएँ रची हैं; वह 'नाच्चियार तिरुमोलि' के नाम से सुप्रसिद्ध हैं।

अन्त में आंडाल को रंगनाथ ने सदेह अपने में तिरोहित कर लिया बताया जाता है।

आंडाल का चरित्र और उसकी साधना मीरा की ही तरह है—इससे कोई इन्कार नहीं करता।

मीरा यद्यपि विभिन्न युगों के भक्त-कवियों की पृष्ठभूमि पर अवस्थित है, फिर भी सभी के बीच उनका चरित्र अलग ही अलौकिक, अकम्प दीप-शिखा की तरह अंकित है। उनकी प्रेम-साधना भी अलग है, सभी में उज्ज्वल—देदीप्यमान।

अब मीरा के गुरु की ओर दृष्टि डालें। बहुत लोगों की धारणा ऐसी है कि चैतन्य मीरा के गुरु थे। यह चैतन्य माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे और राधा-कृष्ण के अन्य उपासक। ये धर्म-प्रचार के लिए पूर्वी भारत से ब्रजधाम भी गये थे। लेकिन दोनों के काल में इतनी भिन्नता है कि दोनों का मिलन सम्भव नहीं है। यों मीरा ने ऐसे कितने भजन रचे, जो चैतन्य द्वारा निर्धारित मार्ग के आधार पर ही हैं। लेकिन, यह भी यह प्रमाणित नहीं करता कि चैतन्य मीरा के गुरु रहे होंगे। यह प्रसिद्ध है कि मीरा वृन्दावन गई और वहाँ उसे चैतन्य की परम्परा के जीव-गोस्वामी भी मिले थे, परन्तु जीव-गोस्वामी मीरा के गुरु थे—ऐसी चर्चा कहीं नहीं है। हाँ, वे नित्यानन्द की आज्ञा से वृन्दावन में निवास अवश्य करते थे।

मीरा के लिखे हुए बहुत-से ऐसे पद प्राप्त होते हैं, जिससे लगता है कि रैदासजी ही मीरा के गुरु हैं। जैसे—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
गुरु म्हारे रैदास सरन न चित सोई।

और, भी—

गुरु रैंदास मिले मोंहि पूरे धुर से कल कल भी भड़ी।
सत गुरु सैन दई जब आके जोत में जोत अड़ी।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मीरा का जन्म १५०४ है और रैदास की मृत्यु १५१६। यह प्रचलित है कि रैदास ने बुढ़ापे में देशाटन नहीं किया। वे बराबर काशी में ही रहे और ऐसा भी कोई प्रमाण सिद्ध नहीं करता कि मीरा काशी गई होगी। इससे कुछ लोग भ्रमवश कह देते है कि मीरा के गुरु रैदास नहीं हो सकते और उपर्युक्त पद मीरा के रचे हुए नहीं हैं, लेकिन ऐसा कोई प्रमाण नहीं देते जिससे मान लिया जाए कि सचमुच उक्त पद मीरा के रचे नहीं हैं। मीरा की और भी पंक्तियाँ देखिए—

खोजत फिरौं भेद वा घर को कोई करत बखानी।
रैदास संत मिलै मोंहि सत गुरु दीन्ह सुरत सहदानी।

मीरा के अनेक पदों में संत रैदास को गुरु-रूप में स्मरण किया गया है, परन्तु ऐतिहासिक मापदण्ड के आधार पर तो मीरा का गुरु रैदास को मानना संदिग्ध है, लेकिन मीरा द्वारा गाये गए पदों में जो रैदास का उल्लेख मिलता है, उससे तो स्पष्ट है कि रैदासजी ने मीराबाई की साधना को अप्रत्याशित ढंग से प्रभावित किया था। इतिहास के अनुसार भले ही मीरा-रैदास मिलन असम्भव है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि रैदास मीरा के गुरु हो ही नहीं सकते। बहुत सम्भव है कि रैदास ने मीरा को स्वप्न-दीक्षा दी हो और उसी के आधार पर मीरा ने पद-रचना भी की हो और ऐसी घटना कई भक्तों के साथ हुई, जैसे कि संत चरणदास को स्वयं शुकदेवजी ने स्वप्न में दीक्षा दी।

दूसरा वैज्ञानिक आधार यह भी हो सकता है कि रैदास के धार्मिक अनुष्ठान और उसके मतों से प्रभावित होकर मीरा ने उन्हें गुरु मान लिया हो। उन दिनों राजस्थान में रैदास का प्रभाव छाया हुआ था। रैदास का चर्मकार का पेशा करना यह प्रमाणित करता है कि उसने पारिवारिक जीवन को कृष्ण-भक्ति में लीन होकर भी बहिष्कृत नहीं किया था और उसकी यह छाप मीरा पर भी अच्छी तरह पड़ी हो। मीरा ने भी परिवार से दूर होकर संन्यास धारण नहीं किया था। मध्यकालीन इतिहास पूर्णरूपेण प्राप्त न होने के कारण उस समय के साहित्यिक और धार्मिक विभूतियों के जीवन का इतिवृत्त प्रधान होना स्वाभाविक ही है, लेकिन उनके जीवनवृत्त-विषयक जितने भी प्रमाण उपलब्ध है, उनके अनुसार कहा जा सकता है कि मीराबाई ने भी रैदास की भाँति पारिवारिक जीवन-निर्वाह करने की पूर्ण रूप से चेष्टा की थी। मीराबाई संन्यासिनी होकर वृन्दावन, मथुरा या द्वारिका नहीं गई थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि मीरा साधु-सन्तों की ही सेवा में निरन्तर रत रहा करती थी और उसने साफ़ एलान ही कर रखा था—

संतन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।
छाँड़ दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।

लेकिन, मीरा का इस तरह खुले आम साधु-सन्तों से मिलना-जुलना, उनके साथ कीर्तन-भजन करना, राणा ने अपनी मर्यादा और शान के विरुद्ध समझा और मीरा को बहुत समझाया-बुझाया, लेकिन उस पर प्राणाराम हरि के माधुर्य का जो शाश्वत और अलौकिक प्रभाव छाया हुआ था उसे राणा के लौकिक मान के उपदेश कैसे उतार सकते थे? राणा लाख सर पटकते रह गए, लेकिन मीरा का वह स्वतंत्र विचार नहीं बदला, नहीं बदला। राणा ने अन्तः-पुर के निकट ही उनके रहने के लिए कुटीर बनवा दी। मीरा उसी कुटीर में रहती और वहाँ साधु-सन्तों का काफ़िला जुटा रहता, जिनके साथ वह भजन-कीर्तन में मग्न रहती। उसके बाद राणा को उनके चरित्र पर शक हुआ और उसकी हर तरह से परीक्षा लेने लगे, लेकिन मीरा उनकी हर परीक्षा मे सफल ही रही। उन दिनों मीरा का प्रभाव वैष्णव भक्तों में इतना फैला हुआ था कि किंवदन्ती है कि बादशाह अकबर भी उसके प्रभाव से प्रभावित होकर अपने विश्व-विख्यात गायक तानसेन के साथ वेश बदलकर मेवाड़ रणछोड़जी के मन्दिर में मीरा से मिलने गए। यह बात बात-बात में हवा की तरह फैल गई। राणा को जब मालूम हुआ तो वे रणछोड़जी के मन्दिर को

द कराने और मीरा को मार डालने का प्रयत्न करने लगे लेकिन उससे भी मीरा का कुछ न बिगड़ा और वह पाँव में घुँघरू बाँध कर कान्त भाव की भक्ति मे लीन होकर गिरधारी लाल रणछोड़जी की पीयूष-पूरित प्रतिमा के आगे थिरकती ही रही। यहाँ तक कि राणा ने उसे मारने के लिए विष का प्याला भेजा, लेकिन उसे भी वह अमृत समझकर पी गई और वह विष सचमुच ही अमृत बन गया। उसके बाद राणा ने वृक्षों की डाली में सर्प-बिच्छू लटकवा दिए, परन्तु वे भी मीरा के लिए फूल बन गए। अन्त में मीरा राणा

याचार से तंग आकर गिरधारीलाल की मूर्ति को लेकर वृन्दावन और गोकुल आदि स्थानों का भ्रमण करती हुई द्वारिकापुरी में, रणछोड़जी के मन्दिर में रहकर कान्त भाव से युक्त माधुर्य-भक्ति की सर्वश्रेष्ठ साधना करती हुई कबीर और आंडाल की तरह इस संसार के कारागार से सदेह मुक्त हो गई और रणछोड़ जी ने दर्शन देकर मीरा को सदा-सर्वदा के लिए अपने में तिरोहित कर लिया।

मीरा चली गई—हाँ, चली गई, लेकिन उसके आत्मनिवेदन और आत्म-समर्पण के अगणित प्रोज्ज्वल पदों में उसकी वह माधुरी लिपटी ही हुई है

और लिपटी ही रहेगी ज्यों-की-त्यों अनन्त काल तक और उस मिठास से लोग प्यास बुझाते ही रहेंगे—पिपासा बढ़ती ही रहेगी। लोग सुनते ही रहेंगे और उसकी वह प्रतिध्वनि गूंजती ही रहेगी—

पग बाँध घुँघर्याँ णाच्याँ री।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर थारी शरणाँ आश्याँ री।

पद-सूची

(अकारादि क्रमानुसार)

विषय-प्रवेश

नित्य निरंजन, निर्विकल्प, अकल, अनीह, अव्यक्त ब्रह्म की भावना मनुष्य ने व्यक्त, सगुण ईश्वर के रूप में की, परन्तु उसका जी न भरा, हृदय न जुड़ाया। वैदिक युग मे विष्णु, रुद्र, अग्नि, वरुणादि देवताओं की उपासना में केवल 'भय' (Terror) और आश्चर्य (Wonder) ही प्रेरक-शक्ति का काम कर रहा था और भगवान् के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य-गुणों में केवल शक्ति की ही स्वीकृति मानव ने की थी। भगवान् और मनुष्य के बीच यह भयमूलक, आश्चर्य-परक सम्बन्ध कितने दिन चल सकता? पग-पग पर हम डर रहे थे कि कहीं हमने भूल की कि चट उधर से प्रतिकार का खड्ग चला। प्रायः सभी देवताओं की उपासना इसलिए होती थी कि कहीं वे असन्तुष्ट होकर हमारा कोई अनिष्ट न कर बैठें। इस भावना में हृदय की कोमल वृत्तियों को आलम्बन मिलना तो सर्वथा असंभव ही था। इन्द्र द्वेष की साक्षात् मूर्ति थे। यज्ञ में विघ्न उपस्थित करना तथा तपोनिष्ठ योगियों को अप्सराओं द्वारा तपोभ्रष्ट एवं योगस्खलित करना—यही उनका काम था। जहाँ हम भय से बराबर काँपते ही रहे वहाँ हम प्रेम कैसे करते? जो वस्तु शुद्ध स्नेह का पात्र नहीं वह उपासना के लिए कैसे ली जा सकती? जो ईश्वर हमारे पिता, माता, स्वामी, सुहृद, सखा, पुत्र अथवा भर्त्ता के रूप में न हुआ वह हमारे हृदय के सिंहासन पर कैसे बैठ पाता?

ज्ञानाधिकरण उपनिषदों ने भी ब्रह्म और आत्मा की एकता स्थापित करते हुए उपासना के लिए कुछ व्यक्त प्रतीकों को ग्रहण किया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोषों में से होती हुई आत्मा ब्रह्मानन्द की परम भावना में तल्लीन हो जाती है। रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्शादि से परे रहता हुआ भी 'वह' इनमें ओत-प्रोत है। यही नहीं है, इसमें 'भी' है - यही भावना उपनिषदों की है। ज्ञान की यही चरम सीमा है जहाँ अनुभूति की पराकाष्ठा और संवेदन की तीव्रता मे वाणी मौन हो जाती है, हृदय रसमग्न हो जाता है। 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा।' ज्ञान का यह पथ जन-साधारण के लिए एक प्रकार बन्द-सा ही था। यह 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयोर्वदन्ति'—छुरे की धारा की तरह तेज़ है—पग-पग पर भय बना हुआ रहता है, ऐसी ही भावना

हमारी बनी रही, क्योंकि इस मार्ग में 'बटमारों' की कोई इति ही नहीं है। अस्तु, ज्ञानयोग की साधना में मोक्ष की अखण्ड तैलधारावत वृत्ति हमारी कल्पना की वस्तु बनी रही। क्रमशः साधना का साधारणीकरण होता चला, उपासना का सुगम एवं सर्वसुलभ पथ खोजा जाने लगा। जहाँ हमारी रागात्मिका वृत्तियों के प्रश्रय एवं प्रसार का भी समुचित अवसर मिल सके, साथ-ही-साथ हमारे मानसिक उन्नयन तथा आध्यात्मिक विकास का भी। रूप रस की अमर लालसा एवं जन्म-जन्मान्तर की साध से प्रेम-साधना का भूखा-प्यासा मानव, मात्र प्रेम के लिए तड़पता हुआ हृदय अपने प्रेम का एक आश्रय खोज रहा था, आधार ढूंढ रहा था। ईश्वर को पाने और पकड़ने का हमारा यह प्रयास कितना आतुर, कितना सात्विक, कितना निश्छल था! माना कि उत्तर काल के नारायणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, रामतापनी उपनिषद् आदि ग्रंथों में व्यक्त उपासना की ही विशेष पुष्टि हुई, परन्तु शुद्ध ज्ञानमार्ग के भीतर वासुदेव, नारायण, राम और कृष्ण भी हमारे देवकी-पुत्र, राधिका-वल्लभ, गोपी-जीवन, कौशल्यानन्दन न होकर ब्रह्म के ही व्यक्त रूप में ग्रहण किये गए और अन्त में ब्रह्म ही में उनका लय हो गया। इसीलिए उपनिषदों में विमल भक्ति का लहलहाता हुआ रूप पूरी तरह निखरकर ही हमारे सामने नहीं आ पाया।

बौद्ध-धर्म की मूल भावना ज्ञान-वैराग्य-प्रधान तथा निवृत्ति-मूलक थी। 'सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं मिथ्या' का स्वर उसमें मुख्य था। अतएव उपासना के पौधे का उसमें पनपने का अवकाश न था। इसके अभाव में धीरे-धीरे उसके अनुयायी वैराग्य के मार्ग से भी च्युत हो चले। ज्ञान के दुरत्यय मार्ग में कुछ चुने हुए लोग चल सकते हैं। जनसाधारण के लिए यह मार्ग न कभी प्रशस्त हुआ और न हो ही सकता है। बुद्धिजीवी अपने हृदय को टिकाये रखने का कोई आधार न पाकर पुनः वहीं लौट आये जहाँ से चले थे। कहने के लिए तो बौद्ध-धर्म के ह्रास एवं भारतवर्ष से उसके उन्मूलन का मुख्य कारण इसकी वेद-विमुखता एवं नास्तिकता ही मानी जा सकती है, परन्तु ज्ञानसाधनों से विमुख 'भिक्खुओं' ने बौद्ध-विहारों और मठों को कामवासना का लीलास्थल बना दिया था और वे साधना के नाम पर तंत्र-मंत्र, रसायन, हठयोग और अष्ट सिद्धियों के जंजाल में बेहद उलझ गये थे। वस्तुतः बौद्ध धर्म के अधःपतन एवं उन्मूलन का मुख्य कारण यही हुआ। तत्त्वज्ञान के स्थान पर जब वञ्चकता आ जाती है तो धर्म की आत्मा खोखली हो जाती है और कुछ ही समय में वह धर्म अपना अस्तित्व और प्रभाव खो बैठता है। बौद्ध धर्म का उद्भव, विकास एवं अन्ततः दुःखद ह्रास के मनोवैज्ञानिक कारणों में उसकी नैतिकता के प्रति अनास्था एवं साधना में आध्यात्मिकता एव उच्चादर्श का अभाव ही माना जाएगा—और यह तथ्य साधना

के आध्यात्मिक पथ के पथिकों के लिए चिरस्मरणीय बना रहेगा—आँखों में उँगली डालकर समझाने वाला तथ्य।

जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्यजी ने मृतप्राय हिन्दू जाति को ज्ञान की घूँटी फिर एक बार पिलाई। साधना की चरम सीमा ब्रह्मात्मैक्य स्वीकार करते हुए तथा तत्त्वतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन', 'तत्त्वमसि', 'सोऽहमस्मि' को ज्ञान का परम एवं चरम साध्य मानते हुए भी स्वामी शंकराचार्य ने शिव, विष्णु, वासुदेव आदि देवताओं की परब्रह्म-रूप में उपासना स्वीकार की, जैसे उनके रचे हुए हृदयहारी स्तोत्रों से प्रकट होता है।

स्वामी रामानुज का विशिष्टाद्वैत भी अद्वैतोन्मुखी था। उसमें भी ब्रह्मवाद की अंतिम लहरों की हलचल स्पष्टतः परिलक्षित हो रही थी। इस विशिष्टाद्वैत में मानव-हृदय की भावना-वृत्ति को कुछ सहारा तो अवश्य मिला और भगवान् के साथ हम दृढ़तापूर्वक दास्यभाव में बँध तो अवश्य गए, परन्तु अन्तरतम की वृत्तियाँ प्यासी ही रह गई। हृदय की भूख तो कुछ अवश्य मिटी, परन्तु प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही। 'प्रपत्ति' या शरणागति का आधार वस्तुतः बहुत बड़ा आधार था। पर भक्ति ज्ञान में लीन हो जाने-वाली ही कही गई, साधन-मात्र ही समझी गई, स्वयं भक्ति ही अपना लक्ष्य अथवा साध्य न हुई।

स्वामी रामानुज के शिष्य स्वामी रामनंदजी ने श्री सीताराम की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया और महामंत्र 'ॐ रामाय नमः' तथा 'रामनाम' को पुनः प्रतिष्ठापित किया। इन्हीं की शिष्य-परम्परा में कबीर, रैदास, पीपा आदि निर्गुणिये भक्त हुए। भगवान् राम की उपासना में दास्य एवं वात्सल्यभाव की ही विशेष परितुष्टि हो सकती है, अतः यहाँ सौंदर्य की अपेक्षा शील एवं शक्ति ने ही हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। राम में हमने अपना इष्ट तो पा लिया, परन्तु राम केवल प्रेम के ही पात्र न थे। उनकी शक्ति के सामने हम सिर नवाते थे। राम हमसे सटे हुए भी हमसे इतने ऊँचे हैं कि हमारा मस्तक उनके चरणों में श्रद्धा एवं भक्ति से झुक जाता है; केवल प्यार ही करें, उन्हें कसकर हृदय से लगा लें, अपने प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लें— ऐसा नहीं होता।

राम का 'रामत्व' रावण के 'रावणत्व' के विरोध में; शबरी, अहल्या, गणिका, गिद्ध आदि के तारने में; सुग्रीव विभीषण, हनुमान आदि की स्नेह-मैत्री में तथा कैकेयी के प्रति श्रद्धा और स्नेह का भाव रखने में ही अधिक प्रफुल्लित हुआ है। जनकपुर की फुलवारी में 'भयेउ विलोचन चारु अचंचल' के चित्र को कितने झटके से हटा लिया गया है! वन जाते समय राम के रूप पर ग्राम-वधुओं के हृदय लुटाने का मनोरम दृश्य भी कितने

संयम के साथ दबा दिया गया है! रूप-रस के प्यासे मानव-हृदय की रसनिष्पत्ति में कितना बड़ा झटका इन दृश्यों से लगता है! हम लुभाए-से, टकटकी बाँधे राम के इस मधुर रूप की ओर देखने ही लगते है, उस परम छवि को आँखों के वातायन से हृदय के मन्दिर मे पूरी तरह ला भी नहीं पाते कि राम अपने कर्तव्य के कठोर पथ में चल देते है; उनका वह सुन्दर रूप हमारी ललचाई आँखों से ओझल हो जाता है, और हमारे 'कहो साँवरो सो सखि रावरो को है?' का कोई उत्तर नहीं मिलता। हरिदर्शन की प्यासी आँखें तड़फड़ाकर रह जाती हैं। लोक-मर्यादा, संयम, साधुओं के परित्राण एवं दुष्कृतों के विनाश की भावना ही राम में पूर्णतः प्रतिष्ठापित हुई है; पावन ही मंगल है, श्रेय ही प्रेय है, कर्तव्य ही प्रेम है—यही राम के लोकोत्तर चरित्र का आदर्श है। हम राम के सेवक तो हो जाते है, परन्तु स्वामी का चरित्र इतना उन्नत, इतना पावन एवं उच्च है कि सखा होने के लिए हमारा हृदय प्रवृत्त ही नहीं हो पाता। जीवन का एक बहुत बड़ा अभाव रह ही जाता है। भगवान् राम का चरणामृत तो हमें प्राप्त हो जाता है, परन्तु भक्त का प्रेमी हृदय तो भगवान् के अधरामृत के लिये व्याकुल था;—वह अपने स्वामी को केवल स्वामी के रूप में ही पाकर कैसे सन्तुष्ट होता? वह तो उसे अपनी दोनों भुजाओं मे बाँधकर उसका अधरामृत पान करना चाहता था। इस प्रकार, जी की कलक बनी ही रही।

दास्य में 'दूरत्व' एवं संभ्रम का जो भाव हमारे भीतर घर किये हुए है उसको कुछ प्रवाह मिलना अनिवार्य था। मुख्यतः, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव में दूरत्व का क्रमशः लोप हो जाता है; यहाँ तक कि परम भाव मे तो 'दो का एक' तथा 'एक ही का दो' स्पष्टतः स्थापित हो जाता है। इस प्रकार, हृदय की सभी वृत्तियों के रमने का पूरा-पूरा अवकाश एवं क्षेत्र कृष्ण में मिला। तुष्टि तथा अभिलाषा के सभी उपादान कृष्ण में विद्यमान हैं। शील और शक्ति की पराकाष्ठा दिखाते हुए भी सौंदर्य की ही ओर हमारा ध्यान विशेष खिंचा। यशोदा के आँगन मे किलकारियाँ छोड़ते हुए, 'घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए'—रूप पर सहज ही हमारा हृदय निछावर हो गया। अवस्था बढ़ती है और अवस्था के साथ नटखटी भी। गोपवृन्द को छेड़ते, गोचारण में सजल-श्यामल मेघों के पीछे दौड़ते, सखाओं से दाँव लेते, वंशी की तान पर स्वयं नाचते तथा गोपियों को नचाते हुए कृष्ण का वह मोहक रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो विश्व में सचमुच अद्वितीय है, एकदम निराला है।

वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, हित हरिवंश तथा चैतन्य को इसी मधुर मनोहर

श्यामल किशोर त्रिभुवनमोहन रूप ने आकृष्ट किया, जिसकी प्रेमदार्शनिकता को जयदेव और विद्यापति तथा चण्डीदास ने अपने प्रणय-गीतों में परम भाव की माधुर्य-रति को अंकित किया। श्री चैतन्यदेव ने प्रेम का जो स्रोत बहाया, जयदेव तथा विद्यापति और चंडीदास ने अपने प्रेमोन्मादपूर्ण सुललित गीतों मे जिसे गाया, वही दिव्य प्रेम-संगीति-धारा नवद्वीप से मिथिला की अमराइयों में होती हुई ब्रज में अपने प्राण-वल्लभ की सुमधुर झाँकी से अनुप्राणित होकर राजस्थान में पहुँची। गीति-काव्य का यह प्रवाह सर्वथा निराला है। प्रेम और आनन्द का यह उमड़ता हुआ, उछलता हुआ स्रोत मीरा के हृदय में जा मिला। मीरा ने प्रेम के पथ मे सर्वात्म-समर्पण कर श्री गिरिधर गोपाल को अपना प्राण-वल्लभ प्रियतम पति मानकर, अपने जीवन को, अपने जीवन की सभी आकांक्षा एवं अभिलाषा को श्रीकृष्णार्पण कर दिया। 'पिया की सेज' सूली के ऊपर होते हुए भी वह 'महामिलन' के आनदमधु को छककर पी सकी और अपने प्राणप्यारे को पिला भी सकी।

परम भाव की इस परम्परा मे श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेम-तत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है और इसी हेतु भगवान् श्रीकृष्ण का यह मोहक रूप मानव-हृदय को अनादि काल से आकृष्ट करता आया है। मेरे परम श्रद्धेय गुरुदेव परम वैष्णव साधु श्रीकृष्णप्रेमजी (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर रोनाल्ड निक्सन) ने भी अपने जीवन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वभावेन समर्पित करते हुए कविवर कीट्स (Keats) के शब्दों मे कुछ परिवर्त्तन कर अपनी प्रेम-भावना की अनन्यता को बड़े ही सुन्दर अथवा मधुर शब्दो में व्यक्त किया है—

"Krishna is God, God Krishna, that is all
Ye know on earth and all ye need to know."

अर्थात् कृष्ण ही भगवान् है और भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण है—इतना ही हम जानते है और इतना ही जानने की आवश्यकता भी है।

शरद्-ज्योत्स्ना मे पुलकित मधु-यामिनी मे जब समस्त चर-अचर इस मधु-वर्षा में आनन्दविभोर थे, समीर मन्थर गति से धीरे-धीरे बह रहा था, यमुना-तट पर खड़े होकर, ललित त्रिभंगी वेश मे मदनमोहन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी मुरली की टेर से सहस्र-सहस्र गोपियों को आकृष्ट करते हैं। 'नाम समेत कृत संकेतं वादयते मृदु वेणुम्' गोपियाँ जो जैसी है वैसी ही मुरली की जादू-भरी ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए विह्वल होकर दौड़ती है। जड़ और चेतन को पागल बना देनेवाली रहस्यमयी, संकेत-भरी शरद् की चाँदनी छिटकी हुई है। ज्योत्स्ना-प्लावित अर्धरात्रि में यमुना के सैकत-पुलिन पर रास का समारोह होता है। बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है;

चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक 'गोपी' के साथ कृष्ण। परम भाव का उत्कृष्ट, उत्फुल्ल मधु-मदिर मादक लास्य!!

× × ×

हम भागते जा रहे है, 'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है। हम आवरण में रहना ही पसन्द करते है, 'वह' हमे अनावृत कर छोड़ने पर ही तुला हुआ है। आखिर, उसकी ही हठ की जीत होनी है और अन्त में 'वह' हमारे आवरण को हटाकर ही चैन लेता है। यही 'चीरहरण' है। ठीक इसी भाव को परम भावुक आत्मदर्शी अंग्रेज कवि टाम्सन् (Francis Thompson) ने अपनी सुविख्यात कविता 'स्वर्ग के अहेरी' (Hound of Heaven) में व्यक्त किया है—'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है—हम भागते जा रहे हैं, 'उस' के चरणों की चाप स्पष्ट सुनाई पड़ रही है—

'I fled Him down the nights
and down the days
I fled Him down the arch of Time'

परन्तु अंत मे 'वह' हमे 'ग्रस' लेता है और बोल उठता है—

'Ah! fondest, blindest, weakest
I am He whom thou seekest
Thou dravest love from thee who drivest Me'.

अरे ओ भोले मानव! तू कहाँ भागा जा रहा है? मै अब तुझे छोड़ने का नहीं। अरे ओ पागल, ओ अन्धे, ओ दुर्बल प्राणी! मै वही हूँ जिसे तू खोज रहा था—मुझसे अब भागकर तू कहाँ जायेगा? मै तुझे अपनाकर ही चैन लूँगा, आत्मसात् कर लूँगा। जितना हम 'उस' के लिए व्याकुल नहीं है उतना व्याकुल 'वह' है हमारे लिए। भय हमे यह है कि 'उसे' पाकर हमारा 'अहं' रह कहाँ सकेगा, हम अपने 'मै' को कैसे बनाये रख सकेंगे? परन्तु 'वह' तो हमारे हृदय का बन्दी बनने के लिए व्याकुल है। उसकी इस तीव्र उत्सुकता की कोई सीमा नहीं। जिसने उसे पाने की तनिक भी चेष्टा की, आतुर विह्वल हृदय से एक बार भी प्रेमपूर्वक उसे पुकारा कि वह उसके हाथ आ गया! हमारा उसका अनन्त और अविच्छिन्न मिलन हो रहा है। प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया मे 'वह' और 'मैं' मिल रहे है। यह पृथ्वी, ये असंख्य नक्षत्र यह अनन्त सागर, ये दिशाएं हमारे इस 'महामिलन' की साक्षी है। अब हम 'उसे' जाने भी कैसे दें?

"I have caught Thee by my hand
I will not let Thee go"

मैंने तुझे अब पकड़ लिया है—अब तुझे जाने न दूंगा। हमारे इस महा-मिलन का माधुर्य विरह में अत्यधिक प्रस्फुटित एवं उच्छ्‌वसित हो उठता है

प्रतिपल विरह की उद्दीपना में हमारा हृदय अपने 'प्राणाराम' के लिए आहें भरता है, तूफ़ान में समुद्र की भाँति। आहों के उस सघन कुंज के भीतर प्रेम की अल्हड़ मृगछौनी उल्लसित साधों पर चौकड़ी भरती रहती है। यह विरह ही प्रेम की संजीवनी है। रास की फाँस में गोपियों को डालकर, मिलनमाधुरी का कुंकुम राधा के हृदय पर छिड़ककर नटवर छोड़कर चले गए। गोपियाँ तड़पती रह गईं, राधा कुहुँकती रह गई। वह 'निठुर' न लौटा— न लौटा! 'जोग' की आँधी लाकर उद्धव ने धुँधुआती विरह-ज्वाला को धधका दिया। प्रेम की वंशी में गोपियों के हृदय को उलझाने की यह निष्ठुर क्रीड़ा! विरह की यह आनन्ददायी ज्वाला ही, वेदना का यह उद्दीप्त शृंगार ही भक्तों की साधना का प्राण है जिसमें अहर्निश जलते-तपते हुए भी वे इससे बाहर आना नहीं चाहते।

"हे री मैं तो दरद-दिवाणीं,
मोरा दरद न जाणे कोय
सूली ऊपर सेज पिया की
मिलणो किस बिध होय ?"

शृङ्गार के मनोभाव

सुनु सखि पिउ मँह जिउ बसै,
जिउ मँह बसै कि पीउ ?

—कबीर

"Love is ever young, and it ever renews itself in fresh rosy colours; and hence Sree Krishna is the Eternal Masculine and Sree Radha is the Eternal Feminine in the enjoyment of Eternal Youth."

—विजयकृष्ण गोस्वामी

शृङ्गार विश्व का आदि-रस है। सृष्टि का विकास शृङ्गार का विलास-मात्र है। ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुस्याम्' की अतृप्त पिपासा के अन्तस् में शृङ्गार का ही मधु छलका है। वाणी एवं मन से अप्राप्य उस 'परम रूप' को स्वयं अपनी छवि की परछाई देखने की उत्कण्ठा जगी और प्रकृति का महारास प्रारम्भ हुआ, विश्व का रंगमञ्च नाच उठा। आदि-पुरुष की यह आदि-वासना ही सृष्टि का मूल कारण है। 'एक' से 'बहु' हो जाने की वही वासना चर-अचर जीवमात्र में किलक रही है। मानव-हृदय की ही नहीं, सभी जीवधारियों की यह एक अव्यक्त, अतृप्त लालसा है। अपने अधूरेपन का अनुभव करते हुए वह अपने अभाव की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। इस अभाव की पूर्ति नाना रूपों से करने की चेष्टा होती है। सुधांशु अपने रूप-लावण्य की पराकाष्ठा पर आकर समुद्र का हृदय डावाँडोल कर देता है, आन्दोलित, उद्वेलित कर डालता है। पूर्णिमा की अर्द्ध-रात्रि में समुद्र के अन्तःस्तल में जो हलचल उठती है, जो तूफ़ान खड़ा होता है, चन्द्र-किरणों को चूमकर चाँद को अपने हृदय के हृदय में बन्द कर लेने की जो तीव्र उत्कंठा उस विक्षुब्ध समुद्र के अतल हृदयतल में व्याप्त है, वह अखिल चराचर की मूल वासना का एक चिरन्तन प्रतीक एवं प्रमाण है।

'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्य एतदाप्तकाम आत्मकाम अकामं रूपम्' **बृहदारण्यक ४. ३. २१।**

जिस प्रकार पत्नी के प्रगाढ़ परिरम्भण में पति अपनी बाह्य और

आन्तरिक संज्ञा खो देता है, उसी प्रकार परम प्रियतम परमात्मा के आलिंगन-रस को पाकर आत्मा अपने-आपको खो बैठती है।

बाल-उषा की कोमल अरुण किरणें कमल का द्वार खोल देती हैं। मलयानिल सारी वसुन्धरा में एक विचित्र उन्माद उंडेलता हुआ समस्त जीवधारियों के हृदय में एक गहरी व्यथा की टीस जगा जाता है और कोकिला के आग-भरे मीठे गीत में विश्व-वेदना अपना संगीत छेड़ देती है। मंजरियों से झुकी हुई अमराइयों एवं फूलों से लदी हुई लता-वल्लरियों में मधुमास के नीरव संगीत को कौन नहीं सुनता? कोकिला की प्रथम कूक में उसके आग-भरे, दर्द-भरे दिल की अतुल व्यथा में वसुधा का अभाव-भरा शृङ्गार परिलक्षित हो रहा है।

जहँ देखों तहं एक ही साजन का दीदार।

बार-बार देखकर भी जी नहीं भरता, हृदय नहीं अघाता। आँखें जितनी देखती हैं उतनी ही और देखने की इच्छा बढ़ती जाती है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसा महोत्सवम्।

एक अपरिचित 'अतिथि' के लिए अल्हड़ शकुन्तला के हृदय में 'अनुराग' उत्पन्न हो जाना प्रकृति की आदिम वासना की सजीव साध है। कण्व के आश्रम में अपनी सहेलियों के साथ शकुन्तला पौधों के आलवालों में जल डाल रही है। आश्रम में वृद्ध मुनि कण्व के अतिरिक्त माता गौतमी एवं दो सखियाँ, प्रियंवदा तथा अनसूया हैं। संयम के कठोर परिवेष्टन में शकुन्तला का सहज-अज्ञात यौवन मर्यादा की चादर ओढ़े अँगड़ाई ले रहा है। उस अज्ञात यौवन की पावन अथच मादक सुरभि से समस्त वातावरण मँह-मँह करता है। तपोवन के उस पवित्र वातावरण में भी साधना के कठोर नियमन के भीतर लावण्य की ललित लीला अलक्ष्य रूप में लक्षित हो रही है। वेणी में गूँथे हुए फूलों की सुरभि तथा रूप-माधुरी के आकर्षण से एक ढीठ भौंरा शकुन्तला का पीछा कर रहा है। उसके आघात से रक्षा करने के बहाने आश्रम-मृग का पीछा करते हुए मृगया-विहारी दुष्यन्त आश्रम की उस एक-मात्र अबोध 'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' हरिणी पर अपने विषय-बुझे बाण छोड़ता है। शकुन्तला का सरल निश्छल हृदय इस अचानक आघात के लिए तैयार नहीं था। वह इस ढीठ 'भौंरे' से अपने को बचाने में सर्वथा असमर्थ थी। दुष्यन्त के बाण सीधे शकुन्तला के हृदय में प्रवेश कर गए। चिर-संचित साधना एवं संयम का बाँध सहसा एक झटके में टूट गया। दुर्वासा का अभिशाप तो ऋषि-कन्या की अनन्य साधना एवं अखंड प्रेम तथा निःशेष आत्मसमर्पण को और भी अधिक तेजोमय, दीप्ति-

मय कर देता है। लोक-संग्रह की दृष्टि से शकुन्तला का यह ऐकान्तिक प्रेम एवं तज्जन्य स्खलन भले ही 'अशिष्ट' कहा जाए, परन्तु आश्रम की एकमात्र शृङ्गार उस भोली कन्या के दर्द-भरे, चोट-खाये हृदय की व्यथा को सहानुभूति एवं सहृदयता से देखनेवालों को तो अग्निशर्मा दुर्वासा पर क्रोध आए बिना न रहेगा। क्रोध की मूर्ति उस तपस्वी ब्राह्मण को क्या पता कि प्रेम की मीठी आँच कैसी होती है और उसमें तड़पते हुए हृदय की कैसी एकान्त तन्मयता होती है, कैसी मीठी बेचैनी होती है। यह तो वही जान सकता है, जिसने प्रेम के बाण को प्यार में नहलाकर अपने हृदय में छिपा लिया है और जो अपने इस 'घाव' को हरा बनाये रखने के लिए ही आत्मसमर्पण की चिर-स्निग्ध आराधना में, प्राणधन की सुन्दर सुमधुर स्मृति में अपने-आपको सर्वथा मिटा देता है, निःशेष कर देता है। क्रोधावतार दुर्वासा इस आशा में थे कि आश्रम-कन्या सदा की भाँति उठकर उनका स्वागत-सत्कार करेगी, परन्तु वह तो आज अपने प्राणधन की मधुर स्मृति में बेहोश थी, उसे क्या पता था कि दुर्वासा कहाँ आये, कहाँ गये।

जाके लगै सोई पै जाने प्रेम-बान अनियारो।

मिथिलेश-नन्दिनी सीता सखियों के साथ पार्वतीजी की पूजा करने के हेतु जनकपुर की फुलवारी में जाती हैं। राम भी पूजा के लिए पुष्प लाने गये हैं। बार-बार सीता की आँखें राम की अतुल छवि की ओर आकृष्ट हो जाती हैं: 'भयेउ विलोचन चारु अचञ्चल'। निर्निमेष नेत्रों से वह एकटक राम की ओर देखने लगती है। 'प्रीति पुरातन' का स्मरण हो आता है, और वह सारी सुध-बुध खो देती है। रोमाञ्च, वैवर्ण्य एवं प्रस्वेद तो फिर स्वाभाविक ही है, और वह अपने अन्तःस्तल की एकमात्र साध जगज्जननी पार्वती के चरणों में किस संकेत-भरी भाषा में व्यक्त कर रही है—

मोर मनोरथ जानहुँ नीके, बसहु सदा उरपुर सब ही के।

करील-कुञ्जों की सघन छाया के नीचे राधा के पाँय पलोटते हुए तथा 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' की याचना करते हुए रसिकशेखर श्रीकृष्ण को हमने बहुधा देखा है। हमने उन्हें 'राधे, राधे' की टेर लगाते कुंज-कुंज भरमते-भटकते देखा है और राधारानी के न मिलने पर आँसुओं की जमुना बहाते भी देखा है, परन्तु वही प्रेमी जब अपनी प्राणाधिका राधिका को पाकर अपने-आप पर गर्वित हो जाता है और सहसा वंशीनिनाद के आवाहन एवं परस्पर प्रणय-संलाप के अनन्तर अन्तर्धान हो जाता है तो उस राधारानी और सहस्र-सहस्र गोप-कुमारियों के हृदय की अतृप्त लालसा उन कुंजों में आग बिखेरने लगती है।

नदी जैसे स्वाभाविक ही समुद्र की ओर दौड़ती है, वैसे ही जीव-जीव के

हृदय में आनन्द-लिप्सा भी प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है। समुद्र जैसे आनन्दोन्मत्त हो नदी में प्रविष्ट होकर नदी को भी तरंगपूर्ण और आनन्दमय कर देता है, वैसे ही 'वे' आनन्दसिन्धु भी करते हैं। निजानन्द सम्भोग लिये 'उन' की स्पृहा का कभी अन्त नहीं होता। उनके पुकारने का न आदि है न अन्त। वे सभी समय सबको बुला रहे हैं। जिस प्रकार पति-पत्नी की भाषा मधुर होने के साथ अस्फुट होती है, उसी प्रकार प्रेमी और प्रियतम का परस्पर-संलाप भी अस्फुट और मधुर होता है।

मूर्ख लोगों ने मजनूँ से नादानी से पूछा कि लैला में क्या सुन्दरता है, वह तो कुछ भी सुन्दर नहीं है, काली-कलूटी है। उससे उत्तम लाखों प्रेमिकाएँ शहर में चाँद के समान सुन्दर और हाव-भाव में उससे सर्वथा श्रेष्ठ हैं। तुम इन सबमें से जिसको चाहो चुन लो। मजनूँ ने उत्तर दिया कि सूरत तो एक पात्र है और यौवन उसमें भरी हुई सुरा। ईश्वर मुझको उसी के प्याले से सुरा का पान कराता है—तुम लोग पात्र को देखते हो परन्तु वह सुरा तुम्हें नहीं दिखाई देती। प्रणय—जिसे 'आध्यात्मिक परिणय' कह सकते हैं, स्थूल दृष्टि से देखने-जानने-समझने की चीज नहीं है, इसे तो वही जानता है जो 'भुक्तभोगी' है और जिसके हृदय की आँखें खुली हैं।

भग्न-मनोरथा महासती पार्वती ने मन्मथमथन भगवान् महादेव को पंचशर-मदन एवं असमय वसंत के विविध उपकरणों से जीतना चाहा था। वसन्त ऋतु के समय न मालूम किस नैसर्गिक नियम के अनुसार सभी नर-नारियों के हृदय में, प्राण में आनन्दोल्लास का एक प्रबल वेग आ उपस्थित होता है। उस समय विश्व-प्रकृति के अन्दर भी इस आनन्द की उत्तेजना दिखाई देती है। समस्त दिशाएँ निर्मल एवं स्निग्ध मलय-समीर के हिलोर से नरनारियों के हृत्पिण्ड के ताल-ताल में उनके मन को भी नचाने लगती हैं। एक अनिर्वचनीय आनन्द से उन्हें मतवाला कर देती है। शाखा-प्रशाखा में नवीन मंजरी, वृक्षावलियों में नूतन किसलय, नवकुसुम कलिकाओं की शोभा और उसके साथ-साथ सुगन्ध का संचार प्राणों में एक अपूर्व स्पन्दन की जागृति करा देता है—मानो किसी के साथ मिलने की, किसी का अंग-सग प्राप्त करने की आकांक्षा से समस्त चित्त उत्क्षिप्त हो उठता है। प्रेमी और प्रेमिका की चित्त-कलियाँ किसी के संकेत से मानो विकसित हो उठती हैं, कोई मानो उसका बिलकुल अपना-सा है जिसे पाने की आशा में चित्त उन्मत्त हो उठता है। अकाल वसन्त के आगमन से भँवरा और भँवरी एक ही कुसुम-पात्र में मधु-पान करने लगे, कृष्णसार मृग अपने सींग से अपनी प्रणयिनी हरिणी का शरीर खुजलाने लगा और वह स्पर्श-सुख में विभोर हो गई।

सब के हृदय मदन अभिलाखा
लता निहारि नवहिं तरुसाखा।
नदी उमँगि अंबुधि कहँ धाई
संगम कर्हाहं तलाव तलाई॥

वास्तव मदन शिव को विचलित तो कर सका, पर स्वयं भस्मीभूत हो गया। उसके पश्चात् पार्वती ने जो घोर तपश्चर्या की, वही शृङ्गार के मनोभाव का सहज रूप है। वह कहती है—

महादेव अवगुन सदन विष्णु सकल गुन धाम।
जेहि के मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥

उसके मन में 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'— सौन्दर्य वह जो प्यारे को रिझा सके—रम गया था। वह अपने इष्ट-साधन की आराधना में अपने-आपको सर्वतोभाव से समर्पित कर देती है। फिर सप्तर्षियों द्वारा जो उसके प्रेम की परीक्षा ली गई है वह तो मनुष्य-जाति का स्त्री-जाति के प्रति सहज आशंका एवं अविश्वास का दयनीय दृष्टान्त है। 'कुमारसंभव' में स्वयं महादेव पार्वती की परीक्षा के लिए एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी के छद्मवेश में आये हैं। नारी सदैव अपने प्राणधन की होकर रही है, जन्म-जन्मान्तर में वह उसी 'एक' का आधार लेकर जन्म और मृत्यु के द्वार लाँघती चली आई है, परन्तु कुटिल मानव उसके इस सर्वान्तिम निःशेष आत्मदान के दिव्य सौन्दर्य को अब तक भी नहीं समझ सका: अब तक भी वह समर्पित नारी को पूर्णतः, एकान्ततः अपना नहीं सका और युग-युग की नारी-साधना पर अब भी पुरुष ने अविश्वास एवं आशंका की काली चादर डाल रखी है।

प्यार का मधु पिलाकर प्रणय के प्रगाढ़ परिरम्भक का रसास्वाद लेकर दुष्यन्त शकुन्तला को तो भूल गया और अपने राज-पाट में मदमत्त हो गया, परन्तु शकुन्तला अपने अधरों पर के उस हृदयहीन के स्नेह-चुम्बनों के दाग को कैसे मिटा पाती? उन्हें मिटाकर वह कहाँ जाती, कैसे जीती? और तो और, वह उस प्रणय-मिलन की उद्दाम वासना का पूर्णतः शिकार हो चुकी थी। वह आपन्नसत्वा, आसन्नप्रसवा हो चुकी थी और इसीलिए राज्योन्माद में प्रमत्त दुष्यन्त के तीव्र प्रत्याख्यान की चोट खाकर वह निराश नहीं होती, साधना में विमुख नहीं होती, अपने को विस्मृत नहीं कर बैठती अपितु, अभिशाप की तपोमय ज्वाला में जलती हुई वह मरीचि के आश्रम में दुष्यन्त की प्रीति-प्राप्ति के लिए आराधना करती है। अकारण लांछिता होकर भी निर्वासिता सीता वाल्मीकि के आश्रम में अपने हृदय-धन की 'मूर्ति' को हृदय में अहर्निश पूजती रहती है। राम को तो लोक-मर्यादा का भार निभाना था, परन्तु अकारण लांछिता होकर जंगलों में 'दोहद' का मनोरंजन कराने के अभिप्राय से उस सती

को लक्ष्मण द्वारा छोड़ आने का भीषण कलंक मानव-जाति का एक ऐसा कलंक है जिसे 'ह्वाइटवाश' किया नहीं जा सकता। वह लांछन, वह कलंक मनुष्य-जाति पर सदा के लिए वज्रलेप-सा लगा हुआ है। रास की फाँस में गोपियों को डालकर लीलामय कृष्ण ने कुब्जा से स्नेह जोड़ा और बेचारे उद्धव गोपियों को 'जोग' की सीख देने की व्यर्थ चेष्टा करते रहे। उन विरहिणी गोपियों के आँसुओं से आज भी हमारा व्रज आर्द्र है। उनके आँसू आज तक नहीं पुंछ पाए।

हम समस्त प्राणी उसी विरहिणी राधा के रूप में हैं जिसे कभी एक क्षण के लिए प्राणवल्लभ कृष्ण ने रास का आनन्द दिया और अनेक प्रकार से अपना लीला-कुतूहल पूरा किया; परन्तु अब वे हमें 'नग्न' छोड़कर चले गये हैं। हमारे हृदय में वंशी की टेर, नूपुरों की रुनझुन, कालिन्दी-कूल एवं करीलकुँज तथा वंशीवट अभी भी व्याप्त है। रह-रहकर हमारा मन न जाने कैसा-कैसा करने लगता है। हम सभी उस एक 'कृष्ण' के विरह में क्षुब्ध एवं कातर है, वही हमारे हृदय की निधि एवं प्राणों का सर्वस्व है। मीरा के शब्दों में कृष्ण के सिवा अन्य कोई पुरुष है ही नहीं। हम सभी इन विरहिणी गोपियों के रूप में, तपःपरायणा अपर्णा पार्वती एवं अभिशप्त शकुन्तला के रूप में अपने प्राणवल्लभ की खोज में 'अभिसार' कर रहे हैं। आत्मा का यह कृष्णाभिसार ही शृङ्गार का प्राण है जब हम अन्तस् के प्रकाश में उसके पथ में चल पड़ते हैं—

In that happy night,
In secret, seen of none,
Seeing nought myself
Without other light or guide
Save that which in my heart was burning
O guiding night,
O night more lovely than the dawn,
O night that hast united
The lover with her Beloved
And changed her into Love!

यही प्रणयी के साथ प्रणयधन प्रियतम का एकान्त मधुर-मिलन है। इस मिलन में उस प्रियतम की शोभा और भी बढ़ जाती है। यदि प्रेमी नहीं होता, यदि ये प्रणय-तपस्विनियाँ नहीं होतीं, यदि इनके प्राणों में अभिसार की इतनी चाह न होती तो उस अपार आनन्द का सम्भोग कौन करता? इसी आनन्द-मधु में छककर प्रेमी और प्राणधन दोनों बेसुध हैं—कोई किसी से कुछ प्रश्न नहीं करता—

I will draw near to thee in silence and uncover thy feet that it may

please thee to unite me to Thyself. Make myself thy bride and I will rejoice in nothing till I am in thy arms.

विश्व के अणु-अणु में उसी की मधुर छवि छलक रही है। परन्तु हम उसे सर्वांगरूपेण पाना चाहते है। उसके बिना हमारा जीवन अधूरा है, अपूर्ण है, नीरस है, अकारथ है। उसे पाए बिना हमें क्षण-भर भी कल नहीं: हम अरुणांशुकवसना उषा, नीलनभ में अँगड़ाई लेती हुई संध्या, तारों के गजरे पहनी निशा का सुस्निग्ध रूप-लावण्य देखते है और हमारे हृदय में ये सभी हमारे प्रियतम के मधुर-मिलन की स्मृति उद्दीप्त करते है, उत्कंठा जगाते हैं। एक-एक अणु-परमाणु में मिलन की मधुर लीला हो रही है। यह सब-कुछ हमारे प्राणधन के प्रणय मे शराबोर है। इसी मे तो यह जगत् इतना सुन्दर है। इसी से इस आकाश और समुद्र मे इतना आनन्द उमड़ रहा है। इसी मे शैल-सलिल और अनल-अनिल में उस परम प्रेमी के रूप और आनन्द का बाज़ार लग रहा है।

"मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो—
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ।"

मधुर-रस का स्वरूप और उसकी व्यापकता

मधुर-रस के सम्बन्ध में उपनिषदों में यत्र-तत्र संकेत रूप में उल्लेख मिलता है। पुराणों में श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त्त में इसका बड़ा ही भव्य एवं दिव्य वर्णन है और यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त्त ही मधुर-रस के आकर ग्रन्थों में मुख्य एवं शिरोमणि हैं। बृहद् गौतमीय तंत्र, ब्रह्म-संहिता, सम्मोहन तंत्र आदि ग्रंथों में भी इस तत्त्व की विशद् व्याख्या है। कतिपय अन्य संहिताओं में भी मधुर-रस की विवृत्ति है; परन्तु भक्ति का जैसा सांगोपांग मार्मिक, वैज्ञानिक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गौड़ीय वैष्णवों ने इसका पुंखानुपुंख विचार किया है। अस्तु, यहाँ श्रीरूपगोस्वामी के 'हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' के आधार पर मधुर-रस के सात्विक स्वरूप एवं रहस्य का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन—यह जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन है। इसमें गूढ़ तत्त्व यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपर्यय धर्म को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् आदर्श जहाँ सर्वोतम होता है, प्रतिफलन सर्वाधम; आदर्श जहाँ अत्यन्त निम्नकोटि का होता है, प्रतिफलन अत्यन्त उच्चकोटि का। दर्पण में जैसे प्रतिविम्ब उलटा पड़ता है, वही दशा यहाँ भी है। चिज्जगत् का परम दिव्य अपूर्व रस जड़ जगत् में विपर्यस्त होकर स्थूल रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः परम तत्त्व रस रूप है। उसकी अद्भुत विविधता है। इस जगत् में उसकी जो परछाई है, उसी का अवलम्बन करके आगे बढ़ा जाए तो उस अतीन्द्रिय रस का अनुभव हो सकता है।[1]

चिज्जगत् के रस और जड़ जगत् के व्यापार—चिज्जगत् के अत्यन्त निम्न भाग में है शान्त-रस, उसके ऊपर दास्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर वात्सल्य-रस और सबसे ऊपर है मधुर-रस। इस जड़ जगत् मे विपर्यस्त प्रतिफलन के द्वारा मधुर-रस सबसे नीचे है। उसके ऊपर है वात्सल्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर दास्य-रस और सबसे ऊपर शान्त-रस। दिव्य मधुर-रस की जो स्थिति और क्रिया है, वह इस जड़ जगत् में नितान्त तुच्छ और लज्जास्पद है। चिज्जगत् मे पुरुष और प्रकृति का सम्मेलन अत्यन्त पवित्र एवं तत्त्वमूलक है। चिज्जगत् में एकमात्र भगवान् ही भोक्ता है। शेष समस्त

---

१. द्रष्टव्य—जैव धर्म, अध्याय २१।

चित्सत्वगण प्रकृति रूप में उनके भोग्य हैं। इस जड़ जगत् में कोई जीव भोक्ता है और कोई भोग्या। इस प्रकार मूल तत्त्व के विरोध में यह सारा व्यापार लज्जाजनक एवं घृणास्पद हो जाता है। तत्त्वतः जीव जीव का भोक्ता हो नहीं सकता। समस्त जीव भोग्य हैं, एकमात्र भगवान् ही भोक्ता हैं। कहाँ जीव-जीव का उपभोग और कहाँ भगवान् और जीव का उपभोग! परन्तु इस हेय के भीतर से भी एक अत्यन्त उपादेय तत्त्व उपलब्ध हो जाता है। कैसे, इसका विवेचन आगे करेंगे।

मधुर-रस का आश्रय और विषय—भगवान् ही मधुर-रस के विषय हैं और उनकी वल्लभाएँ इस रस का आश्रय हैं। दोनों मिलकर रस के आलम्बन हैं। मधुर-रस के विषय भगवान् हैं परम सुन्दर, परम मधुर, नवजलधर-वर्ण, सर्व-सल्लक्षणयुक्त, बलिष्ठ, नवयौवनशाली, प्रियभाषी, विदग्ध, कृतज्ञ, प्रेमवश्य, रमणीजन-मनोहारी, नित्य-नूतन, अतुल्यकेलि, सौन्दर्यशाली, प्रियतम, वंशीवादन-शील श्रीकृष्ण। उनके चरणों की नखद्युति कोटि-कोटि कन्दर्पों का दर्प चूर्ण कर देती है और उनके कटाक्ष से सबका चित्त विमोहित हो जाता है।

नायक-चूड़ामणि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ जो लीला-विलास है, वही है मधुर-रस की आत्मा। इसका स्थायी भाव है दोनों की प्रियता या मधुरा रति[1] जो दोनों को दोनों से संयोग की प्रेरणा देती रहती है। युक्त विभावों-अनुभवों आदि के द्वारा जब यह रति भक्तों के हृदय में रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचती है, तब इसे भक्ति-रसराज 'मधुर-रस' कहते हैं।[2] कृष्ण का कान्तत्वेन स्फुरण ही मुख्यतः इस रस का आधार है, पर कान्त को दोनों ही भाव में लिया जा सकता है—पति-रूप में, उपपति-रूप में। शृंगार रस का तो उपपति-रूप में ही परमोत्कर्ष माना जाता है। शृंगार का चिद्व्यापार एक रहस्यमणि की माला की तरह है तो उसमें परकीय मधुर-रस को उस मणिमाला में कौस्तुभ विशेष मानना चाहिये। जैसे शान्त से दास्य में, दास्य से सख्य में, सख्य से वात्सल्य में और वात्सल्य से मधुर में इसका अधिकाधिक उत्कर्ष होता चला जाता है, उसी प्रकार स्वकीय की अपेक्षा परकीय में रस अपने चरमोत्कर्ष

---

१. मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥
—उज्ज्वल नीलमणि।

श्रीकृष्ण की द्विविध लीलाओं में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की लीला श्रेष्ठ है
—दे० जीव गोस्वामी का 'प्रीति सन्दर्भ', पृ० ७०४-१५।

२. स्वाद्यंता हृदि भक्तानां आनीता।
—उ० नी० म०।

पर आ जाता है।[1]

परकीया भाव की रसात्मक उत्कृष्टता—श्रीकृष्ण का अवतार ही रसास्वादन के लिए हुआ।[2] परकीया या तो कन्यका हो सकती है या प्रौढ़ा। लोकदृष्ट्या यह भाव गर्हित हो सकता है, पर यह परकीया-भाव ही वैष्णवों का परमादर्श हुआ और इसी का आधार लेकर आत्माएँ अपने-आपको सर्वभावेन श्रीकृष्ण को समर्पित करती रही हैं।[3] श्रीकृष्ण के इसी भाव को लेकर वैष्णव शास्त्रों ने द्वारका में उन्हें पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर तथा ब्रज में पूर्णतम माना है। नायक-नायिका परस्पर अत्यन्त 'पर' होकर जब राग की तीव्रता द्वारा मिलते हैं, तब एक अद्भुत आनन्द-रस का संचार होता है; यही है परकीय रस। गोपियों और श्रीकृष्ण का प्रेम अपनी सघनता, प्रच्छन्न कामना तथा विवाह के अव्यक्तत्व के कारण ही परकीया भाव की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ।

नित्य गोलोक और नित्य चिन्मयी लीला—यह लक्ष्य करने की बात है कि श्रीकृष्ण की चिन्मयी लीला नित्य है। उस नित्य गोलोक की नित्य चिन्मयी लीला में कृष्ण-कृपा से दिव्य देह से प्रवेश का विषय आगे यथास्थान आयेगा। यहाँ इतना ही निवेदन करना अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण त्रिपाद-विभूति चिज्जगत् हैं और जड़ जगत् में एक-पाद-विभूति है। एक-पाद-विभूति चतुर्दश

---

१. अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।—उ० नी० म०।

परकीया भाव के सम्बन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि 'यन्तः गोकुले स्वीयापि चित्रादि शङ्कया परकीया इव।' जीव गोस्वामी ने अपने 'प्रीति-सन्दर्भ' (पृ० ६७६-८६) में विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ विहार 'प्राकृत काम' नहीं है, प्रत्युत शुद्ध प्रेम है और प्रकट लीला में ही स्वकीय-परकीय का प्रश्न उठता है। 'वस्तुतः परम स्वीयापि प्रकटलीलायां परकीयामानाः श्री ब्रजदेव्यः।'

२. न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थं अवतारिणि।—उ० नी० म०।

'श्रीकृष्ण-सन्दर्भ' में जीव गोस्वामी ने ब्रजलीला की रहस्यमय परम दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि मथुरा और द्वारका की गोपियाँ श्रीकृष्ण की 'स्वरूपा शक्ति' हैं। गोपियों का परकीया भाव वस्तुतः है नहीं, वह प्रकट वृन्दावन-लीला में आभास मात्र है। इतना ही नहीं, उनका कहना है कि ब्रज-सुन्दरियों का कभी अपने पतियों के साथ संगम हुआ ही नहीं। 'न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।—उज्ज्वल नीलमणि

3. Even if orthodox Poetics deprecates love to a married woman, she is according to Vaisnava's idea, the highest type of heroine and forms the central theme of the later Parakiya doctrine of the school in which the love of the mistress for her lover becomes the universally accepted symbol of the soul's passionate devotion to God.

—S. K. De : Vaisnava Faiths & Movements, p. 54

लोकात्मक मायिक विश्व है। मायिक विश्व एवं चिज्जगत् के बीच 'विरजा' नदी है और विरजा के पार है चिज्जगत्। ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम इस चिज्जगत् को वेष्टन प्राकार की तरह घेरे हुए है। उसे भेद करने पर परव्योम संव्योम रूप बैकुण्ठ दीखता है। बैकुण्ठ प्रबल है। यहाँ के राजराजेश्वर हैं अनन्त-चिद्विभूति-परिसेवित नारायण। बैकुण्ठ है भगवान् का स्वकीय रस। श्री, भू आदि शक्तिगण स्वकीय स्त्री रूप में उनकी सेवा उस लोक में करती रहती हैं। बैकुण्ठ के ऊपर है गोलोक। बैकुण्ठ में स्वकीया पुर-वनितागण यथास्थान सेवा में तत्पर रहती हैं और गोलोक में व्रज-वनितागण निज रस में कृष्ण-सेवा करती रहती हैं।

ब्रजसुन्दरियों के प्रकार-भेद—इन ब्रजवनिताओं के कई भेद हैं और इनका प्रकार-भेद काव्यशास्त्र के अनुसार किया गया है—स्वकीया और परकीया। इनमें से प्रत्येक के तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। इनमें 'मान' के आधार पर मध्याऔर प्रगल्भा के भेद हैं—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। नायक के साथ इनके सम्बन्ध के आधार पर पुनः इनके आठ भेद हैं—१. अभिसारिका, २. वासकसज्जा, ३. उत्कंठिता, ४. खंडिता, ५. विप्रलब्धा, ६. कलहान्तरिता, ७. प्रोषितभर्तृका और ८. स्वाधीनभर्तृका। नायक के प्रति प्रेम के आधार पर पुनः उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा—ये तीन भेद हैं।

सखी-भेद—यह तो हुआ सामान्य शास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन; परन्तु भक्तिशास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन सर्वथैव नूतन और भक्ति-रसराज मधुर-रस में वही गृहीत है—
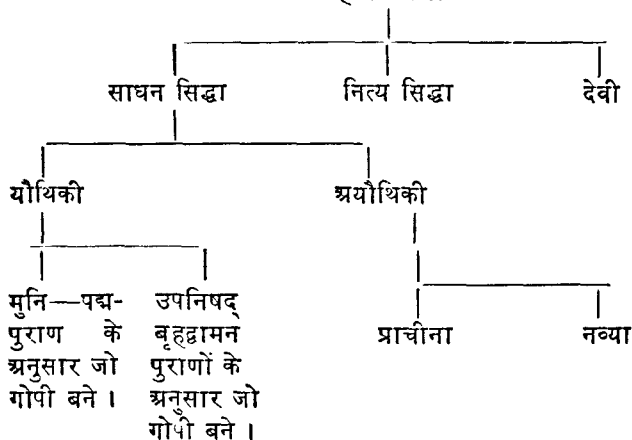
नित्यसिद्धाओं में श्री राधा वृन्दावनेश्वरी, श्रीकृष्ण की नित्य सहचरी, परम प्रियतमा ह्लादिनी महाशक्ति हैं। राधा की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं—सखी, नित्यसखी, प्राण सखी, प्रिय सखी और परम प्रेष्ठ सखी।

ब्रज-रस—यह एक बात ध्यान में रहे कि कोटि-कोटि मुक्त पुरुषों में एक भगवद्भक्त दुर्लभ है। जो लोग अष्टाङ्ग योग या ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्ति पा जाते हैं, वे ब्रह्मधाम में ही आत्मानुभूति का आनन्द लेते रहते हैं। जो भगवान् के ऐश्वर्यपरायण भक्त हैं, वे लोग भी गोलोक में नहीं जाते। वे बैकुण्ठ में अपने भावानुसार भगवान् की ऐश्वर्य-मूर्ति की सेवा करते रहते हैं। जो लोग ब्रजरस से भगवान् का भजन करते हैं, वे ही गोलोक देख पाते हैं। गोलोक में शुद्ध चित् प्रतीति है। गोलोक स्वप्रकाश वस्तु है। भक्तों के हृदय में गोलोक प्रकाशित होता है।
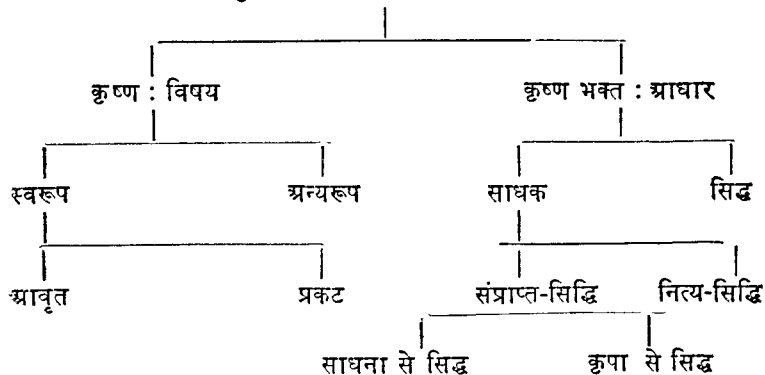
नायक भेद—नायक के चार भेद—१. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ और ४. धृष्ट। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत।

सहायक भेद—नायक के सहायकों के पाँच भेद हैं—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्दक और प्रियनर्मसखा। दूती के दो प्रकार—स्वयं और आप्त। विभिन्न चेष्टाओं और संकेतों से, जैसे भ्रू-विलास, अधर-दंशन आदि द्वारा जो नायक को नायिका की ओर आकृष्ट करती है, वही स्वयं दूती है। आप्त दूती वह है, जो नायक का पत्र आदि ले जाती है। उनके तीन-तीन भेद हैं—अमितार्था, विसृष्टार्था और पत्र-हारिका। इनमें शिल्पकारी, दैवज्ञा, लिंगिनी, परिचारिका, धात्रेयी, सखी, वनदेवी आदि कई भेद हैं। संकेत वाच्य भी हो सकता है, व्यंग्य भी; साक्षात् भी हो सकता है अथवा व्यपदेशेन भी।

परकीया में रस की उत्कृष्टता क्यों?—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में पति भाव से और ब्रजपुरी में उपपति भाव से लीला करते हैं। सकल ब्रजवासिनी ललनाएँ ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परकीया हैं। कारण कि परकीया के अतिरिक्त मधुर-रस का अत्यन्त उत्कृष्ट विकास हो नहीं सकता। थोड़ा इसे विस्तार से समझना आवश्यक प्रतीत होता है। स्त्रियों

में जो वामता, दुर्लभता, निबन्धन, निवारणादि प्रतिबन्धकता है, वही है कन्दर्प का परम आयुध। जहाँ निषेध विशेष है और ललना दुर्लभ है, वही नागर का हृदय अतिशय आसक्त होता है। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण गोप हैं। वे गोपी के सिवा किसी से रमण करते नहीं। गोपीगण जिस भाव से श्रीकृष्ण का भजन-सेवन करती थीं, शृंगार-रसाधिकारी साधक भी उसी भाव से कृष्ण का भजन करते हैं। भावनामार्ग से अपने को ब्रजवासी मानकर किसी सौभाग्यवती ब्रजवासिनी की परिचारिका भाव से उसके निर्देश पर राधा-कृष्ण की सेवा करने का विधान है। अपने को परोढ़ा जाने बिना रसोदय होगा नहीं। यह परोढ़ाभिमान ही ब्रजगोपीत्व धर्म है। श्री रूप गोस्वामी लिखते हैं—

मायाकल्पित तादृक् स्त्री शीलनेनानसूयुभिः।
न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।

ब्रजवासी भाव—परन्तु यह प्रश्न उठता है कि पुरुष साधक अपने को 'परोढ़ा' किस प्रकार माने ? पुरुष इस 'परोढ़ाभिमान' को कैसे सिद्ध कर सकेगा ? उत्तर यह है कि पुरुष मायिक स्वभाववशतः ही संसार में अपने को पुरुष समझता है। शुद्ध चित्स्वभाव में कृष्ण के अतिरिक्त यावत् जीवमात्र स्त्री हैं। चिद्गठन में वस्तुतः स्त्री-पुरुष चिह्न है नहीं, इसलिए कोई भी ब्रजवासिनी होने का अधिकार लाभ कर सकता है। जिन्हें मधुर-रस की स्पृहा है, उन्हें तो ब्रजवासिनी होना ही पड़ेगा। स्पृहा के अनुरूप साधना करते-करते सिद्धि का उदय होता है।

प्रसाधन
वसन
आकल्प
मण्डन आदि (रत्ननिर्मित वा कुसुमक्लृप्त)
युग
चतुष्क
भूयिष्ठ
कंचुक
उष्णीश
तुडबंध
आन्तरायिक
केशबंधन
आलेप
माला
चित्र (मकरी, पत्रभंग आदि)
विशेषक (तिलक)
ताम्बूल
केलिपद्म आदि
चूड़ा
कबरी
जूट
वेणी
श्वेत
पीत
अरुण
पांडुर
पीत
कर्बुर
वैजन्यती
रत्नमाला
वनसृज्
श्वेत
पीत
अरुण
किरीट
कुण्डल
हार
चतुष्की
वलय
अंगुरीयक
केयूर
नूपुर आदि
अन्यान्य
स्मित
अंगसौरभ
शृंग
कंबु
नूपुर
पदांक
क्षेत्र
तुलसी
पर्व-वासर
वंश (बाँस)
भक्त
इत्यादि
वेणु
मुरली
वंशी
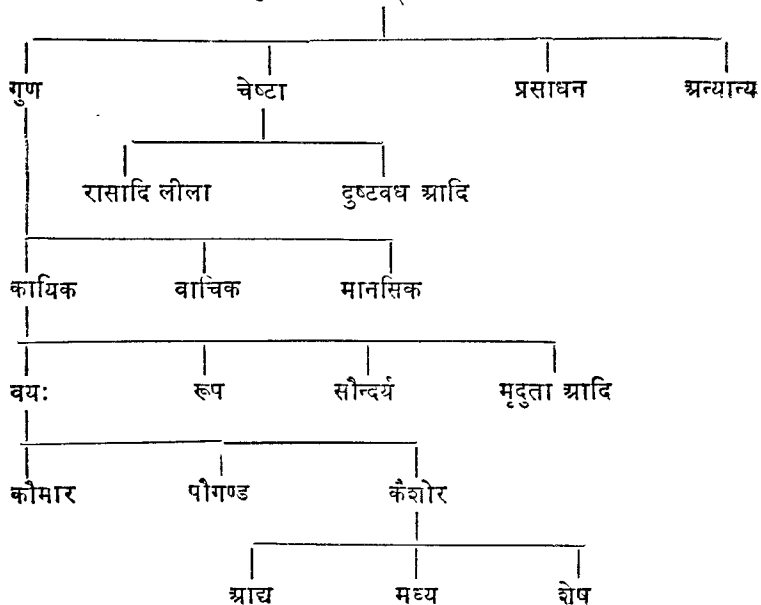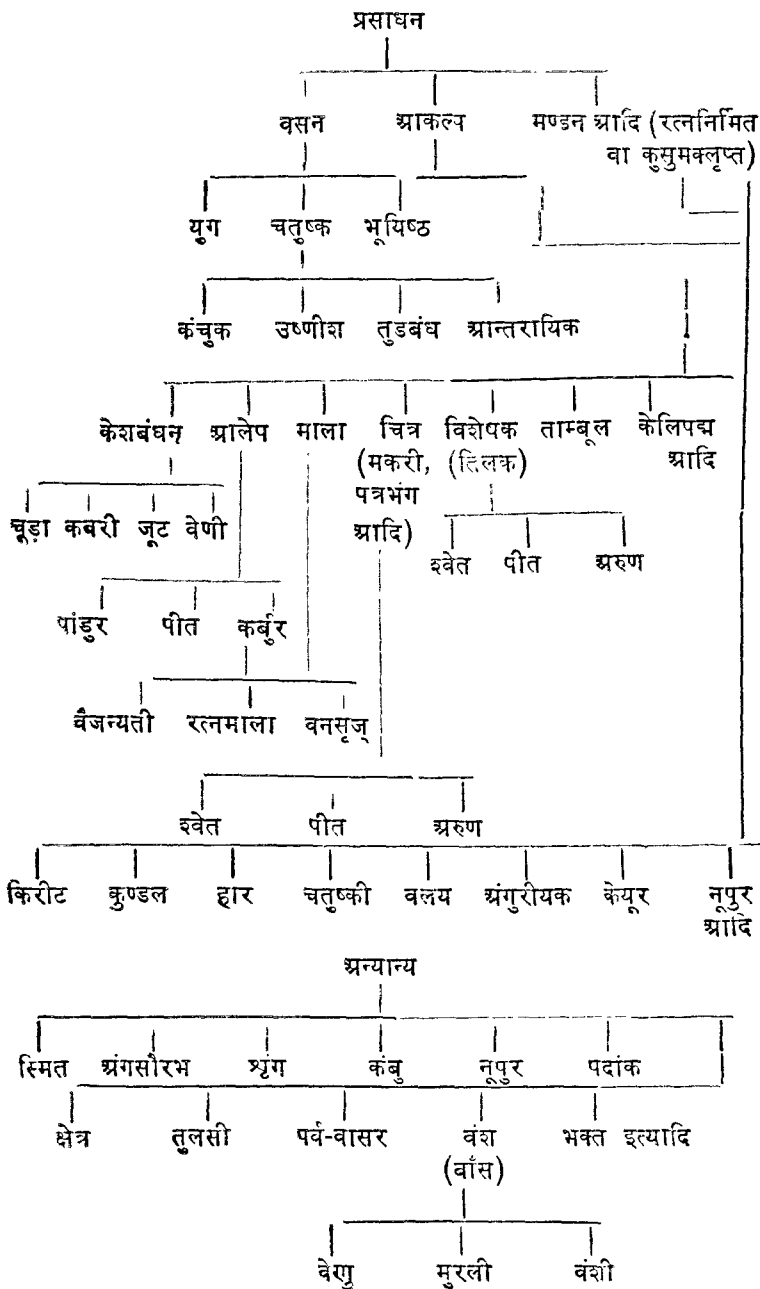
मुख्य भक्तिरस के रंग आदि

मुख्य भक्ति रस

रस—	शान्त	प्रीति	प्रेयस्	वात्सल्य	मधुर
भाव—	शान्त	विश्वस्त	मित्रता	स्नेह	प्रियता
रंग—	श्वेत	चित्र	अरुण	शोण	श्याम
देवता—	कपिल	माधव	उपेन्द्र	नृसिंह	कृष्ण

गौण भक्ति-रस

रस—	हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रौद्र	भयानक	वीभत्स
रंग—	पांडुर	पिङ्गल	गौर	धूम्र	रक्त	काला	नील
देवता—	बलराम	कूर्म	कल्कि	राघव	भार्गव	वाराह	मत्स्य अथवा बुद्ध

रति के अनुभाव—कृष्ण रति के अनुभाव—नृत्य, बिलुठित, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुंकार, जृंभन, श्वासभूयन, लोकानपेक्षिता, लालास्रव, अट्टहास, घूर्णा, हिक्का।

अष्ट सात्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु:, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय।

स्थायी भाव—काव्यशास्त्र के अनुसार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद, परन्तु भक्ति-शास्त्र के अनुसार शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त।

व्यभिचारी भाव ३३—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति, बोध।

उद्दीपन विभाव की विशेषता—ऊपर हम उद्दीपन-विभाव का विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं। उद्दीपन में तटस्थ वस्तुओं में वसन्तागमन, कोकिल-कूजन, मेघमाला का घिर आना, चन्द्रदर्शन आदि मुख्य हैं। कायिक सौन्दर्य में रूप, लावण्य, मार्दव आदि मुख्य हैं। यौवन की तीन अवस्थाएँ हैं—नव्य, व्यक्त और पूर्ण। श्रीकृष्ण का नाम, चरित, लीला, उदाहरणार्थ वंशीवादन, गोदोहन, गोवर्धन-धारण आदि, विशेष रूप से उद्दीपन विभाव में आते हैं।

वृन्दावन, इसके वृक्ष, नदियाँ, कुंजें, गुल्मलता, पुष्प, पक्षी, पशु आदि भी प्रेम को उद्दीप्त करते हैं।

अनुभावों की विशेषता—अनुभावों का विवरण भी ऊपर की तालिका में आ गया है। उसमें बाईस अलंकार, सात उद्भास्वर और तीन अङ्गज हैं। अङ्गज अनुभावों में भाव, हाव, हेला और स्वभावज में लीला, विलास, विच्छित्ति, मोट्टायित आदि मुख्य हैं। 'लीला' का अर्थ है प्रियतम के चरित्र का क्रीड़ामय अनुकरण; 'विलास' का अर्थ है क्रीड़ा के संकेत; 'विच्छित्ति' का अर्थ है अलंकरण और 'मोट्टायित' का अर्थ है इच्छा का स्पष्ट उल्लेख। ये सब तो काव्यशास्त्र की परम्परा में भी हैं, पर सात उद्भास्वर सर्वथा नये हैं—वे हैं नीवीविस्त्रंसन, उत्तरीय-स्खलन, जृंभा—जमुहाई लेना, केशसंस्रन इत्यादि। ये वस्तुतः विलास और मोट्टायित के अन्तर्गत आ जाते हैं। द्वादश वाचिक अनुभावों में हैं आलाप, विलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश और व्यपदेश।

अष्टसात्विक भाव तो काव्यशास्त्र की तरह ज्यों-के-त्यों यहाँ भी हैं, परन्तु उनकी चार अवस्थाएँ हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त।

मधुरा रति के भेद (नायिका की दृष्टि से)—नायिका की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद हैं—(१) साधारणी, आत्मतर्पणैकतात्पर्या—जिसमें अपनी ही तृप्ति मुख्य है—जैसे कुब्जा। यह प्रेमावस्था तक जाती है। (२) समंजसा—उभयनिष्ठारति—जिसमें अपना सुख और कृष्ण का सुख समान रूप से अपेक्षित है—जैसे रुक्मिणी। यह अनुराग अवस्था तक जाती है। (३) समर्था केवल कृष्णार्थ—जैसे गोपियाँ। यह महाभाव अवस्था तक जाती है।

मधुरा रति के भेद (भावों के अनुसार)—(१) प्रेम—प्रेम का अर्थ है भावबन्धन। यही है रति का अमर बीज और उत्कृष्टता की दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—प्रौढ़, मध्य और मन्द। (२) स्नेह—यह प्रेम की विकसित एवं उन्नत अवस्था है। शब्द सुनकर, रूप देखकर या स्मृति में हृदय द्रवित होता है क्योंकि 'हृदय-द्रावण' इसका मुख्य लक्षण है। इसमें भी उत्कृष्टता की दृष्टि से तीन भेद हैं—श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। इस स्नेह के दो मुख्य भेद हैं—

घृत स्नेह और मधु स्नेह—(क) घृत स्नेह—अखण्ड घृतधारावत, उत्कंठा—घृत की तरह तरल भी, घना भी। रति का उदय।

(ख) मधु स्नेह—अखंड और मधुर। रति स्थिर हो जाती है।

(३) मान—अर्थात् प्रेमातिरेक की अवस्था में उपेक्षा का अभिनय। इसके दो भेद—उदात्त (घृतस्नेहवत्) और ललित (मधुस्नेहवत्)।

(४) प्रणय—विश्रंभ—इसके मुख्य दो भेद (१) मैत्र और (२) सख्य। उदात्त और ललित के सम्पर्क मे इन दोनों प्रकार के प्रणय के फिर दो भेद होते हैं—सुमैत्र और सुसख्य। विकास-क्रम में इसकी गति होती है—

प्रणय के भेद तथा विकास-क्रम—	स्नेह	प्रणय	मान
		अथवा	
	स्नेह	मान	प्रणय

राग और उसके भेद—(५) राग—शृंगार में दुःख का सुख में बदलना। इसके दो रंग माने गए हैं—(१) नीलिमा या (२) रक्तिमा। नीलिमा के फिर दो भेद—(१) नील राग—जिसका रंग न बदले और अव्यक्त हो या श्याम राग—धीरे-धीरे पूर्णता को प्राप्त होनेवाला और ज़रा-ज़रा प्रकाशित। रक्तिम राग के भी दो भेद—कुसुम राग—हलके रंग का—जो जल्दी दूसरे राग में घुल जाए और दूसरे रागों को अभिव्यक्त करे या मंजिष्ठ राग—स्थायी और स्वतन्त्र।

(६) अनुराग—नित्य नूतन प्रेम। इसके कई स्तर हैं—(१) परवशीभाव आत्मसमर्पण और (२) प्रेमवैचित्य-विरह की स्नेहमयी आशंका, (३) अप्राणि-जन्य—प्यारे के स्पर्श पाने के लिए निर्जीव वस्तुओं के रूप में जन्म लेने की आकांक्षा और (४) विप्रलंभ-विस्फूर्ति-विरह में प्रिय की झलक।

(७) भाव या महा भाव—(१) रूढ़—जहाँ सात्विकों की परम उद्दीप्त स्थिति हो गई है। संभोग या विप्रलंभ दोनों ही अवस्थाओं में (क) निमिष मात्र का भी विरह असह्य हो जाता है (ख) आसन्न जनता के हृदय का विलोड़ित करने की शक्ति होती है, (ग) एक क्षण कल्प की तरह और एक कल्प क्षण की भाँति हो जाता है, (घ) प्रियतम की सुख-अवस्था में भी आर्ति-शका के कारण खिन्नता और (ङ) मोह, मूर्च्छा आदि के अभाव में भी पूर्ण आत्म-विस्मरण।

(२) अधिरूढ़—उपर्युक्त रूढ़ भाव की विशेष उत्कर्ष-दशा। इसके दो प्रकार (क) मोदन-सात्विकों का अत्यंत उद्दीप्त सौष्ठव जो केवल राधा वर्ग में मिलता है। इसी का और विकसित रूप है (ख) मादन—सात्विकों का सुद्दीप्त सौष्ठव—प्रिया के आलिंगन मे होते हुए भी प्रिय का मूर्च्छित होना[1]—तथा स्वयं असह्य दुःख स्वीकार करके भी प्रिय के सुख की कामना[2]—तथा

---

१. कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना।

२. असह्य दुःखस्वीकारादपितत्सुखकामिता।

सारे संसार को दुःखी कर डालने की प्रवृत्ति[१], पशुलोक का रोदन[२]—मृत्यु का वरण करके भी प्रियतम के साथ अङ्ग-सङ्ग की अभिलाषा[३] और अन्त में है दिव्योन्माद। दिव्योन्माद की अवस्था में नाना प्रकार की अवश क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ हो सकती है जिसे 'उद्घूर्ण' कहते हैं। प्रियतम के किसी मित्र से मिलने पर नाना प्रकार की बातचीत हो सकती है, जिसे 'चित्रजल्प' कहते है। इस चित्रजल्प की दस अवस्थाएँ होती है—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प और सुजल्प।

मादन—'मादन' का अर्थ है समस्त भावों का अंकुरित हो जाना। यह केवल राधा में मिलता है। इसका लक्षण है मान के कारण न होने पर भी मान करना और प्रियतम के साथ संभोग की अवस्था में भी विरहाशका या नायक के सम्बन्ध की विविध बातों का चिन्तन-स्मरण।

मधुरा रति का स्थायी भाव ही मधुर रस या शृंगार रस हो जाता है। इसके दो भेद हैं—संभोग और विप्रलंभ। विप्रलंभ के अनेक आवान्तर भेद है[४]।

(१) पूर्वराग—प्रसुप्त प्रेम, मिलन के पूर्व का प्रेम। प्रियतम के प्रथम दर्शन, श्रवण, स्वप्न-दर्शन, चित्रदर्शन से उद्भूत प्रणय-पिपासा। यह 'प्रौढ़', 'समंजस' या 'साधारण' भेद से तीन प्रकार का होता है। प्रौढ पूर्वराग की दस दशाएँ हैं—

लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव (दुर्बलता), जडिमा (शरीर का सुन्न पड़

---

१. ब्रह्मांडक्षोभकारित्व।

२. तिरश्चामपि रोदनम्।

३. मृत्युस्वीकारात स्वभूतैरपि तत्संगतृष्णा।

इस संभतृष्णा का रूप—

'पंचत्वं तनुरेतु भूत निवहा
स्वांशे विशेतुस्फुटम्।
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा
तत्रापि याचे वरम्॥
तद्वापीषु पयस् तदीय मुकुरे
ज्योतिस्तदीयांगने।
व्योम्नि व्योम तदीय वर्त्मनि धरा
तत्तालवन्तेऽनिलाः।'

४. 'रसार्णव सुधाकर' में विप्रलंभ के चार प्रकार हैं: पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा।

जाना), वैवग्र्य (व्यग्रता), व्याधि (पीला पड़ जाना), उल्लास, मोह (मूर्च्छा) और मृत्यु।

समजस पूर्वराग की दस दशाएँ—समंजस पूर्वराग की दस दशाएँ हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति।

साधारण पूर्वराग की छः दशाएँ—साधारण पूर्वराग की छः दशाएँ हैं, जो समंजस पूर्वराग की प्रथम छः के समान ज्यों-की-त्यों अभिलाष से आरम्भ होकर विलाप पर समाप्त हो जाती हैं।

(२) मान[1]—प्रेम की परिणति में बाधा डालने वाला क्रोधाभास। प्रेमास्पद की कोई चेष्टा या 'हरकत' देखकर, सुनकर या अनुमान कर जो मान होता है वह 'सहेतुक' है। मान का दूसरा भेद है निर्हेतुक या कारणाभास सहित। मधुर शब्द से, उपहार आदि से, आत्म-प्रशंसा से अथवा उपेक्षा से मान का उपशमन हो जाता है।

(३) प्रेमवैचित्य—अर्थात् प्रेमास्पद की उपस्थिति में भी विरह की आशंका।

(४) प्रवास—प्रिय के वियोग में मानसिक क्षोभ। प्रवासजन्य क्लेश की दस दशाएँ हैं—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तानव, मलिनांगता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु।

नित्य लीला में नित्य संयोग— नित्य लीला में कृष्ण का ब्रज-देवियों से कथमपि वियोग नहीं होता, क्योंकि इनका मिलन नित्य है। प्रकट लीला में ही श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियों को प्रवासजन्य क्लेश होता है, अर्थात् प्रकट लीला में बाहर-बाहर से देखने-भर को ही श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन होता है, वास्तव में तो सच यह है कि 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।'

सयोग श्रृङ्गार के भेद-उपभेद— संयोग शृंगार के दो भेद हैं—(१)मुख्य और (२) गौण। मुख्य संयोग है साक्षात् प्रकट मिलन और गौण है स्वप्नादि में मिलन।[2] इन दोनों के पुनः चार भेद हैं—(१) संक्षिप्त, (२) संकीर्ण,

---

१. 'मान' शब्द भी 'रस' की भाँति बड़ा ही व्यापक और गम्भीर अर्थ वाला है। हर्ष, विषाद, भय, आशा, अहंकार और क्रोध, प्रेम और वितृष्णा आदि का सम्मिश्रित रूप 'मान' अपने आपमें कितना रहस्यमय शब्द है, बाहर-बाहर से उदासीन और भीतर-भीतर से प्रबल आसक्ति! इसके व्यक्त रूप की कल्पना ही की जा सकती है, चित्रण नहीं।

२. 'रसार्णव सुधाकर' ने भी संयोग के चार उपर्युक्त भेद माने हैं। जीव गोस्वामी ने पूर्व राग के बाद सम्भोग के चार भेद माने हैं और उनका नाम है संदर्शन, संस्पर्श, संजल्प, संप्रयोग।

(३) सम्पन्न और (४) समृद्धियत्। इसके अनेक प्रकार हैं—दर्शन, स्पर्श, मन्द-मन्द वार्तालाप, राह रोकना, रास, जलक्रीड़ा, वृन्दावन-क्रीड़ा, यमुना-जलकेलि, नौका-विहार, चीरहरण, वंशी-चोरी, पुष्पचौर्य, दानलीला, कुंजों में आँख-मिचौनी, मधुपान, कृष्ण का स्त्रीवेश-धारण, कपट-निद्रा, द्यूत-क्रीड़ा, वस्त्राकर्षण, नखार्पण, बिम्बाधर-सुधापान, निधुवनरमणादि सम्प्रयोग, चुम्बन, आलिंगन आदि-आदि और अन्त में है संभोग। सम्प्रयोग की अपेक्षा लीला विलास में अधिक सुख है।

लीला के भेद—लीला के दो भेद हैं—प्रकट लीला और अप्रकट लीला। वन वृन्दावन में प्रकट लीला, मन वृन्दावन में अप्रकट लीला और नित्य वृन्दावन में नित्य लीला। परन्तु प्रकट ब्रज लीला के भी दो भेद हैं—नित्य और नैमित्तिक। ब्रज में जो अष्टकालीन लीला है वही नित्य है और पूतनावधादि दूरप्रवासादि नैमित्तिक लीला है। निशान्त, प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, प्रदोष और रात्रि भेद से अष्टकालीन लीला।[1]

ऊपर बहुत संक्षेप में हमने गौड़ीय मतानुसार मधुर रस के स्वरूप की चर्चा प्रस्तुत की है। मधुर रस का द्विविध रूप है—सामान्य रूप में वह उपनिषदादि में विद्यमान है। मूल में एक अद्वय वस्तु परन्तु आनन्द के लिए दो—स्त्री पुरुष अथवा प्रकृति पुरुष। ये दोनों परस्पर पूरक हैं और एक दूसरे को पाकर पूर्ण होना चाहता है। इसी प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय की एकता त्रिपुटी-भग द्वारा होती है। मिलन की पूर्णता के आधार पर ही भाव का विकास होता है। पूर्ण मिलन निःसंकोच और निरावरण मिलन मधुर में ही होता है।

मधुर रस की उपासना संसार की प्रायः सभी साधनाओं में प्रकट या गुप्त रूप में विद्यमान है। ईसाई संतों और सूफी फकीरों की अनुभूतियों में मधुर रस की ही धारा है। समस्त सगुण उपासना में मधुर भाव की स्वतःस्फूर्ति है, क्योंकि जीव अपने-आपको पूर्णतः देकर अपने प्राणाराम को पूर्णतः पा लेना चाहता है। जीव-जीवन की यह एक परम सामान्य परन्तु साथ ही परम विलक्षण विशेषता है कि वह अपने प्यारे का प्रियतम बनना चाहता है, जिसे प्यार करता है उसके प्यार पर अपना एकाधिकार या इज़ारा चाहता है[2]। सगुण

---

१. निशान्तः प्रातः पूर्वाह्णो मध्याह्नश्चापरातुकः।
सायं प्रदोषरात्रिश्च कालाष्टौ च यथाक्रमम्॥

2. One longs for another for perfection.

—M. M. G. N. Kaviraj

इसी को प्रो० रायस (Royce) 'Man's homing instinct' कहते हैं।

साधना में यह चाह सहज रूप में बलवती एवं फलवती होती है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो अत्यन्त गुह्य अर्थात् 'एसॉटरिक' साधनाएँ हैं उनमें भी किसी-न-किसी रूप में मधुर भाव की उपासना बनी हुई है। यहाँ हम इतना ही देखना चाहते हैं कि भारतीय गुह्य सहज साधनाओं में मधुर भाव का क्या स्वरूप है और उसकी पूर्ण निष्पत्ति का क्रम क्या है, क्योंकि बौद्ध धर्म में भी प्रज्ञापारमिता तथा आदि बुद्ध के सम्मिलन से 'महासुख' की उपलब्धि होती है। तंत्रादि में भी इसकी विशेष व्याख्या है। नाथ, सिद्धों और सन्तों में भी इस उपासना की विशेष व्याख्या है। वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में इसका सांगोपांग विवरण है। इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम से देखने पर ही मधुर रस की साधना हमारे देश की परम प्राचीन साधना है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

सहज साधनाओं की पृष्ठभूमि—भारतवर्ष की समस्त गुह्य धर्म-साधनाओं की पृष्ठभूमि तथा लक्ष्य एक है। वासना के विवर्जन या तिरस्करण के स्थान पर वासना के शोधन एवं उन्नयन द्वारा मानव-मन के अन्दर सोये हुए दिव्य आनन्द को उद्‌बुद्ध एवं उल्लसित करना ही इसका लक्ष्य है। इसके लिए शरीर की दृढ़ता, मन की निर्मलता, बुद्धि की तीक्ष्णता एवं आत्मा की विजयोत्कण्ठा अनिवार्यतः आवश्यक है। समस्त सहज साधनाओं में वाणी, मन, श्वास, वीर्य और प्राण पर सहज रूप से नियन्त्रण स्थापित कर इनका ऊर्ध्व दिशा में उन्नयन आवश्यक माना गया है। लक्ष्य इनका है समरस की स्थिति में प्रवेश करना। यह स्थिति योग से प्राप्त हो या प्रेम से प्राप्त हो—साधन भेद या प्रस्थान भेद जो भी हो, लक्ष्य में कोई भेद नहीं है।

समरस की अवस्था – समरस की अवस्था दिव्य आनन्द की वह अवस्था है जिसमें दो का एकीकरण होता है। 'सहजिया' यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन-पर्यन्त संघर्ष झेलकर भी काम को सर्वथा निर्मूल या उच्छिन्न नहीं कर सकता। अतएव इसका उन्नयन कर इसे ही दिव्य प्रेम और दिव्य आनन्द अर्थात् महासुख और महानुभव का निर्मल एवं अमोघ साधन बनाया जा सकता है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य राग द्वारा ही बँधता और राग द्वारा ही मुक्त होता है – 'रागेन बध्यते जीवो रागेनैव प्रमच्यते।'

'इश्क अल्लाह महजब अल्लाह'
The lover of God is the beloved of God.

—अजबस्तामी।

He who chooses the Divine has been chosen by the Divine.
—Sri Aurobindo

समस्त गुह्य साधनाओं की एक सामान्य मान्यता यह भी है कि एक से दो हुआ और दो से अनेक। इसीलिए एकवचन, द्विवचन, तब बहुवचन। 'स एकाकी ना रमत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेम' का भाव यही है। एक से ही यह अनेक है, परन्तु इस अनेक के प्राण में पुनः उसी 'एक' में लौट जाने की प्रबल वासना है जिसमें से वह निकला है। इसीलिए इन आन्तर गुह्य साधनाओं का चरम और परम लक्ष्य है द्वैत का सर्वथा निरसन और अद्वैय स्थिति की उपलब्धि। इस अद्वय स्थिति में दो का एकीकरण हो जाता है अथवा एक ही में दोनों समाविष्ट होते हैं जिसे उनकी भाषा में अद्वय, मिथुन, युगनद्ध, यामल, युगल, समरस, सहज आदि नामों से अभिहित किया गया है। हिन्दू तंत्रों ने परात्पर तत्त्व के द्विधात्मक रूप को शिव और शक्ति अथवा पुरुष और प्रकृति के रूप में स्वीकार किया है। और इन अंतरंग गुह्य साधनाओं ने ब्रह्मांड और पिंड की एकता को स्वीकार करते हुए यह माना है कि मूल तत्त्व में, जो कुछ भी ब्रह्मांड में है वह पिण्ड में भी है। शिव का निवास सहस्रदल कमल (सहस्रार) में है और शक्ति का मूलाधार में। शक्ति मूलाधार में सर्प की तरह गेंडुर मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इसे जगाकर, मूलाधार से उठाकर सहस्रार में शिव के साथ इसका सम्मिलन कराया जाता है। शिव-शक्ति का यह सम्मिलन ही आनन्द का आदि-विलास है।

इस सन्दर्भ में यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि प्रत्येक पुरुष शरीर के वाम भाग में नारी और दक्षिण भाग में पुरुष तत्त्व विद्यमान रहता है। इसी से सदा-शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप में वामार्द्ध में उमा और दक्षिणार्द्ध में महेश्वर हैं। इसी प्रकार वैष्णव सहजिया में रसिक साधक वामार्द्ध में राधा, दक्षिणार्द्ध में कृष्ण, बायीं आँख में राधा और दाहिनी आँख में कृष्ण हैं—ऐसा मानते हैं।[1] अस्तु, प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक नारी में पुरुष तत्त्व और नारी तत्त्व विद्यमान हैं—पुरुष में पुरुषत्व की प्रधानता है, नारी में नारी तत्त्व की, परन्तु हैं दोनों में दोनों ही। ठीक जैसे वाम और दक्षिण का अर्थ है नारी और पुरुष; वैसे ही वाम का अर्थ है इड़ा और दक्षिण का पिंगला, वाम का अर्थ है प्राण और दक्षिण का अर्थ है अपान। साधना के द्वारा इन्हें 'सम' करके प्राण-प्रवाह को सुषुम्ना में प्रवाहित किया जाता है। यही सुषुम्ना-साधना है।

इस दृश्य जगत् में पुरुष और नारी का जो भेद हम देखते हैं वह भेद

---

१. वामे राधा दाहिने कृष्ण देखे रसिक जन।
दुई नेत्रे विराजमान राधा कुंड श्याम कुंड दुई नेत्रे हय।
सजल नयन द्वारे भाव प्रेमे आस्वादय।

परात्पर तत्त्व में भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है—शिव-शक्ति रूप में। शिव-शक्ति का सामरस्य ही परात्पर सत्य है। प्रत्येक पुरुष और नारी शरीर में शिव और शक्ति विद्यमान है, अस्तु परम सत्य के साक्षात्कार के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि प्रत्येक पुरुष अपने को शिव रूप में और प्रत्येक स्त्री अपने को शक्ति रूप में अनुभव करे और तब परस्पर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सम्मिलन द्वारा परम आनन्द की उपलब्धि करे। समस्त अन्तरंग गुह्य साधनाओं की यही चरम परिणति है। समस्त गुह्य साधनाओं के अन्दर यही है परम रहस्य, जिसका सन्धान साधक और साधिका करते हैं।

बौद्धों का 'सहज'— बौद्ध सहजिया साधना में, परात्पर तत्त्व 'सहज' है—वह आत्म-अनात्म निरपेक्ष है। शून्यता और करुणा—दूसरे शब्दों में 'प्रज्ञा' और 'उपाय' उस सहज के प्रधान लक्षण हैं। यह 'प्रज्ञा' और 'उपाय' और कुछ नहीं है बल्कि हिन्दू-तंत्रों के शिव और शक्ति हैं। 'प्रज्ञा' (नारी तत्त्व) और 'उपाय' (पुरुष तत्त्व) का सम्मिलन ही बौद्ध सहजिया साधना का लक्ष्य है। प्रज्ञा और उपाय का एक और भी अर्थ है और वह है प्रज्ञा=इड़ा, उपाय=पिंगला। इन दोनों को सम करने पर प्राण-प्रवाह सुषुम्ना से होकर ऊपर की ओर उठता है। इस प्रकार प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन से योगी अन्तः-सम्मिलन की साधना में प्रवेश पाता है। 'उपाय' ही है बज्रसत्व जिसका सहस्रार में निवास है और 'प्रज्ञा' है शक्ति जो मूलाधार में रहती है। अन्तर्मिलन का अर्थ है नाभिदेश से शक्ति को उद्‌बुद्ध कर सहस्रार में शिव के साथ युगनद्ध करना।

वैष्णव सहजिया में राधाकृष्ण तत्त्व—वैष्णव सहजिया साधना में चिरभोक्ता और चिरभोग्या के रूप मे क्रमशः कृष्ण और राधा की उपासना चलती है और इस साधना-विशेष में यह मानकर चलना होता है कि प्रत्येक पुरुष कृष्ण और प्रत्येक स्त्री राधा है। 'आरोप' के द्वारा जब पुरुष अपने को कृष्ण और स्त्री अपने को राधा के रूप में अनुभव करने लगती है, तब पुरुष और स्त्री का सम्मिलन तत्वतः पुरुष-स्त्री का सम्मिलन न होकर कृष्ण और राधा का सम्मिलन हो जाता है। बौद्ध सहजिया मे योग साधना की मुख्यता है, पर वैष्णव सहजिया में प्रेम-साधना या रस-साधना की।

नाथ पथ की उपासना सूर्य-चन्द्र तत्त्व—नाथपंथ में युगलोपासना एक और ही रूप में व्यक्त हुई। यहाँ सूर्य और चन्द्र प्रतीक रूप में लिये गए—सूर्य कालाग्नि रूप में और चन्द्र अमृतत्व रूप में। नाथ सिद्धों का लक्ष्य रहा है दिव्य शरीर में अमृतत्व की उपलब्धि। हठयोग की नाना क्रियाओं, बँध, मुद्रा आदि द्वारा तथा रसायन द्वारा कायाशोधन और कायासिद्धि की प्रणाली सिद्धों में विशेष रूप में पाई जाती है। नाथ सिद्धों के काय-सिद्धि और रस-सिद्धि की

यह साधना रसायन सम्प्रदाय से बहुत मिलती-जुलती है, भेद इतना ही है कि रसायनज्ञों में रससिद्धि की ही प्रधानता रही जहाँ नाथ पंथ में यौगिक क्रियाओं की। साथ ही वैष्णव सहजियों की भाँति नाथ पंथियों ने भी अन्तरंग साधना के लिए प्रेम को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की। सहज उपासना में बौद्ध सहजियों का लक्ष्य 'महासुख' और वैष्णव सहजियों का लक्ष्य 'परम प्रेम' रहा, पर दोनों ही प्रकार के लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह अनिवार्यतः स्वीकार किया गया कि सबल और निर्मल शरीर के बिना यह साधना हो नहीं सकती, इसीलिए सभी प्रकार की अन्तरंग साधनाओं में किसी-न-किसी रूप में योग की प्रधानता बनी रही।

परकीया रति में यह सहज उपासना क्या है, इस पर यहाँ कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। यह न भूल जाना चाहिये कि यह साधना का मार्ग है, भोग का नहीं। यहाँ भोग को भी उन्नीत कर साधना का दिव्य मंगलमय रूप देना होता है। सहज साधना में मिथुन-सुख जीतकर उसे अपना वशवर्ती दास बना लेना होता है और फिर उसे दिव्य बनाकर परात्पर प्रेमानन्द—विलास का साधन बना लिया जाता है। कृष्ण ही हैं रस और राधा हैं रति, कृष्ण हैं मदन और राधा हैं मादन। शिव-शक्ति की तरह, प्रज्ञा-उपाय की तरह राधा और कृष्ण का लीला-विलास एवं आनन्दोल्लास ही साधक का चरम लक्ष्य है। इसे चरितार्थ करने के लिए उसे यह साधना द्वारा अनुभव करना होता है कि पुरुष और स्त्री, कृष्ण और राधा के व्यक्त रूप हैं और इनका प्रेम और सम्मिलन ही सहजियों की चरम स्थिति है। प्रेम की यह दिव्य धारा अखण्ड भाव से तैल-धारावत् विश्व के कण-कण में प्रवाहित हो रही है और इसे साधना के द्वारा उद्घाटित किया जाता है।

अब प्रश्न है कि दिव्य प्रेम की यह अजस्र धारा कैसे उद्घाटित होती है और मानव-प्रेम का दिव्यकरण (Divinisation) किस प्रकार होता है। हम परात्पर तत्त्व की तीन रूपों में भावना कर सकते हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। भगवान् रूप में कृष्ण की तीन शक्तियाँ हैं—स्वरूपा शक्ति, तटस्था शक्ति और माया शक्ति। भगवान् की स्वरूपा शक्ति में तीन तत्त्व निहित हैं—सत्, चित् और आनन्द। सत्, चित् और आनन्द का ही दूसरा नाम संधिनी शक्ति, संवित-शक्ति और ह्लादिनी शक्ति है। राधा ही यह ह्लादिनी शक्ति हैं।

भगवान् में ही भोक्ता और भोग्या दोनों भाव सन्निहित हैं। भोग्या के बिना भोक्ता की स्थिति या आनन्दोल्लास सम्भव भी कैसे है? राधा चिर भोग्या और कृष्ण चिर भोक्ता हैं—मूल में एक, पर लीला-विलास के लिए दो। यह लीला भी तीन प्रकार की होती है—प्रातिभासिक, मायिक, व्यावहारिक। लीला भोग नहीं है। बिन्दु का जब ऊर्ध्व-गमन होता है, तब वह लीला है और

धोग्रगमन होता है, तो भोग। लीला और भोग के बीच का यह असामान्य भेद भूल जाने से ही लीला के हृदयंगम करने में कठिनाई उपस्थित होती है।

यह लीला वन वृन्दावन, मन वृन्दावन और नित्य वृन्दावन में होती ही रहती है। वन वृन्दावन में होती है लीला की आंतरिक लीला और नित्य वृन्दावन में, जिसे नित्य देश या गुप्तचन्द्रपुर कहते हैं, राधा और कृष्ण की नित्य, दिव्य, मनोहारिणी, प्रेम-लीला और रास-विलास होते रहते हैं। यही 'सहज' है। प्रेम-साधना से जब प्रेममय प्रभु के प्रेम का एक कण मिल जाता है, तब साधक इस नित्य लीला में, दिव्य भाव में, सिद्ध देह से प्रवेश पा सकता है।

वैष्णव सहजियों ने नित्य वृन्दावन की नित्य लीला को माना, पर उनकी मान्यता यह है कि नित्य वृन्दावन की राधा-कृष्ण की नित्य लीला केवल वन-वृन्दावन की प्रकट लीला के रूप में ही अवतरित नहीं होती, अपितु प्रत्येक पुरुष में कृष्ण और प्रत्येक स्त्री में राधा का अवतार होता है और स्त्री-पुरुष के मिलन के रूप से राधा और कृष्ण की लीला चलती रहती है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो वास्तविक सत्व है वह कृष्ण ही है और यही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है और उसका बहिर्मुख जीवन तथा उसके शारीरिक स्थूल कार्य-व्यापार उसके 'रूप' हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री आन्तरिक रूप में वस्तुतः राधा ही है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है और उसका बाह्य जीवन-व्यापार उसका रूप है। परन्तु इस रूप के अन्दर ही वह स्वरूप रहता है, अतएव प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष के रूप में और कोई नहीं, केवल राधा और कृष्ण का ही लीला-विलास चल रहा है। राधा-कृष्ण की यह रूप-लीला और स्वरूप-लीला ही क्रमशः प्राकृत लीला और अप्राकृत लीला के रूप में मानी गई है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष को कृष्ण और प्रत्येक स्त्री को राधा के रूप में देखने और अनुभव या भावना करने की यह सहजियों की प्रणाली नई नहीं है। हम देख आए हैं कि तंत्रों ने प्रत्येक पुरुष को शिव और प्रत्येक स्त्री को शक्ति के रूप में तथा बौद्ध दर्शन ने प्रत्येक पुरुष को उपाय और प्रत्येक स्त्री को प्रज्ञा के रूप में भावित करने का उपदेश किया है।

ऊपर हम कह आए हैं कि कृष्ण ही हैं रस और राधा हैं रति, कृष्ण ही हैं काम और राधा हैं मादन। कृष्ण काम या कन्दर्प रूप में जीव-जीव के प्राण को अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं—'नाम समेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम्'। राधा है मादन जो भोक्ता को आनन्द-विलास प्रदान करती है। रस और रति, काम और मादन के बीच जो दिव्य प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है वही 'सहज' है।

पुरुष का कृष्ण रूप में और स्त्री का राधा रूप में अनुभव या भावना के

आरोप को साधना कहते हैं। निरन्तर शुद्ध चिन्तन और शुद्ध भावना के द्वारा अपने अन्दर के सारे मल-आवरण आदि विकारों को नष्ट कर अपने अन्दर के पशु की बलि देकर साधक सर्वथा पवित्र हो जाए और पुरुष में कृष्ण की और स्त्री में राधा की भावना दृढ़ करे। इस प्रकार भावना दृढ़ होते-होते जब पुरुष को अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् अपने कृष्णत्व का और स्त्री को अपने राधात्व का अनुभव होने लगे, तब उनका प्रेम साधारण स्त्री-पुरुष का पार्थिव प्रेम न होकर राधा-कृष्ण का दिव्य प्रेम हो जाता है। प्रेम की यह दिव्य अनुभूति ही सहज की अनुभूति है।

ऊपर हम कह आए हैं कि मनुष्य का बाह्य जीवन 'रूप' है और आन्तरिक या आध्यात्मिक जीवन, जो शुद्ध 'कृष्णत्व' या 'राधात्व' की स्थिति है, 'स्वरूप' है। रूप को इस स्वरूप की प्राप्ति होनी चाहिए, तभी हमारे वास्तविक, आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ है। स्मरण रखने की बात यह है कि रूप पर स्वरूप के आरोप का अर्थ रूप की सुप्ति नहीं है, प्रत्युत रूप के एक-एक कण को स्वरूप के रस-बोध से बराबर करना पड़ता है। यह मानव-शरीर तथा मानव-जीवन व्यर्थ या हेय नहीं है। मानवीय सौन्दर्य की मादकता में ही साधक को दिव्य सौन्दर्य की ज्योति का प्रतिबिम्ब मिलता है। दिव्य सौन्दर्य तथा दिव्य प्रेम का अर्थ यह कदापि नहीं है कि मानवीय सौन्दर्य और मानवीय प्रेम का तिरस्कार किया जाए। मानवीय प्रेम और मानवीय सौन्दर्य की शृंखला को स्वीकार करते हुए, उनके भौतिक आकर्षण और नशा को मानते हुए ही साधक मन का सफलतापूर्वक निग्रह कर सकता है और परम दिव्य आनन्द और दिव्य सौन्दर्य की ओर साधना द्वारा अग्रसर हो सकता है। अभिप्राय यह कि जैसे पारा या गंधक शोधा जाता है, उसी प्रकार इस लौकिक मानवीय प्रेम और मानवीय सौन्दर्य को शोधकर दिव्य प्रेम और सौन्दर्य की संसिद्धि होती है जो अपने-आपमें निरन्तर, अपरिमेय और अनिर्वचनीय है। यह दिव्य प्रेम मानवीय प्रेम की परिणति है, अथवा यों कहा जाए कि दिव्य प्रेम का जन्म मानवीय प्रेम के गर्भ से होता है, ठीक जैसे कीचड़ से कमल का। जहाँ ठेठ वैष्णवों ने 'निजेन्द्रिय प्रीति इच्छा' को काम और 'कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा' को प्रेम की संज्ञा दी है, वहाँ वैष्णव सहजियों ने इस भेद को मिटा दिया है। वे कहते हैं कि दिव्यकरण के अनन्तर निजेन्द्रिय प्रीति इच्छा और कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा में कोई अन्तर नहीं रहता—निजेन्द्रिय तर्पण और कृष्णेन्द्रिय तर्पण एक ही वस्तु है। स्पष्ट शब्दों में, उनकी मान्यता है कि प्रेम का जन्म काम से होता है। काम के बिना प्रेम हो नहीं सकता, अतः काम को निर्बीज करने की, उच्छिन्न करने की कतई आवश्यकता नहीं है। सहजियों की दृष्टि में भगवान् के चरणों में भक्त की प्रीति का नाम प्रेम नहीं है। प्रेम है राधा और कृष्ण की

प्रगाढ़ प्रीति, जो रूप में स्वरूप के आरोप द्वारा प्रत्येक स्त्री और पुरुष में उपलभ्य है। इसी में पुरुष और स्त्री शरीर की चरितार्थता है। इसीलिए यह शरीर और जीवन हेय नहीं है। मनुष्यत्व ही देवत्व की जननी है। प्रेम से ही मनुष्य देवता बन जाता है, इसीलिए मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ हुआ, क्योंकि उसी में परात्पर दिव्य प्रेम का अनन्त रस-सागर लहरें मारता है। इस प्रकार मनुष्य से परे देव अथवा भगवान् की सत्ता को सहजिया नहीं मानते। राधा और कृष्ण को भी देवी-देवता रूप में ये नहीं पूजते। इनकी मान्यता यह है कि मानव-शरीर मे ही राधा और कृष्ण की उपलब्धि हो सकती है। दिव्य दृष्टि से देखने पर रूप और स्वरूप में ऐसी अभिन्न, अविभेद्य एकता और सघनता है कि इन्हें पृथक् किया नहीं जा सकता। ऐसी दृष्टि खुलने पर मानव और देव में कोई भेद नहीं रह जाता। रूप में स्वरूप उसी प्रकार परिव्याप्त है जैसे पुष्प में सुगन्ध। स्वरूप की उपलब्धि रूप के द्वारा ही होती है, इसलिए पूज्य हुआ रूप, अर्थात् मानव-शरीर। मनुष्य सदा किसी प्रेम में तड़पता रहता है। यह जलन क्यों है, किसके लिए है, वह समझ नहीं पाता। यह जलन और यह तड़प 'प्रेमा' के लिए है, हृदय की रानी के लिए है, प्राणों के प्राण के लिए है। दिव्य प्रेम के द्वारा ही पुरुष और स्त्री दिव्यत्व को प्राप्त होते हैं, परन्तु मानवीय प्रेम के द्वारा ही पुरुष-स्त्री में पावन प्रेम का उदय होता है, जिसमें वे अपने कृष्णत्व और राधात्व की उपलब्धि करते हैं।

आरोप-सहित प्रेम से ही साधक वृन्दावन में प्रवेश पाता है। स्वरूप का रूप पर आरोप किए बिना, मात्र रूप की उपासना, सीधे नरक को ले जाने वाली है। सहज साधना का साधक सामान्य रस का मनुष्य नहीं होता, वह राग मनुष्य भी नहीं होता, वह तो अयोनि मनुष्य होता है और क्रमशः सहज मनुष्य और नित्य मनुष्य की स्थिति-लाभ करता है। इसी प्रकार सामान्य स्त्री इस साधना में प्रवेश नहीं पा सकती। यह साधना 'विशेष रति' के द्वारा राधात्व प्राप्त करने पर ही सम्भव है। अभिप्राय यह कि विशुद्ध रस को प्राप्त मनुष्य अपने कृष्णत्व के द्वारा और विशुद्ध रति को प्राप्त स्त्री अपने राधात्व के द्वारा ही सहज साधना में प्रवेश पाते हैं। 'उज्ज्वल-नीलमणि' में श्री जीव गोस्वामी ने रति के तीन भेद माने हैं—समर्था, समञ्जसा और साधारणी। समर्था में नायिका नायक को सुख प्रदान करने के लिए ही नायक से मिलती है। वह निःशेष आत्मदान के द्वारा अपने प्रियतम को परम आनन्द देना चाहती है। राधा ही समर्था का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। समञ्जसा रति में प्रिया-प्रियतम की समान सुख-कामना होती है, जैसे रुक्मिणी आदि। साधारणी रति में नायिका स्वसुखेच्छया नायक से मिलती है, जैसे कुब्जा। सहजियों ने रति के इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है और वे मानते हैं कि एकमात्र समर्था रति ही सहज

साधना के लिए वरेण्य है।

प्रेम-साधना की सिद्धि के लिए सहजियों में बड़े ही कठोर नियम एवं कृच्छ्र साधना की विधि है। वास्तविक प्रेम-सम्पादन के लिए यह आवश्यक है कि साधक शैव हो जाए, अर्थात् उसके अन्दर की सारी निम्न वृत्तियाँ और पशु भाव समूल नष्ट हो जाएँ, जिससे उस पर दिव्य वृत्तियाँ और दिव्य भाव अपना पूरा रंग डाल सकें, उसका रूप स्वरूप की ज्योति और रस से ओत-प्रोत हो। सारांश यह कि पुरुष अपने पुरुषत्वाभिमान का परित्याग कर अपने वास्तविक नारी स्वभाव को प्राप्त कर ले, तभी इस साधना में पैर रखे। इस साधना की कठिनाई को व्यक्त करने के लिए सिद्धों ने कई उलटबासियाँ कही हैं—समुद्र में स्नान, पर रंचमात्र भी भीगना नहीं; साँप के आगे मेंढक का नृत्य; मकड़ी के तार से हाथी बाँधना; इत्यादि। सहजियों ने प्रेम-साधना में साधक की तीन कोटियाँ मानी हैं—प्रवर्त, साधक और सिद्ध। इनके लिए पंचाश्रय हैं—नाम, मंत्र, भाव, प्रेम और रस। प्रवर्त स्थिति के साधक के लिए नाम और मंत्र, साधक स्थिति के लिए भाव, और सिद्ध स्थिति के लिए प्रेम और रस। अभिप्राय यह कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर ही साधक प्रेम और रस की साधना का अधिकारी होता है। सिद्धि के लिए शरीर और मन दोनों का बलवान होना नितान्त आवश्यक है। सबल शरीर के बिना सहज साधना असम्भव है। इसलिए प्रेम-साधना में कार्य-साधना भी एक अत्यन्त प्रमुख अंग है। वह तत्त्व है इस देह में ही, अतएव देह की उपेक्षा कर उस तत्त्व की प्राप्ति कठिन क्या असम्भव है। जो इस भाण्ड (शरीर) को जान जाता है वह ब्रह्माण्ड को जान जाता है। राधा और कृष्ण का सारा रहस्य इस शरीर के भीतर ही जाना जा सकता है। प्रेम की साधना में द्वैत का सर्वथा निरसन हो जाता है। दो शरीर एक आत्मा—एक शरीर एक आत्मा, दो का एक में सर्वथा विलयन। प्रेमी और प्रेमास्पद प्रेम में जब सर्वथा घुलकर 'एकमेक' हो जाते हैं, तभी इस साधना की सिद्धि मानी जा सकती है। चण्डीदास ने गाया है—

पीरित उपरे पीरित वइसह
ताहार उपरे भाव
भावरे उपरे भावरे वसति
ताहार उपरे लाभ
प्रेमेर माझारे पुलकेर स्थान
पुलकेर उपरे धारा
धारार उपरे धारार बसति
ए सुख बुझाये कारा

मृतिका उपरे जलेर बसति
ताहार उपरे ढ़ेउ
ताहार उपरे पीरीति बसति
ताहा को जानाय केउ

जब साधक के हृदय में वास्तविक प्रेम का उदय होता है, तब प्रेमास्पद प्रेम का एक प्रतीक मात्र बन जाता है और सारा विश्व अपनी अनन्त गरिमा, रहस्य तथा अपरिमेय सौन्दर्य के साथ प्रेमास्पद के शरीर में ही घनीभूत होकर स्फुटित हो जाता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमास्पद ही परम सत्य, परम शिव और परम सुन्दर का प्रतीक हो जाता है। प्रेम के ऐसे दिव्य आवेश में चण्डीदास ने 'राम' को सम्बोधित करते हुए गाया है—

तुमि हउ पितृ मातृ, तुमि वेदमाता गायत्री।
तुमि से मंत्र तुमि से तंत्र
तुमि से उपासना रस।

अर्थात्, 'तुम्हीं हो मेरी माता, पिता, तुम्हीं हो वेदमाता गायत्री। तुम्हीं से हैं सारे तंत्र-मंत्र और तुम्हीं हो उपासना रस का मूल उत्स।'

प्रेम-साधना में यही है आनन्द की वह सिद्धि, जिसे तैत्तिरीयोपनिषद् ने ब्रह्म से अभिन्न कहा है तथा यह माना है कि इसी से सबकी उत्पत्ति हुई, इसी से सबका पोषण होता है तथा इसी में सबका अभिसंवेश होता है।[1]

---

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।—तै० उ० ३-६।

भागवत धर्म में श्रीकृष्ण

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित इस पंच महाभूतात्मक स्थूल मानव-शरीर में कोई ऐसी सूक्ष्म वस्तु है जो हमारे जीवन को विश्व के चिरन्तन जीवन-प्रवाह में मिलाने के लिए व्याकुल रहती है; विश्व के सार्वभौम जीवन में मिले बिना वह स्वतः अपूर्ण अथच अर्थहीन है। जब तक हमारा स्वर विश्व-संगीत में लीन नहीं हो जाता तब तक हमारे स्वर में कोई लय नहीं, कोई ताल नहीं, कोई संकेत नहीं, कोई अर्थ नहीं। व्यष्टि के समष्टि में मिलने की परम उत्कण्ठा को भिन्न-भिन्न धर्मों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। 'एक' में अनेक और अनेक में एक के सामरस्य को ही सभी धर्म सम्पादित करते हैं, कम-से-कम करना चाहते तो हैं अवश्य। सभी धर्मों ने स्वीकार किया है कि मनुष्य, या सभी चेतन पदार्थ में, अचेतन जड़ तक में भी, ब्रह्म की परम ज्योति बिखरी पड़ी है और इस अनित्य नश्वर जगत् में वही 'एक' अनन्त एवं शाश्वत है। धर्म तथा जीवन की तह में प्रवेश कर हमारे ऋषियों ने यह अनुभव किया है कि समस्त अनित्यता की तरंग तथा बुद्‌बुद् के नीचे नित्य, अकल, अनीह, निरंजन ज्योति का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। यह निखिल ब्रह्माण्ड उस 'एक' का न परिणाम है और न विवृति ही। यह उसकी लीला है, 'लीला एव प्रयोजनमस्ति'।

ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुस्यां' की अमूर्त्त वासना से निखिल ब्रह्माण्ड का विराट् अभिनय आरम्भ हुआ, क्योंकि वह 'एकाकी' आनन्द का उपभोग कर नहीं पाता था। आनन्द की उपलब्धि तो दो से ही होती है। उसी 'एक' से ही अनेक की सृष्टि हुई, इसीलिए मूल रूप से अनेक के हृदय में उस 'एक' के लिए ही भूख-प्यास है। और उस 'एक' में लय हुए बिना, उसे पाए बिना अनेक को शान्ति नहीं, आनन्द की उपलब्धि नहीं। हाँ 'वह' एकाकी ऊब रहा था, 'स एकाकी न रमते', इसलिए 'बहुस्यां'—बहुत हो जाएँ, ऐसी वासना उसके हृदय में उगी और फिर क्या था, विश्व का रंगमंच नाच उठा। 'वह' स्वयं उसी में व्याप्त हो रहा है, भीतर भी, बाहर भी। सूत्र में जिस प्रकार मणियों का हार पिरोया होता है उसी प्रकार 'वह' अखिल चराचर में होता हुआ, उसे बेधता हुआ, ओतप्रोत करता हुआ चला गया है। सभी कुछ

उसी में तल्लीन है, ओतप्रोत है; दूध मे घी अथवा मधु में मिठास की भाँति। बीज में सारा वृक्ष मूल-रूप में सारभूत होकर सन्निहित है। 'वह' हममें घुला-मिला, ओतप्रोत है, फिर भी हमारा-उसका साक्षात्कार नहीं होता। 'पिऊ हिरदय महँ भेंट न होई, को रे मिलाव कहौं केहि रोई'—ही हमारी सारी उत्सुकता, अभिलाषा तथा जिज्ञासा का मूल प्रेरक है। हम सतत् उसके स्पर्श में आने, उसमें लय होने के लिए व्याकुल हैं। हम अरुणांशुक-वसना उषा की मधुर रूप-श्री देखते हैं, हमारा हृदय आनन्द से नाच उठता है, विभोर हो जाता है। मधुमास में मंजरी के भार से झुकी हुई अमराइयों, गदराई हुई लता-वल्लरियों के भीतर छिपकर कोकिला कल्याण का राग छेड़ जाती है, अपने दर्द-भरे घायल दिल को उँड़ेल जाती है। हमारा हृदय किसी अज्ञात वेदना में कुहुक उठता है। शरद ऋतु के किसी ज्योत्स्ना-स्नात निशीथ में अनन्त सागर एवं दूर तक फैले हुए विशाल सैकत-खण्ड पर छिटकी हुई चाँदनी, उद्वेलित लहरों की हलचल किसके हृदय में एक अतृप्त लालसा का उद्बोधन नहीं करती ? सजल सावन के सघन रिमझिम में पक्षियों को प्रफुल्ल क्रीड़ा करते और चहचहाते देख किसका हृदय आनन्द से आप्लावित नहीं हो जाता ? यह सब कुछ हम देखते हैं और विस्मय से भर जाते हैं। हम इन चित्रों के पीछे छिपे हुए चित्रकार को देखना चाहते हैं, इस विराट् अभिनय के सूत्रधार को देखना चाहते हैं और चाहते हैं उस गायक को देखना जिसके इस दिव्य संगीत में अखिल विश्व डूबा जा रहा है। रमणीय दृश्यों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर हमारे अन्तस् में जो आकुल उत्कण्ठा जग जाती है—हमारी इस जागृत अभिलाषा, चिर-अतृप्त आकांक्षा की पुनीत प्रेरणा द्वारा ही हमारे भीतर ईश्वर की खोज का आरम्भ होता है।

प्रकृति के निरवगुण्ठित, आवरणहीन सौन्दर्य के अविच्छिन्न साहचर्य में आकर हमारे आत्मदर्शी ऋषियों ने अपने अन्तस् में उसके अनल स्पर्श का अनुभव किया और आनन्दविभोर हो यत्किञ्चित् अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। वैदिक युग मे प्रकृति के इन्हीं व्यक्त प्रतीकों की उपासना भी होती थी। वरुण, इन्द्र, यम, अग्नि, विष्णु आदि की पूजा प्रचलित थी। उषष् छन्दों के अतिरिक्त इन मंत्रों में देवता की शक्ति का ही विशेष वर्णन है। सौन्दर्य की ओर ध्यान गया भी है वह भी लौटकर शक्ति में मिल गया है। ऋग्वेद में वरुण सबसे श्रेष्ठ देवता माने गये हैं। वरुण जल के देवता हैं और उनकी शक्ति भी अपरिमेय है। विष्णु छन्दों में बार-बार विष्णु के 'तीन मधुपूर्ण पदों से अखिल ब्रह्माण्ड को नापने' की कथा दुहराई गई है। परन्तु वहीं छठे छंद की एक पंक्ति है—'भूरि श्रृङ्गाः

अयासः गावः'[1] अर्थात् विष्णु का वह पावन-लोक जिसमे अनेक सींगवाली गायें चरती-फिरती हैं। विष्णु के साथ गोचारण, गोपालन तथा विष्णु-लोक में गौओं का घूमना-चरना देख अवश्य कुतूहल होता है क्योंकि यही विष्णु आगे चलकर हमारे गोपाल कृष्ण बन जाते हैं।

वैदिक युग मे गोलोक-विहारी विष्णु की एक झलक लेकर हम आगे बढ़ते हैं और ब्राह्मण तथा उपनिषद् काल में प्रवेश करते हैं। आरम्भ में ही यह कह देना उचित होगा कि उपनिषदों में ज्ञान का ही विषय प्रधान है। उन्होंने ब्रह्मात्मैक्य का ही प्रतिपादन किया है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियों ने स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्म हमारी वाणी और मन की पहुँच से परे है; वह परब्रह्म पंचमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पाँच गुणों से रहित अनादि, अनन्त और अव्यय है।[2] परन्तु ज्ञानाश्रयी उपनिषदों में भी अव्यक्त की व्यक्त उपासना की झलक कहीं-कहीं मिलती है। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को यही उपदेश किया है कि अन्न ही ब्रह्म है, फिर क्रम से प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द इन ब्रह्म रूपों का ज्ञान उसे करा दिया है। परन्तु अन्त में आते-आते उत्तरकालीन उपनिषदों में सच्चिदानन्द की भावना श्रीकृष्ण के रूप में की गई है। 'गोपाल-तापनी उपनिषद्' में 'सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे' तथा अथर्व शीर्ष में 'गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं' पद आते है। 'ब्रह्म-संहिता' के पंचम अध्याय का प्रथम श्लोक है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

सारांश यह कि वैदिक काल में धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप यज्ञमय कर्म प्रधान होते हुए भी ब्रह्म की प्रतीक उपासना की आवश्यकता समझी जाने लगी थी और उपनिषद्-काल मे उस ब्रह्म सच्चिदानन्द की मधुर कल्पना श्रीकृष्ण वासुदेव के ही रूप में होने लगी थी। वेद-संहिता तथा ब्राह्मणों में भी, विशेषतः इसी की आगे चलकर तीन शाखाएँ हो गई। उनमे पहली यज्ञ-याग आदि कर्म को प्रतिपादित करती रही, दूसरी ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा कर्म-

---

१. त वां वास्तून्युश्मसि गमेध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः।
अत्राह तदु गायस्य वृष्णः परमं पदमेव भाति भूरि॥
ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त १५४, छंद ६

२. 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। (तैत्ति० २, ६)
'अदृश्यं अग्राह्यं' (मुं० १. १. ६)
'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' (मुं० ३. १. ८)

संन्यास अथवा सांख्य मार्ग और तीसरी शाखा ज्ञान-समुच्चय मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। इनमें से ज्ञान-मार्ग से ही आगे चलकर योग और भक्ति के प्रवाह निकले। ज्ञान-प्रधान उपनिषदों में ब्रह्म-चिन्तन के लिए प्रणव का पुष्ट साधन स्वीकृत था। आगे चलकर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ और अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति के लिए राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण, वासुदेव की उपासना का प्रादुर्भाव हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर स्पष्टतः अंकित है कि मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ ही है और यह यज्ञ-विद्या आंगिरस नामक ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को बतलाई। मैत्र्युपनिषद् में यह कई स्थलों पर प्रकट किया गया है कि विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि की भक्ति की जाती है और ये भी परमात्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप हैं। परन्तु यह भक्ति साधन-मात्र मानी गई—साध्य ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान ही निरूपित किया गया। इसी हेतु वैष्णव उपनिषदों में भी भक्ति का निखरा हुआ रूप प्रकट न हो सका।

उपनिषत्काल से लेकर बौद्ध-जैन धर्म के जन्म तक के हमारे धार्मिक विकास का कुछ व्यवस्थित क्रमबद्ध रूप नहीं मिलता। वैष्णव धर्म प्रवृत्ति-मूलक, साधना-मूलक है और बौद्ध तथा जैन धर्म निवृत्ति-मूलक ज्ञान-वैराग्य-प्रधान हैं। इसी हेतु वैष्णव धर्म का वह स्रोत, जो उपनिषत्काल के उत्तर भाग में प्रवाहित हो चला था, बौद्ध तथा जैन धर्मों के संन्यास-मूलक वातावरण में लुप्तप्राय हो गया। काल-चक्र की गति बड़ी ही विचित्र है। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' में भक्ति की एक झिलमिल आभा विकीर्ण हुई जो श्रीमद्भागवत् में विराट् रूप में प्रकट हुई। नारद सूत्र और शांडिल्य सूत्र में तो भक्ति की बहुत ही सूक्ष्म मीमांसा हुई है। भक्ति की जो सुव्यवस्थित निष्पत्ति श्रीमद्भागवत् में हुई वह नारद तथा शांडिल्य सूत्रों द्वारा प्रवर्तित पावन भक्तिमय वायुमंडल में पूर्णतः पल्लवित-पुष्पित हुई। श्रीमद्भागवत् के दसवें स्कंध में श्रीकृष्ण की रास तथा चीरहरण की जिन लीलाओं का वर्णन हुआ उनमें प्रेम एवं आनन्द की इतनी अधिक मात्रा थी कि जनता का हृदय सहसा आकृष्ट हुए बिना न रहा।

'गीता' का ज्ञान कर्ममूलक, भक्ति-प्रधान है। उसमें तीनों का समन्वय है। कर्म को ज्ञान की आग में शुद्ध कर भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों में सर्वात्मभाव से श्रीकृष्णार्पण कर देना है। गीता का भक्त भी 'स्थितप्रज्ञ' है तथा नित्य सनातन ब्राह्मी स्थिति में विचरने वाला है। गीता समर्पण में समाप्त होती है, भागवत समर्पण से शुरू होती है। 'मामेकं शरणं व्रज' गीता के अन्तिम अध्याय का पद है, परन्तु भागवत के परीक्षित सब प्रकार से शुकदेव के चरणों में आत्मार्पण करके प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि

गीता जहाँ समाप्त होती है, भागवत का वहाँ से श्रीगणेश होता है। गीता में कहीं-कहीं 'परम भाव' की जो झलक मिलती है वह श्रीमद्भागवत् के दशम स्कंध से सर्वथा भिन्न नहीं है। अठारहवें अध्याय में भगवान् के अन्तिम उपदेश वचन को ही लीजिए, जिसे कहकर भगवान् ने अर्जुन के अन्तश्चक्षुओं को खोल दिया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

ग्यारहवें अध्याय का वह श्लोक, जिसमें अर्जुन भगवान् के विराट् विश्व-रूप को देखकर काँप रहे हैं और 'सखा', 'यादव', 'कृष्ण' आदि कहकर विहार, शैया, आसन, भोजन में अपने किये हुए सख्य-व्यवहार पर वह आत्मक्षोभ में डूब रहे हैं; क्षमा के लिए भगवान् के चरणों में प्रणत होकर भय से काँपते हुए करुणा से गीले शब्दों में कहते हैं—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्यः
प्रियः प्रियायार्हसि देव! सोढुम्॥

समर्पण का यह कोमल मधुर भाव पति-पत्नी के सम्बन्ध में ही पूर्णतः चरितार्थ होता है। इसी हेतु भगवान् को पिता और सखा मानकर ही अर्जुन को सन्तोष नही हुआ, 'प्रियः प्रियायाः' ही बनाकर छोड़ा।

साधना का वह परम पावन स्रोत, जो पहाड़ की कन्दराओं, खोहों, गह्वरों में बह रहा था, उपनिषत्काल में हमारी आँखों के सम्मुख कल-कल वेग से बहता चला जा रहा था, पूर्ण रूप से श्रीमद्भागवत में ही प्रकट हुआ। हृदय की सम्पूर्ण भावनाओं एवं प्रवृत्तियों को पूर्णतः रमने का पहला अवसर यही था। प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्य की जो त्रिवेणी श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में बही है, उसमें बार-बार मज्जन और पान करके भी हमारा हृदय अघाता नहीं, तृप्त नहीं होता, अभी और की आकांक्षा बनी ही रहती है।

इस परम मंगलमय भागवत धर्म के सार-तत्त्व को स्वयं श्रीकृष्ण ने उद्धव से से कहा है—'निरन्तर मुझमें ही मन और चित्त को लगाये रहने वाला तथा जिसके आत्मा और मन का मेरे धर्मों में ही अनुराग हो गया है, वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मों को धीरे-धीरे मेरे ही लिए करता रहे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों वहाँ रहे। पर्व-दिनों पर अकेला ही अथवा सबके साथ मिलकर नृत्य, गान, वाद्य के द्वारा ठाठ से मेरी यात्रा आदि का महोत्सव कराए। निर्मल चित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों में और अपने-आपमें मुक्त आत्मा को ही आकाश के समान निरावरण रूप से बाहर-भीतर व्याप्त

देखे। इस प्रकार वह समस्त प्राणियों को मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और भक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूर में समान दृष्टि रखता है, लोभ, लज्जा छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे को भी पृथ्वी पर गिरकर साष्टांग प्रणाम करता है और इस प्रकार मन, वाणी और शरीर की समस्त वृत्तियों से सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी ही भावना करता है।'

भागवत धर्म के मूल तत्त्व-ज्ञान मे परमेश्वर को वासुदेव, जीव को संकर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहंकार को अनिरुद्ध कहा गया है। भगवान् ने गीता में 'वासुदेवः सर्वमिति' ऐसी भावना करने वाले महात्मा को 'सुदुर्लभ' कहा है। इसका विशेष कारण यही है कि प्रेम का परम व्यापक स्वरूप 'रति' में ही सन्निहित है। हमारी समस्त रसप्यासी वृत्तियों के आलम्बन-उद्दीपन, आकर्षण, प्रश्रय एवं प्रसार के लिए, प्रेम के आनन्दमूलक, सौन्दर्य-सत्तात्मक एक ऐसी मधुर मूर्ति की उद्भावना होनी चाहिए थी जिसमें हमारा हृदय पूर्णतः डूब जाए। ऐसी छविशाली मूर्ति श्रीकृष्ण की ही है।

हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। हृदय का धर्म है संवेदन, मस्तिष्क का धर्म है चिन्तन। हृदय सुन्दर की ओर आकृष्ट होता है, मस्तिष्क सत्य की ओर। हृदय भक्ति-विह्वल, भावना-प्रवण होता है, मस्तिष्क ज्ञान-चिन्तक एवं आत्म-दर्शी। भक्ति प्रधानतः नारी-हृदय का धर्म है, ज्ञान पुरुष-हृदय का। भक्ति 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' लेकर चलेगी, परन्तु ज्ञान 'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' लेकर। भक्ति का पथ राज-मार्ग के समान सरल, सुगम एवं प्रशस्त है, परन्तु ज्ञान की 'ऊँची गैल राह रपटीली' को 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कहा गया है। वैष्णव धर्म भावना, प्रधान प्रवृत्ति-मूलक तथा आनन्द-विधायक है। भगवान् की शील, शक्ति एवं सौन्दर्य—तीन विभूतियों में राम में तीनों का समन्वय होते हुए भी शील एवं शक्ति का चरम विन्यास हुआ है। कृष्ण में, इसके विपरीत, सौन्दर्य की प्रधानता है। राम में लोक-मर्यादा, कर्तव्य और आत्मसंयम का ही भाव प्रमुख है, कृष्ण में प्रेम एवं आनन्द का। राम में दास्य भाव की ही परितुष्टि होती है, परन्तु कृष्ण में सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भाव की। यही कारण है कि भक्ति की सम्पूर्ण रति-भावना की पुष्टि श्रीकृष्ण मे ही हुई। इसी हेतु राम-भक्ति-शाखा की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति-शाखा अधिक पल्लवित-पुष्पित हुई। रामानुज और रामानन्द ही राम-भक्ति-शाखा के प्रधान आचार्य हुए, परन्तु कृष्ण-भक्ति-शाखा में वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, हितहरिवंश, चैतन्य महाप्रभु आदि कई हुए। राम-भक्ति की परम पुनीत गाथा 'रामायण' तक मे ही केन्द्रीभूत हुई, परन्तु कृष्ण-भक्ति की जो स्रोतस्विनी उमड़ी, उसमें श्री चैतन्य, जयदेव,

विद्यापति, मीरा, सूर, नन्ददास, हितहरिवंश, घनानन्द, रसखान आदि कवियों की एक धारा-सी छूट पड़ी।

राधा का अभाव श्रीमद्भागवत में अवश्य खटकता है, परन्तु रास में सहसा भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर गोपिकाएँ राधारानी के भाग्य की सराहना करती हुई कह रही है—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥

निश्चय ही इन्हीं राधारानी ने भगवान् श्रीहरि का एकान्त आराधन किया है, क्योंकि इनके ही प्रेम के पीछे भगवान् हम सबको सहसा परित्याग करके उनके साथ एकान्त में चले गये।

यह विषय अत्यन्त ही गोप्य है। भगवान् व्यासदेव ने भी इसे परम गुप्त समझकर अप्रकट ही रखा है। केवल संकेत से बहुत ही थोड़ा-सा लक्ष्य किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति आनन्द-विधायिनी राधारानी तथा सहस्र-सहस्र गोपियों की केलिक्रीड़ा में 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का भाव हमारे हृदय पर सदा के लिए अमिट रूप में जम जाता है। पूतना और कंस के तारने वाले, सुदामा के तन्दुल और विदुर के साग पर रीझनेवाले; प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्य की अपार राशि, सहस्र-सहस्र गोपियों के प्राणवल्लभ और यशोदा के लाड़ले, नन्द के दुलारे श्रीकृष्ण हमारे हृदय के हृदय में सदा के लिए बस जाते हैं।

पता नहीं कितनी आत्माएँ राधारूप में अपने को श्रीकृष्ण के चरणों में निवेदित कर चुकी हैं। देवदासियों का रूप पीछे जाकर चाहे जितना भी विकृत हो गया हो, परन्तु आरम्भ में तो उनका देवता के चरणों में सर्वात्मसमर्पण प्रेम की प्रेरणा द्वारा हुआ करता था। इन देवदासियों का कोई सुव्यवस्थित इतिहास नहीं मिलता, परन्तु यह तो हम जानते हैं कि आंडाल, कान्होपात्रा जैसी सहस्र-सहस्र कुमारियों ने अपना पवित्र एवं अक्षत यौवन श्रीकृष्ण के चरणों में चढ़ाया है, और उन्हें भगवान् का अंग-संग प्राप्त हुआ, उनके सारे मनोरथ पूरे हुए, इसे कौन अस्वीकार करेगा?

आंडाल का जन्म विक्रम संवत् ७७० के लगभग हुआ था। वह दक्षिण के आलवार संतों में प्रमुख मानी जाती है। वह एक दिन प्रातःकाल तुलसी के एक वन में पायी गई। सयानी होने पर जब वह भगवान् के लिए माला गूँथती तो प्रेम में इतना पागल हो जाती कि उस गूँथे हुए हार को स्वयं पहन-कर आईने के सामने खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्य की अपने-आप प्रशंसा करती हुई कहती—"प्रभु, मेरे इस शृङ्गार को स्वीकार कर लोगे?"

श्रीकृष्ण सदा ही उसकी जूठी माला पहना करते और इसी में उन्हें विशेष सुख मिलता।

आंडाल वस्तुतः दक्षिण भारत की मीरा थी। वह मधुर भाव की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। वह चित्त से सदैव वृन्दावन में वास करती थी और गोपियों के साथ मिलकर अपने प्राणवल्लभ हरि के साथ केलि-क्रीडा किया करती थी। आंडाल का विवाह एवं पाणिग्रहण बड़ी धूमधाम से भगवान् श्रीरंगनाथ के साथ हुआ। आंडाल ने प्रेम में मतवाली होकर रंगनाथजी के मन्दिर में प्रवेश किया और तुरन्त वह भगवान् की शेषशैया पर चढ़ गई। इतने में ही लोगों ने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाश में आंडाल सबके देखते-ही-देखते बिजली-सी चमककर विलीन हो गई। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गए। आंडाल के जीवन का कार्य आज पूरा हो गया—वह अपने प्रियतम में जाकर मिल गई।

दक्षिण के वैष्णव मन्दिरों में आज भी आंडाल के विवाह का उत्सव प्रतिवर्ष बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। पण्ढरपुर में भगवान् श्री विट्ठल के चरणों में आत्मार्पण करने वाली कान्होपात्रा एक वेश्या की लड़की थी। उसने भी अपने को भगवान् के चरणों में निवेदित किया और अन्त में वह उसी मूर्ति में लीन हो गई।

कला की साधना

'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'

The meeting of man and god must always mean penetration and entry of the divine into the human and a self immergence of man in the Divinity.

—Sri Aurobindo

जिसे कवि ने 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहकर मन और वचन द्वारा अप्राप्य विराट निराकार की धारणा की थी, उसे चित्रकार ने तेजोमय प्रणव का रूप दिया, और इस साकार साधना में मानव-हृदय को एक राहत मिली, आधार मिला, शान्ति मिली। जिसकी अलौकिक छवि ब्रह्माण्ड के कण-कण मे उल्लास एवं आनन्द की किलकारियाँ ले रही है, उस अपरूप रूप को हम आँखों से पीना चाहते हैं, उसमें अपने सुख की छाया और दुःख की सहानुभूति देखना चाहते है। 'कोई' है जो हमसे ओट रहकर भी, हमारी इन स्थूल आँखों से ओझल रहकर भी हमारा 'अपना है, हमारा प्रियतम है, हमारे जीवन का जीवन और प्राणों का प्राण' है। श्रुति कहती है 'स उ प्राणस्य प्राणः' अर्थात् 'वह' प्राणों का प्राण है। उसे अप्राप्य या अदृश्य कहकर हमारे हृदय को तृप्ति नहीं होती, शान्ति नहीं मिलती। हमें तो उस 'न मिलनेवाले' से मिलना है, 'न दीखनेवाले' को देखना है और उस 'ना-ना' की मधुर मूरत से एक बार 'हाँ' कहा लेना है। इस जगत् में सभी उसी प्रिय के अन्वेषण में लगे हैं, सभी आनन्द के भिखारी हैं। इसी से समस्त जगत् क्रन्दन और हाहाकार की ध्वनि से भर रहा है। सभी के प्राण व्याकुलता से रो-रोकर यही चिल्ला रहे हैं—'कहाँ है वह सुन्दर ? वह आनन्द-सिंधु, हमारा जीवनसर्वस्व, हमारा प्राण-सखा ? प्यारे ! कहाँ हो तुम ?' हमें विश्व के विविध रसों में इसी 'एक रस' रसराज रसिकशेखर की चाहना बनी रहती है, जिसे पाए बिना विश्व के सारे रस नीरस हैं, फीके है। हमें अपने परम प्रिय की छवि देखने की उत्सुकता आजीवन बनी रहती है। हम अपने हृदय के समस्त आनन्द, सौन्दर्य एवं माधुर्य की विभूतियों को समेटकर उस निराकार की मंजुल प्रतिमा का निर्माण करते हैं, और उस मूर्ति को हृदयमन्दिर में स्थापित करते हैं। कला की मूल प्रेरणा यही है।

सबमें आनन्द बिखेरकर, सभी वस्तुओं को अपनी शोभा से पूर्ण कर, सारे जगत् को शोभा से भरकर, कौन हो तुम जो हृदय के भीतर छिपे बैठे हो और मन्द-मन्द मुसकरा रहे हो? समस्त शोभाओं में, सारे सौन्दर्य में अपने को बिखेरकर भी तुम कैसे छिपकर 'भीतर' जा बैठे हो? छिपे-छिपे कौतुक कर रहे हो? सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, नदी, समुद्र, वृक्ष, लता, मानव, मानवी, जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, संयोग,—वियोग सभी-कुछ क्या सुन्दर ताल के साथ तुम्हारे इशारे पर नाच रहे हैं! सबकी ओट में यह चिक डालकर तुम खूब जा छिपे हो! पर्दे में छिपकर भी अपनी झलमल-झलमल रूपश्री की स्निग्ध किरणों से चर-अचर को अपने प्रेम-पाश में बाँधे हुए हो और फिर भी तुम्हारा पता, तुम्हारा निशान कुछ भी नहीं मिलता! यह कैसी तुम्हारी मायामयी लीला है? श्रुति कहती है—'आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्याभिसंविशन्ति, तै० ३-६।'

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पगषोऽस्यो परमोलोक एषोऽस्य परम आनन्दः, के० ४-३-३२।

इस आनन्द-भोग के लिए ही संसार की रचना हुई है। इसी आनन्द की हिलोरों से संसार नाच रहा है। मिलन और विरह दोनों में ही प्रिय का प्रेम, प्रिय का आनन्द उमड़ रहा है। मिलन की ज्वाला ही कला का प्राण है। पृथ्वी किससे मिलने के लिए रात-दिन, प्रतिपल चक्कर काटती फिरती है? आकाश अनादि काल से किसके लिए चन्द्र-सूर्य का दीपक जलाकर विश्व के एक छोर से दूसरे छोर को नापा करता है? जल की इन लहरों में व्याकुलता क्यों है? वे तट से क्यों टकराया करती हैं? हवा किसकी खोज में सौरभ का उपहार समेटे, स्वयं रूपहीन होकर, किस 'रूप' की आराधना के लिए नदी-नद, गिरि-गह्वरों तथा जंगलों को छानती फिरती है? अग्नि के प्राणों में इतनी ज्वाला क्यों है? क्यों यह भीतर-ही-भीतर सुलगती और धधकती रहती है? किसके चरणों को चूमने के लिए इसकी लपटें ऊपर उठकर आकाश में विलीन हो जाती हैं? यही ज्वाला, यही मिलन की 'उत्सुकता' हमारे जीवन का मूल स्रोत है, आदि तत्त्व है, जो जन्म के प्रथम निःश्वास से लेकर मृत्यु की अन्तिम साँस तक अविच्छिन्न बनी रहती है। उसकी चेष्टाएँ, उसका अभिसार-उद्यम भले ही बारम्बार निष्फल होता रहे, परन्तु एक दिन अवश्य ही ऐसा आएगा जिस दिन वह अपने जीवन के इस चरम लक्ष्य की सन्निधि में पहुँचकर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करेगी। उस परम प्रियतम को ढूंढे बिना इन्द्रियों की यह आनन्द-स्पृहा कभी मिट नहीं सकती, क्योंकि उस आनन्द के लिए ही तो जीव-जीव का हृदय व्याकुल है और जिसे ही पाने के लिए उसने जीवन-यात्रा आरम्भ की है। वह आनन्द ही विश्व-चराचर के प्राणों का एकमात्र अवलम्ब

है। यह आनन्द नहीं होता तो यह जगत् पल-भर के लिए भी जीवित नहीं रह सकता।

'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। इतना ही नहीं, वह आनन्दोत्सुकता, यह जलन तो मृत्यु का द्वार लाँघकर पुनः नवीन जन्म प्राप्त कर नये जोश के साथ बढ़ती जाती है। हमारे अनन्त जीवन की भाँति यह जलन भी, मिलन की यह उत्सुकता भी अमर है, अनन्त है। जिस प्रकार हमारा जीवन हमारे कई गत जन्मों से पार होकर इस रूप में दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार यह जलन भी हमारे साथ अनादि काल से लगी चली आ रही है, और हमारे साथ ही अनन्त में विलीन हो जाएगी। इसी ज्वालामय जीवन की एक-एक चिनगारी से विश्व की निखिल कलाओं की सृष्टि हुआ करती है।

हृदय का यह स्वाभाविक गुण है कि वह 'सुन्दर' की उपासना करता है, और इस साधना में वह स्वयं अपनी उपासना की भाँति सुन्दर बन जाता है। इस साधना के पथ में आगे बढ़कर अपने उपास्य देव की मधुर छवि का विश्व के चर-अचर यावत् पदार्थों में अवलोकन कर आनन्द-विभोर हो जाता है। आनन्द के अतिरेक में वह गा उठता है, नाचने लगता है और उस आराध्य देव की रूपरेखा को व्यक्त करने के लिए तूलिका में रंग भरकर चित्रपट पर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियाँ खींचने लगता है। इसी मिलन की अनुभूति और उस अनुभूति से उद्भूत आनन्द की अतिरेकावस्था में हमारे हृदय से कला की कलित धारा फूट बहती है, जिसका अवलोकन कर विश्व की तृषित आँखें जुड़ा जाती हैं। सौन्दर्य, आनन्द और माधुर्य के ये बाह्य प्रतीक वस्तुतः उस आन्तरिक आनन्दसिन्धु के एक उल्लास की लहर हैं, भीतर की छलकन हैं। मदिरा, दीपक और प्रियतमा—ये सब मुख्यतः अन्तरंग वस्तुएँ हैं, जिनकी झलक इन सभी मूरतों में दिखाई पड़ती है। ऐ देखने वाले! देख, मदिरा, दीपक और प्रियतमा में कौन-सा आनन्द छिपा हुआ है! तू उस अमर सुख के प्याले से शराब पी, जिसका साकी ईश्वर है और वह साकी ही सब लोगों को मदिरा पिलाया करता है। उसके बिना पिला ही कौन सकता है? उस 'साकी' की चितवन ऐसी है जिससे हमारे प्राण निकलने लगते हैं और उसका एक चुम्बन हमें प्राणदान देकर जीवित कर देता है।

कला और जीवन का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना अधूरा है। कला की विशेषता इसी में है कि वह जीवन की मूल आभ्यन्तर ललित लालसाओं को अभिव्यक्त करती है, और जीवन की विशेषता इसी में है कि वह अपने 'देवता' की छाया देखकर प्रफुल्लित हो जाता है। जीवन कला का आदि स्रोत है, अनादि निर्झर है, जहाँ से कला अपनी सामग्री लेती

है और कला स्वयं जीवन के आधार की छाया है। उस अगाध समुद्र की एक हुंकार—'foaming of that infinite deep' है। सृष्टि के आदि काल से जीवन और कला, दोनों लिपटी चली आती हैं और आज तो एक-दूसरे की अविभेद्य सहेली बन गई है। एक के बिना दूसरी को शान्ति ही नहीं मिलती, तृप्ति ही नहीं होती। आंग्ल कवि लांगफेलो ने गायकों का कितना दिव्य उद्देश्य बतलाया है—

God sent His singers upon earth
With songs of sadness and of mirth
That they might touch the hearts of men
And bring them back to Heaven again.

अर्थात् परमात्मा ने इस पृथ्वी पर गायकों और कवियों को आनन्द और विषाद के गीतों के साथ इसलिए भेजा है कि वे मानव-हृदय को संस्पर्श कर उन्हें पुनः उसी आनन्दलोक में लौटा ले चलें।

कला हमारी भावनाओं की बाह्य अभिव्यक्ति है, हमारे सपनों की सजीव तसवीर है। वह हृदय से एक आधार पकड़कर बाहर बह चलती है। इसकी अभिव्यक्ति की रेशमी डोर को पकड़कर जो 'भीतर' पैठ सके, भीतर का अपार सौन्दर्य-राशि को पा और पी सके, उस 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' का रसपान कर सके—वही कला का सच्चा पारखी है, कला के वास्तविक आनन्द का वही भोक्ता है।

यह निखिल विश्व वास्तव में एक अविच्छिन्न संगीत है, एक आर्ष कविता है, लीलामय की नृत्य-लीला है, एक सुन्दर सुमधुर आनन्द-प्रवाह है, जिसके रस में हमारे प्राण सराबोर हुआ करते हैं—'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' ऊपरी सारी विषमताओं की तह में एक अविराम समता है, एक अविच्छिन्न संगीत है। ये विषमताएँ तो केवल ऊपरी बर्फ की चट्टानें हैं, जिनके अन्तराल में अविराम गति से आनन्द का अमृत-प्रवाह अनन्तकाल से प्रवाहित होता चला आ रहा है। हमारा यह जीवन 'क्षण-भंगुर' होते हुए भी, एक विराट् 'स्वप्न' होते हुए भी, अनन्त है, अमर है, शाश्वत है। जीवन एक है, जन्म कई बार होता है। जीवन की इस अमर धारा को मृत्यु और भी उद्वेलित-उल्लसित-पुलकित कर देती है। मृत्यु का द्वार लाँघकर भी हमारे जीवन का स्रोत बन्द नहीं होता। इसी अमर अनन्त जीवन का स्पर्श समस्त कलाओं में मिलता है। इस विविधता में 'एकता' के अखण्ड सूत्र को निकाल लेना, इस विषमता में 'सम' को ढूँढ लेना ही कला की आत्मा है; और, जो कलाविद् बनने-मिटने वाली काया के भीतर अखण्ड एकरस चिर-शाश्वत, चिर नवीन आत्मा की एकता पर अपनी कला का निर्माण करता

है वही अमर है और उसी की कला 'कला' है। आत्मदर्शी कवि ब्राउनिंग ने कहा है—

Oh World as God has made it ! all is beauty,
And knowing this is love, and love is duty.

यह समस्त सृष्टि प्रभु की रची हुई है, इसलिए यहाँ सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है, सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य है। यह आनन्द ही सचमुच प्रेम है और यह प्रेम ही मानव-जीवन का चरम कर्तव्य है। चाहे जिस रूप में हो, अनादि काल से ही हमारे भीतर कला की उपासना चली आई है। जीवन का मूल रस सौन्दर्य है, और सौन्दर्य ही से कला की धारा बहती है, इसी हेतु जीवन और कला का अविभेद्य सम्बन्ध है।

भारतीय आदर्श में सदा ही काव्य और चित्रादि कला जीवन को उन्नत एवं प्रभुमय करने में सार्थक समझी गई है और इसके द्वारा जीवन-प्रवाह असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर मुड़ जाता है। रॉबर्ट ब्रीजेज ने भी कला के इस आदर्श को स्वीकार किया है—

Thy work with beauty crown, thy life with love.
Thy mind with truth uplift to God above
For whom all is, from whom all was begun
In whom all Beauty, Truth and Love are one.

कार्य में सौन्दर्य भर दो, जीवन में प्रेम। अन्तस्तल को सत्य के द्वारा प्रभु के समक्ष उद्घाटित करो, क्योंकि उसी प्रभु से ही सब-कुछ निकला है जिसमें ही सब-कुछ लय होता जा रहा है और जिसमें समस्त सौन्दर्य, समस्त सत्य, समस्त प्रेम एकाकार हो रहे हैं।

कला की सृष्टि का भी बहुत सुन्दर इतिहास है। नाचना हमने मोरो से सीखा है और हँसना फूलों से। शृङ्गार करना ऊषा से सीखा है और चहकना चिड़ियों से। जीवन की सुन्दरता को हमने ओस की एक बूँद पर पड़ी हुई अरुणिमा की आभा से पाया है। चित्र बनाना हमने इन्द्रधनुष से सीखा, गुनगुनाना भौंरों से, उछलना विक्षुब्ध समुद्र से और बरसना मेघों से। इस निखिल सृष्टि का अनन्त विलास तथा विकास एक अविच्छिन्न कविता में हो रहा है, एक लय में गूँज रहा है, कला की कमनीय कान्ति मे किलक रहा है। विश्व कलामय है, कवितामय है, सुन्दर है, मोहक है, बहुत ही मधुर है।

भारतवर्ष ने केवल बाह्य रूप को कभी स्वीकार नहीं किया है। उसने सतत आभ्यन्तरिक सौन्दर्य का मधुपान किया है, आत्मा के अमर सौन्दर्य में अपने को नहलाया है। **यथार्थवाद** (Realism) इसीकारण भारतीय कला

का कभी प्रेरक नहीं हुआ। इन्द्रियता में अतीन्द्रिय का दर्शन ही भारतीय कला की स्फूर्ति का कारण रहा है। भारतीय कला केवल प्रकृति को नहीं देखती, प्रकृति के भीतर के सजीव संकेत, अमर इशारे को देखती है। सृष्टि के प्राण-पिण्ड में जो गति है और उस गति के कारण ही बाहर जो चहल-पहल है, उसे ही भारतीय कला साक्षात्कार करना चाहती है—समस्त सौन्दर्य जिसकी अभिव्यक्ति मात्र है। परात्पर रूप जब अपने को व्यक्त करता है तो उसे हम 'सुन्दर' कह उठते हैं। भारतीय वैष्णव-साधना ने इस अमर सौन्दर्य को ही सृष्टि का सनातन प्राण माना है। इसीलिए चिर सुन्दर के रूप में ही प्राणधन का दर्शन किया है—

जनम अवधि हम रूप निहारिनु
नयन न तिरपित भेल
लाख लाख युग हिया माझ राखनु
तबु हिया जूड़ न गेल।

इसी से पूर्व और पश्चिम की कला की उपासना के सम्बध में बहुत मत-भेद रहा है। कला सुन्दर की प्रतिमा है। जिसे भारतवर्ष सुन्दर कहता है, उसे यूरोप नहीं कह सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि दोनों देशों के मानव-जीवन की मूल अनुभूति एवं संस्कृति में बड़ी विभिन्नता है। प्राच्य साधना आत्मा की आभ्यान्तरिक लालसाओं और सौन्दर्य को लेकर चलती है, इसीलिए हमारी कला में भी उसी का विन्यास हुआ है। इस नश्वर काया के भीतर जो अखण्ड आत्म-सत्ता है, उसका जो अमिट सौन्दर्य है; इस क्षण-क्षण में नाश की ओर जाते हुए संसार के अनल-गर्भ में अविनाशी की जो चिर-ललित लीला हो रही है, प्राच्य कला, प्राच्य साधना उसी का आधार और आश्रय लेकर चली है। जहाँ पाश्चात्य साधना और संस्कृति मानव और प्रकृति की बाह्य अभिव्यक्ति में ही अपने को सीमित कर लेती है, जहाँ उसे इसके भीतर डूबने अथवा इससे ऊपर उठने के लिए न अवकाश है न प्रेरणा ही, वहाँ भारतवर्ष आत्मा की अमर ज्योति को जगाकर उसी के दिव्य प्रकाश में जगत् को देखने का, अनेक को एक में डुबाकर देखने का, सम में विषम को मिटाकर देखने का अभ्यासी है। इसी कारण भारतीय और पाश्चात्य कला-दर्शन में एक महान् अन्तर है जिसे संक्षेप में ऐन्द्रिय और इन्द्रियातीत का अन्तर समझा जाना चाहिए। राधा और हेलन तथा सीता और डायना के चित्र आज भी हमें आकर्षित करते हैं, परन्तु राधा और सीता की जिस शोभा का वर्णन कवि ने किया है, उसकी छाया को भी हेलन और डायना छू नहीं सकती। नटनागर राधा को छोड़कर चले गए और राधा आजीवन तड़पती रही। उस तड़पती हुई चिर-विरहिणी

राधा के मनोभावों का चित्रण ही प्राच्य कला का मूर्त आधार है। राधा की इस अमर वेदना में विश्वात्मा की अमर वेदना व्यंजित है जो उस 'न मिलने वाले देवता' के लिए हमारे हृदय में सदा जागती रहती है। रास और चीर-हरण की मधुर लीलाएँ हमारे हृदय को संयोग श्रृङ्गार की पराकाष्ठा के कारण ही नहीं खींचती। इनमें तो हिन्दू हृदय का, आर्यों की रहस्यमयी मधुर साधना का चित्र अंकित है। राधा सभी गोपियों के साथ माधव से मिलती है, और उनके साथ हमारा हृदय भी देवता को अनन्त विराट सत्ता में अपना तुच्छ व्यक्तित्व गँवा देता है। उसमें हमारे हृदय की अन्तर्ज्वाला का चित्र है। चीरहरण-लीला हमें क्यों मोहे हुई है? उसमें तो हमारे और हमारे आराध्य के बीच का परदा हटाकर, 'दुई' का भेदभाव हटाकर 'एकता', कभी न बिछुड़ने वाली एकता की ओर संकेत है।

कला की सृष्टि केवल आनन्द के लिए होती है, वह मानव-हृदय की उत्कंठाओं को तीव्र कर परम आनन्द में डुबा देती है, विलीन कर देती है। चारों वेदों में साम वेद को इसी हेतु सबसे सुन्दर माना जाता है कि उसमें मानव-हृदय की आभ्यन्तर लालसाओं का सुन्दर संगीत है। इसी से भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है 'वेदानां सामवेदोस्मि'। इसलिए सबसे महान् कला तो वह है जिसमें कलाकार कला की उपासना में 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' का साक्षात्कार करके उसी मे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का दर्शन करता है, 'रसो वै सः' का रसास्वादन करता है—और उसका आस्वादन कर 'समोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' उस आनन्दमय को पाकर स्वयं आनन्दमय हो जाता है।

यह संसार माया है, मिथ्या है, स्वप्न है, इसका अर्थ इतना ही है कि यह उस अव्यक्त को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पा रहा है। जिस प्रकार अभिनय में अभिनेता, गीत में गायक, काव्य में कवि और क्रीड़ा में बालक आनन्द लेता है, उसी प्रकार इस व्यक्त सत्ता में अव्यक्त ब्रह्म की अविराम लीला चल रही है। यह लीला चिरन्तन है, इसलिए चिरनवीन है। 'वह' स्वयं लीला करने वाला और स्वयं लीला और स्वयं लीला-भूमि है। इस लीला में एक ताल है, गति है, स्वर है, आलाप है, आरोह और अवरोह हैं; परन्तु है यह चिरन्तन और चिरनवीन, चिरसुन्दर, चिरमधुर। हमारा अहं, समस्त समष्टि के पृथक्-पृथक् अहं उस लीलामय के अपार लीलासिंधु में लघुकण है, बुदबुद हैं—उसी में से निकलकर उसी में लय हो जाने वाले स्फुलिंग हैं। इसीलिए यदि हम अपनी गहराई में डूब सकें तो हम उस सत्, चित्, आनन्द की राशि में अपने को एक कर उस अखण्ड प्रकाश-पुंज में अपने नन्हे-से स्फुलिंग को खोकर अपने वास्तविक विराट् रूप का दर्शन कर सकेंगे। सतह पर सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता, उसका दर्शन तो अपने-आप में डूबने पर ही

होता है और कला की उपासना इसी में हमें प्रेरणा भरती है, हमारे अन्तस्तल को उल्लसित एवं आनन्दित कर अपने-आपमें, अपने अन्तः के अथाह सागर में डूबना सिखलाती है। ऐन्द्रियता से ऊपर उठाकर आत्मतत्त्व में एकाकार करने में कला सर्वसुन्दर साधना है। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद तो सतह की लहरें हैं। इनके प्रहार को चीरकर हमें इनके अन्दर डूबना है और यह अनुभव करना है कि जो कुछ है, सत् चित् आनन्द की लीला है—ईशावास्यमिदं सर्वं—सब-कुछ ईश्वरमय है, परमात्मा से ओतप्रोत है। 'नेह नानास्ति किंचन' यहाँ 'नानात्व' है ही नहीं, एक ही एक है। अनेकता के पर्दे में वही 'एक' अपनी लीला से चर-अचर सबको मुग्ध किये हुए है।

इस 'विश्व रूप दर्शन' के साथ ही हमारी सीमा जो हमें चारों ओर से जकड़े हुए है, छिन्न-भिन्न हो जाती है; हम उसी विराट् पुरुष के एक अविभेद्य अंग बन जाते हैं, हमारे मनोराज्य में समस्त ब्रह्माण्ड आसानी से समा जाता है, एक-अनेक का भेद मिट जाता है, तभी जाकर हम वस्तुतः सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का दर्शन कर पाते हैं और हमारी इस काया को भीतर और बाहर वही सत्य, शिव और सुन्दर अपने अखण्ड लीला-अभिनय में डुबा लेता है। कला की चरम साधना यही है।

मानव-जीवन अपूर्ण है और वह 'पूर्णता' की ओर बड़े वेग से दौड़ता है, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती है। वह अपने नन्हे बिन्दु में निखिल सृष्टि को छिपा लेना चाहता है, सब-कुछ अपनाना चाहता है। इसी उत्सुकता में, इसी अन्तर्जलन मे कला का बीज उगता और पनपता है। हम विशाल समुद्र, अनन्त आकाशमण्डल, सुन्दर छविशाली चन्द्र, सूर्य तथा असख्य तारे, निर्झर, सर, सरिता, उषा और संध्या को देखते और विस्मय मे अभिभूत हो जाते हैं। ये क्या है ? किसकी ज्योति है ? किसकी लीला हैं—इस विशाल सुन्दरता की तह मे कौन मुसकरा रहा है ? कौन संकेत दे रहा है ? यह सारा किसका मौन 'निशा निमंत्रण' है ? हमारे हृदय में उसी छिपे हुए प्रेमी में लय होने की लालसा जगती है और हम उसे भर-आँख देखने, अपनी भुजाओं में बाँधने और अपनाने के लिए व्याकुल हो जाते है। सजल श्यामल मेघमाला देखकर मोर नाच उठता है। मलयानिल के तनिक-से झोंके से कोकिला का कंठ खुल जाता है—आम की बौरो के भीतर छिपकर वह गा उठती है। दिनकर की किरणें कमल का हृदय गुदगुदा देती हैं—चन्द्रमा के स्निग्ध अमृत-चुम्बन का रसास्वादन करने के लिए समुद्र अपना विशाल वक्षस्थल खोल देता है। वीणा की मधुर लय पर कुरंग मचल पड़ता है, मृत्यु की गोद में सहर्ष छलाँग मारता है। शलभ दीपक को अपनी करुण कहानी न सुना सकने के कारण स्वयं उसकी लौ में लीन हो जाता है। सारा संसार प्रेम के सूत्र में बँधा हुआ है। सभी किसी-न-

किसी के चरणों में अपने-आपको निछावर कर देना चाहते है, किसी 'एक' का होकर अपने प्राणों की अमर ज्वाला शान्त करना चाहते हैं। यह ज्वाला ही मनुष्य के हृदय को बेचैन किये हुए है, जिसके कारण न वह कहीं रुक सकता है, न कहीं विरम सकता है। चलता ही चला जा रहा है—किसी 'अनदेखे' की खोज में, किसी 'अपने' को पाने की चाह में। इसी 'चाह' में, इसी आजीवन जलन में आनन्द है। इसी आनन्द की व्याख्या और अभिव्यक्ति कला में होती है। इसी कारण सभी को अपने हृदय की प्यास बुझाने का उपकरण किसी-न-किसी प्रकार की कला में मिलता है। कोई कविता लिखकर, कोई चित्र द्वारा, कोई संगीत, नृत्य-वाद्य द्वारा अपनी ज्वाला को बुझाना चाहता है, उस अनन्त में अपने सान्त को मिला देना चाहता है। अपने भीतर एक शीतल स्पर्श का अनुभव करता और किसी अदृश्य सत्ता को विद्यमान देखता है, परन्तु समझ नहीं पाता कि यह क्या है। इसी स्पर्श की अभिव्यक्ति वर्डस्वर्थ ने यों की है—
"I have felt a presence that disturbs me with the joy of elevated thoughts."

बस, इसी चिरन्तन शीतल स्पर्श की मधुर अनुभूति के लिए कला की सृष्टि तथा उपासना होती है, और इस उपासना में साधक की आभ्यन्तरिक अथच अन्तरतम लालसाओं को एक सहारा और आधार मिलता है जहाँ साधना की सुन्दर निधियाँ सजाकर मीरा 'मिलन-मन्दिर' में प्रवेश करती है और अपने हृदय के हृदय मे अपने प्राणाराम सखा और जन्म-मरण के साथी 'गिरिधर गोपाल' को पाकर उसमे सदा के लिए अपने को खो देती है, जैसे कभी 'हुई' थी ही नहीं। समस्त कला-कृतियाँ सान्त को अनन्त में डुबाकर अनन्त बना देती है—आत्मा-परमात्मा का अथवा यों कहिये 'प्रिया-प्रीतम' का 'अन्तर्मिलन' कराकर स्वय तदाकार हो जाती है।

परम भाव का स्वरूप

देवर्षि नारद ने अपने 'भक्ति-सूत्र' में भगवदासक्ति के ग्यारह भेद किये हैं। उन ग्यारह के नाम हैं—

१. गुण माहात्म्यासक्ति—देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, काकभुषुण्डि, शेष, सूत, शौनक, शांडिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु, जनमेजया।

२. रूपासक्ति—मिथिला के नर-नारी, राजा जनक, दण्डकारण्य के ऋषि, ब्रजनारियाँ, मीरा।

३. पूजासक्ति—लक्ष्मी, राजा पृथु, अम्बरीष, श्री भरतजी।

४. स्मरणासक्ति—प्रह्लाद, ध्रुव, सनकादि।

५. दास्यासक्ति—हनुमान, अक्रूर, विदुर।

६. सख्या सक्ति—अर्जुन, उद्धव, संजय, श्रीदाम, सुदामा।

७. कान्तासक्ति—अष्ट पटरानियाँ।

८. वात्सल्यासक्ति—कश्यप-अदिति, सुतपा-पृश्नि, मनु-शतरूपा, दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी।

९. आत्मनिवेदनासक्ति—हनुमान, अम्बरीष, बलि, विभीषण, शिवि।

१०. तन्मयतासक्ति—याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि, प्रतीक्षण।

११. परमविरहा सक्ति—उद्धव, अर्जुन, ब्रज की नारी।

प्रेमरूपा भक्ति की पूर्णता में ये सभी आसक्तियाँ रहती ही हैं—जैसे श्री ब्रजगोपियों में थी। इन आसक्तियों के द्वारा भगवान् प्रेमरसना में बँध जाते हैं। इनमें उत्तरोत्तर सम्बन्ध की ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों भक्त और भगवान् का सम्बन्ध भी प्रगाढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि यह आसक्ति 'तन्मयता' का रूप धारण कर लेती है—भगवान् और भक्त 'एक' हो जाते हैं। इसके बाद 'परम विरह' की अवस्था प्राप्त होती है। इस परम विरह में चिरमिलन और चिरविरह का अपूर्ण रसायन तैयार होता है—नित्य मिलन होते हुए भी चिरन्तन विरह का रसास्वादन होता रहना है। राधा रानी श्रीकृष्ण की गोद में सिर रखे लेटी हैं, फिर भी उन्हें भान हो रहा है कि कृष्ण नहीं मिले। फिर 'कृष्ण-कृष्ण' का आवाहन करती हुई स्वय कृष्णमय हो जाती हैं और तब राधे! हा राधे! कहकर राधा का आवाहन करने लगती हैं। इसे ही 'प्रेम

वैचित्य' की स्थिति कहते हैं। यह परम मधुर एवं स्वयंसंवेद्य स्थिति है—इसका शब्दों में आकलन नहीं किया जा सकता। अस्तु।

ऋग्वेद की एक ऋच ाका अंश है—'योषा जारमिव प्रियम्', जिसका भावार्थ यह है कि ईश्वर के प्रति मनुष्य के प्रेम का आवेग परकीया नारी के उपपति के प्रति आवेग के समान होना चाहिए। परम भाव की तात्त्विक सूक्ष्म मीमांसा पूर्णतः उपर्युक्त पद में की गई है। प्रेम का परितःपरिपाक परकीया में ही होता है। स्वकीया में तो वह नियंत्रित होकर आत्म-बोध का सहायक बन जाता है। सहजिया सम्प्रदाय के विचार में राधा (ऊढ़ा) का प्रेम ही आदर्श प्रेम है। प्रकृति में जो मिथुन-भाव चल रहा है, स्त्री-पुरुष में आकर्षण है, उसे ही साहित्य में 'रति भाव' और साहित्य के अनन्तर साधना-क्षेत्र में 'मधुर भाव' कहते हैं। ईसाई ईसा-मरियम, सूफी लैला-मजनूं अथवा शीरी-फरहाद तथा हिन्दू राधा-कृष्ण के द्वारा अपनी इस परम भावना को व्यक्त करते है। परकीया अपने सारे गृह-कार्यों में फँसी रहने पर भी अपने प्राणवल्लभ प्रेमी का स्मरण किया करती है और मिलन की प्रतीक्षा में व्याकुल हो तड़पती रहती है—

> **परव्यसनिनि नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।**
> **तमेव स्वादयत्यन्तर्नव सङ्ग-रसायनम्॥**

हम जिन-जिन बातों से इस संसार में बँधे हुए हैं, ठीक उन्हो नातों से भगवान् में भी जुड़ सकते हैं। सच तो यह है कि इन सम्बन्धों के अतिरिक्त भी कोई सम्बन्ध है, इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते, इसीलिए इन्हीं सब सम्बन्धों को लेकर भगवान् से भी मिलना है। हम किसी के पुत्र है, किसी के पिता, किसी के मित्र, किसी के प्रेमी, किसी के प्रेमास्पद। परमार्थ के पथ में ये सभी नाते वस्तुतः अपना आस्पद पाकर दिव्य हो जाते हैं, क्योंकि हम अपने सभी नाते भगवान् में स्थापित करना चाहते हैं। हमारे भीतर जो अपूर्णता है, रिक्तता है, वह हमें चैन नहीं लेने देती। 'शान्त भाव' में हमारी रति-भावना का प्रस्फुरण नहीं होता। स्वान्तस्थ ईश्वर में लय होने वाले आत्मदर्शी सिद्ध सन्तों ने प्रभु की जो झाँकी पाई उसे कभी-कभी अपने प्रेम-विह्वल गीले शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। कबीर ने 'धुनि लागी नगरिया गगन घहराय' द्वारा उसी अव्यक्त आनन्द को व्यक्त करने की चेष्टा की है। सुन्दरदास ने भी इस 'मधुर मिलन' का उल्लेख किया है—

> है दिल में दिलदार सही अँखिया उल्टी करि ताहि चितैये।
> आब में, खाक में, बाद में आतस, जान में सुन्दर जान जनैये॥
> नूर में नूर है, तेज में तेज हो, ज्योति में ज्योति मिलै मिल जैये।
> क्या कहिये कहते न बने, कुछ जो कहिए कहते ही लजैये॥

यह आनन्द योगिकों के 'अनहद' से भी कुछ बढ़कर है। इस 'शान्त भाव' में जो आनन्दानुभूति है वह भी द्वैतमूलक है। दो का एक में लय होने की क्रम-व्यवस्था ही प्रेम एवं आनन्द की मूल प्रेरणा है।

हाँ, तो हमारे इन्हीं सम्बन्धों को, जिन्हें हम भगवान् में स्थापित कर पूर्णतः उस सम्बन्ध-विशेष में लय होना चाहते हैं, पाँच मुख्य भावों में विभक्त किया गया है—

१. शान्त या प्रशान्त भाव
२. दास्य भाव
३. सख्य भाव
४. वात्सल्य भाव
५. रति या मधुर भाव

इनमें शान्त और दास्य तो 'भाव' तक ही रह जाते हैं परन्तु सख्य, वात्सल्य और मधुर 'रति' कहे जाते हैं। इन भावों में हमारी रति-भावना क्रमशः तीव्र होती चलती है। समाधि की निर्विकल्प स्थिति में योगी लोग अपनी हृदय-गुफा में सहस्र-सहस्र सूर्यों का तेज तथा सहस्र-सहस्र चन्द्रमा की शीतलता का एक साथ ही अनुभव किया करते हैं। इस दिव्य प्रकाश एवं सुस्निग्ध शीतलता की प्रशान्त स्थिति में स्थित हो जाना ही प्रशान्त भाव है। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि जब संसार की ओर बढ़ने वाले समस्त भावप्रवाह भगवान् की ओर मुड़ जाते हैं और अन्तस्तल में निर्वात दीपक की लौ जगमगाने लगती है, तब इस प्रेमपथ में साधक पैर रखने का अधिकारी होता है। और-और भावों में साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता हुआ रसास्वादन करता जाता है त्यों-त्यों परमात्मा उसके निकट आते जाते हैं और वह परमात्मा को प्रत्यक्षतः खुली आँखों देखता है, स्पर्श करता है, उनसे संलाप करता है, उनका मधुर आलिंगन करता है और फिर क्या-क्या नहीं करता ?

यहाँ यह भूल न जाना चाहिए कि शान्त भाव या उसके पूर्व की स्थिति अर्थात् परमात्मा के प्रति हृदय की साधारण रुझान को भी हमारे ऋषियों ने प्रभु की प्रेरणा ही का फल माना है[1] जिसे गोसाईंजी ने 'सो जानत जेहि देहु जनाई' द्वारा प्रकट किया है। हमारे हृदय में भक्ति का जो पौधा उगता है उसका बीज परमात्मा की प्रेरणा में ही सन्निहित है। भक्ति में प्रेम का पुट प्रारम्भ से ही रहता है। बिना प्रेम के भक्ति हो नहीं सकती। 'प्रेमाभक्ति' तो पंचम

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनु स्वाम्॥

"Let no one suppose," says the Theologic Germasice, that we may attain to this true light and perfect knowledge···by hearsay, or by reading or study, nor yet by high skill and great learning"—'Inner Lights'.

पुरुषार्थ मानी गई है जिसे भगवत्कृपा के बिना प्राप्त करना कठिन है। इसी अहैतुकी परम प्रेमाभक्ति द्वारा हमारा चिरन्तन सम्बन्ध भगवान् से स्थापित होता है। विश्व-मनमोहन ब्रज-वल्लभ ही, जो पहले हमारा स्वामी है, धीरे-धीरे हमारा सखा हो जाता है। परन्तु इस समानता से हमारा जी नहीं भरता। जो हमारा सखा है वह दूसरे का भी सखा हो सकता है; उसके प्रेम का भागी दूसरा हो सकता है। हम तो अपने प्रेम-पात्र के ऊपर अपना पूर्ण एकाधिकार या इज़ारा चाहते हैं। हमारी कामना तो यही होती है कि हम सर्वथा उसी के हो जाएँ और वह सर्वथा हमारा ही, केवल हमारा ही, बस एकमात्र हमारा ही हो जाए।

सख्य-भाव में प्रेम की अद्वैतता नहीं मिलती। हम अपने प्यारे सखा को सर्वथा एकान्ततः 'अपना' नहीं बना सकते। इसमें 'ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देऊँ' की अभिलाषा पूरी नहीं हो पाती। प्रेम तो एकाधिपत्य ही चाहता है, इसमें तीसरे की गुंजाइश ही नहीं है। वात्सल्य-भाव में यह एकाधिपत्यता बहुत अंशों में प्रायः प्राप्त हो जाती है। वात्सल्य रति में भगवान् को अपना प्रिय वत्स बना लिया जाए अथवा उस जगज्जननी का अबोध शिशु बन जाया जाए—दोनों ही तरह से इस रस का आस्वादन होता है। किसी भी सम्बन्ध से अपनाना चाहिए—भगवान् बाँहें फैलाये तैयार हैं। जो हमारा पुत्र है वह किसी और का नहीं हो सकता। उसे प्यार चाहे जितने करें, परन्तु हमारा-उसका सम्बन्ध तो अविच्छिन्न बना रहेगा। उसके भी मित्र, सखा कितने ही हों, परन्तु माता तो एक ही होगी, जिसके प्रेमपूर्ण अधिकार में कोई भी अन्य सम्बन्ध बाधा नहीं डाल सकता। पुत्र पर माता की एकमात्र अनन्यता होती है। कहावत है, 'डायन को भी अपना बेटा प्यारा होता है।' भगवान् कृष्ण के विराट् रूप को देख, अर्जुन, जिनकी उपासना सखा-भाव की थी, भय से काँपने लगे, परन्तु वही रूप यशोदा के हृदय में भय का संचार न कर सका। अर्जुन अपनी भूलों, त्रुटियों एवं अपराधों के लिए भगवान् से क्षमा माँगने लगे, परन्तु यशोदा अपनी प्यार-जन्य प्रताड़ना के लिए क्षमा माँगने न गई।

प्रेम की पराकाष्ठा कान्ता-भाव में ही प्राप्त होती है। सर्वात्म समर्पण की पूर्ण अभिव्यक्ति यहीं होती है। पत्नी पति के सम्पूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है; उससे उसकी कोई लाज नही, कोई दुराव-छिपाव नहीं। पत्नी पति के प्यार-स्नेहादि की भी अधिकारिणी है, सेवा की भी। पति पत्नी का सखा भी है, स्वामी भी, प्रेमी भी है, प्राणनाथ भी। 'अवसर पर पत्नी माता के अभाव को भी पूरा करती है। इसी हेतु इस 'परम भाव' में सभी भावों का रसायन तैयार हुआ है।

प्रभु के साथ दास, वत्स, सखा अथवा उसकी परम प्रणयिनी का सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद हमारे जीवन में एक विचित्र आनन्द का उन्मेष हो उठता है और अपने स्वजन, परिजन, वर्ग, समाज, आदि में हम उसी दिव्य सम्बन्ध का दर्शन करते हुए सदा आनन्द-मुग्ध रहते हैं—जगत् के साथ हमारे सभी सम्बन्धों में एक प्रकार का दिव्य रोमान्स आ जाता है और हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र—सभी सम्बन्धों में एक अकथनीय आनन्द का संचार हो जाता है। सब सम्बन्ध धर्ममूलक हो जाते हैं।

परमभाव की साकार प्रतिमा राधा हैं। महाभाव में राधा और कृष्ण का चिरन्तन विहार होता रहता है। कभी-कभी राधा ही कृष्ण तथा कृष्ण ही राधा-रूप में आकर केलि-क्रीड़ा करते हैं। कृष्ण कभी-कभी कालिन्दी-कूल के करील-कुंजों की सघन छाया में राधा के पाँय पलोटते हुए तथा रूठी हुई प्रियाजू से 'देहि में पदपल्लवमुदारम्' की याचना करते हैं। राधा की भाँति मीरा की उपासना भी परम भाव की थी। स्वप्न में मीरा ने अपने अधरों पर कृष्ण के चुम्बन का शीतल-मधुर, विद्युत्-स्पर्श का अनुभव किया, आलिंगन का अमृत-पान किया—(like the passionate lover's resting on the heaving bosom of his beloved) और यह स्वप्न ही उसके लिए महान् जागरण, चिर-जागरण, का कारण बन गया। फिर क्या था, गिरधारीलाल को ही मीरा ने अपना प्राणवल्लभ पति मानकर सर्वात्म-समर्पण कर दिया।

सन्तों ने भी इसी परम-भाव में अपनी अनुभूति की उपलब्धि की है। कबीरदास ने भी अपने को 'हरि की बहुरिया' कहकर परिचय दिया है। सूफी फकीरों में तो यही भाव ओतप्रोत है। 'साजन के घर' का आह्वान सुनने वाले 'सून्न महल' में सेज बिछाने वाले भावुक भक्तों ने 'प्रीतम' को ही सम्बोधित कर अपनी अनुभूति-मूलक प्रेमोपासना की दिव्य संगीत-धारा में हृदय की लालसा और आत्मा की भूख-प्यास को बुझाया है। दास्य-भाव के उपासक गोस्वामीजी तक ने भी 'कामिहिं नारि पियारि जिमि' की भावना में ही हृदय को तृप्त होने का आदर्श स्वीकार किया है। यहाँ 'नारि' में परकीया का ही बोध होता है जिसमें 'रति' की चरम अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह कि निर्गुण सन्तों तथा मर्यादावादी लोक-संग्रही भक्तों ने भी जीवन की पूर्णावस्था मे पति-पत्नी भाव के गहरे प्रेम के रूप में भगवत्प्रेम को ग्रहण किया है।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव जब दक्षिण भारत में तीर्थाटन कर रहे थे, वहाँ उन्हें राय रामानन्द के दर्शन हुए थे और दोनों में साध्य तत्त्व के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ बातें हुई थीं। श्री राय रामानन्द ने बहुत ही विस्तार के साथ साध्य-साधन के क्रम-विकाम पर प्रकाश डाला है।

प्रभु ने पूछा––मनुष्य का जो कर्तव्य है उसका कथन कीजिये ।

राय महाशय ने कहा—प्रभो ! मैं समझता हूँ, अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कार्य करते रहने से मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो सकता है ।

प्रभु ने कहा—हाँ, यह तो ठीक ही है । कोई और उपाय बताइये ।

'अपने सब कर्मों को भगवान् के चरणों में अर्पित कर दिया जाए । सब-कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाए ।'

'बात तो बड़ी सुन्दर है परन्तु इससे भी आगे कोई बात हो तो कहिये ।'

'सत्-असत् का विचार करते हुए भगवान् की निरन्तर भक्ति करते रहना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है ।'

'कोई सरस-सा उपाय बताइये ।'

'भगवान् की विशुद्ध भक्ति ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है ।'

'यह तो मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु भक्ति किस प्रकार की जाए, यह और बताइये ।'

'प्रेमपूर्वक भक्ति करने से ही प्रेममय प्रभु का प्रेम प्राप्त होता है । प्रेम ही उनका स्वरूप है, वे रसराज रसिकशेखर हैं; इसलिए जैसे भी हो उस रससिन्धु में घुसकर खूब गोते लगाना चाहिये ।'

'परन्तु उस रस का आस्वादन कैसे हो ?'

'भगवान् के प्रति दास्य भाव रखना ही सर्वश्रेष्ठ है ।'

'परन्तु इससे भी बढ़कर तो कोई सम्बन्ध होगा न ?'

'हाँ, सख्य-सम्बन्ध इससे भी बढ़कर है । यथार्थ रसास्वादन तो सख्य-प्रेम में ही होता है ।'

'परन्तु प्रेम का कोई ऐसा रस बतलाइये जो हर हालत में एकरस बना रहे ?'

'वह है वात्सल्य-भाव ।'

'इससे आगे भी कोई भाव हो तो उसे मुझसे कहिए ।'

'वह है कान्ता-भाव । बस, इसी में जाकर सभी रसों और सभी भावों की परिसमाप्ति हो जाती है ।'

'परन्तु कान्ता-स्नेह से भी बढ़कर जो कुछ हो, उसे कृपया बता दीजिये ।'

'बस-बस प्रभो ! इससे आगे अब कह नहीं सकता, वह अत्यन्त गोपनीय है । भला श्री राधारानी के प्रेम की प्रशंसा कौन कर सकता है ? उनका ही प्रेम तो सर्वश्रेष्ठ है ।'

भगवत्प्रेम की इस दिव्य मधुर साधना में शरीर को कसना नहीं पड़ता; यम-नियमादि के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता । साधारणतः देखा जाता है कि लोग संयम के पीछे ही परेशान रहते हैं, विषयों से मन को मोड़ने में और उससे

रात-दिन संघर्ष करने में ही जीवन को नष्ट कर देते हैं और इस विकट संघर्ष में ही उनकी सारी शक्ति लग जाती है, फिर भी वे मन को जीत नहीं पाते। परन्तु भगवान् के प्रेम का एक कण भी जिसे मिल गया उसकी सारी इच्छाएँ, सारी वासनाएँ स्वयं नष्ट होकर निर्मूल हो जाती हैं। जिन इन्द्रियों पर योगी, यती और तपस्वी लोग संयम करने की इच्छा रखते हैं फिर भी नहीं कर पाते, उन इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों को भक्त भगवान् के चरणों में निवेदित कर देता है। स्त्री, पुत्र, घर, शरीर, सब-का-सब कृष्णार्पण कर देता है और सच पूछा जाए तो वास्तविक पूजा है भी यही।

प्रेम तो परस्पर हृदय का आदान-प्रदान है—भगवान् को अपना हृदय देकर हमने भगवान् का हृदय पाया, क्योंकि इस प्रेम-पथ में तो भगवान् भी मनुष्य का प्रेम पाने के लिए उतना ही पागल है जितना मनुष्य भगवान् का प्रेम पाने के लिए। भगवान् को भी हमारी उतनी ही आवश्यकता है जितनी हमें उनकी है। इस प्रेम में दोनों ही एक-दूसरे के पीछे दीवाने हैं। भगवान् अपनी सारी भगवत्ता भुलाकर भक्त के पीछे-पीछे प्रेम की भीख माँगते फिरते हैं।

रवि बाबू का इस विषय पर एक बहुत ही सुन्दर गीत है जिसका संक्षेप भावार्थ यों है—

युग-युग से मेरा हृदय-कमल खिलता चला आ रहा है जिसमें हम-तुम बँधे हुए हैं। इस कमल के दल एक-पर-एक खुलते जा रहे हैं, मानो कहीं इसका अन्त ही नहीं है और इस कमल-कोष का मधु इतना मीठा है कि तुम एक मुग्ध भ्रमर की तरह इसे एक क्षण के लिए भी छोड़ नहीं पाते—इसीलिए तो तुम बँधे हुए हो, और मैं भी बँधा हुआ हूँ। इससे मुक्ति कहाँ?

यह स्थूल जगत्, जिसमें विषमता तथा विरोध के प्रवाह चल रहे हैं, वस्तुतः भगवान् की लीलाओं का विलास मात्र है। तह में प्रवेश करनेवाले भावुक भक्तों ने अणु-अणु मे उसी 'एक' परम रूप की मोहक छवि को ही देखा है। इस विभिन्नता के भीतर से एकता को निकालना यथार्थ ज्ञान है। बर्फ़ की इस विशाल चादर के नीचे मधुर प्रेम का अविच्छिन्न सोता बह रहा है। चराचर के यावत् पदार्थों में एक शृंखला है, एक सिद्धान्त है, एक नियम है, एक व्यवस्था है। इसी विराट् विश्व-प्रवाह में, इस अविच्छिन्न रस-स्रोत में आ मिलना ही सच्ची साधना है, अणु-अणु में विकीर्ण उस परम रूप की परछाईं के स्पर्श में आ जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है। यह तभी सम्भव है जब 'बुतों के पर्दे में छिपे हुए खुदा' को देखते हुए सब भूतों तक, विश्व के यावत् चराचर तक हृदय को फैलाकर जगत् में भाव-रूप में हम रम जाएँ। यही परम-भाव का उत्कृष्ट स्वरूप है।

अध्यात्म और शृङ्गार

All music is only the sound of His laughter,
All beauty the smile of His passionate bliss;
Our lives are His heart beats, our rapture the bridal
Of Radha and Krishna, our love is their kiss.
—Sri Aurobindo

अध्यात्म ने शृंगार को अस्वीकार नहीं किया है, प्रत्युत् उसे पूर्णतः स्वीकार कर उसे पार्थिव स्तर से ऊँचा उठाया है, दिव्य बनाया है, 'सब्लिमेट' किया है। 'रति' शब्द, जिसका व्यवहार साधारणतः हल्के अर्थ में होने लगा है, अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत गम्भीर एवं रहस्यमय भाव का द्योतक है। 'आत्मरति' अध्यात्म की एक परम दिव्य स्थिति है, जिसमें आत्मा स्वयं आत्मा में ही 'रति' करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने शृंगार को ही आध्यात्मिक साधना का प्रमुख हेतु माना है। स्टैनली हाल ने तो यहाँ तक कहा है कि भगवत्प्रेम मानव-हृदय की शृंगार-वासना का ही दूसरा रूप है।[1] इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शृंगार का कला और अध्यात्म के साथ गहरा सम्बन्ध है। शृंगार के आकर्षण से मनुष्य के हृदय में एक भाव-विशेष की सृष्टि होती है, सौन्दर्योपासना की वृत्ति जागृत होती है और यही है धर्म की मधुर अनुभूति का श्रीगणेश। सन्त ज्ञानदास ने गाया है—

रूप लागि आँखि झूरे गने मन मोर
प्रति अंग लागि कांदे प्रति अंग मोर।
हियार परश लगि हिया मोर कांदे,
परान पीरिति लागि स्थिर नाहि रांधे ॥

रूप-रस के लिए आँखें झुरा रही हैं; गुण श्रवण कर मन विभोर हुआ जा रहा है। मेरा प्रत्येक अंग तुम्हारे प्रत्येक अंग का संग प्राप्त करने के लिए

1. Love of God and the LIBIDO have the same mechanisms and religious and sex normality and abnormality are very closely connected. Love rules the camp, the court, the grove for, Love is God and God is love.

व्याकुल है। तुम्हारे हृदय का स्पर्श पाने के लिए मेरा हृदय तड़प रहा है और तुम्हारी प्रीति के लिए प्राणों को एक क्षण भी शान्ति नहीं, चैन नहीं।

संसार के प्रायः सभी धर्मों ने मनुष्य की कोमल स्नेह-वृत्तियों को भगवान् के पथ में मोड़कर भगवत्प्राप्ति के एक अचूक साधन रूप में स्वीकार किया है। शृंगार वृत्ति में सभी वृत्तियों का समाहार होता है और जब यह वृत्ति अध्यात्म-पथ में मुड़ती है तो मनुष्य आध्यात्मिक प्रणय एवं तज्जन्य आनन्द की दिव्य मंगलमयी, मोदमयी रसानुभूति में अपनी समस्त चेतना को खो बैठता है। भगवान् के साथ उसका एक निराला सम्बन्ध हो जाता है—वह सर्वथा भगवान् का और भगवान् सर्वथा उसके हो जाते हैं। और इसी आनन्दातिरेक की अवस्था में वह गाता है—

जनम जनम हम रूप निहारल
नैन न तिरपित भेल,
लाख लाख युग हिया बिच राखल।
तबु हिया जूड़ न भेल॥

कितनी विचित्र-सी बात है कि जो शृंगार-वृत्ति उच्छृङ्खल दशा में हमारे लिए घोर पतन एवं पापाचार का कारण थी, वही जब संयत होकर पति-पत्नी के सम्बन्ध में मर्यादित हो जाती है तो समाज के महान् कल्याण का कारण बन जाती है और फिर वही जब अध्यात्म के पथ में प्रवाहित होती है तो भगवत्साक्षात्कार का सुदृढ़ सेतु बन जाती है, क्योंकि उस समय हमारी सारी इन्द्रियाँ प्रेमस्वरूप प्रभु के प्रेमास्वादन में छकी रहती हैं, उसके रूप-रस का पान करती रहती हैं। अध्यात्म का पथ हमारे लिए अत्यन्त सरल एवं सरस हो जाता है, परम स्वाभाविक, परम मनोहर।

इन नैनन मेरा साजन बसता
डरती पलक न लाऊँ री।

सूफियों ने तो इश्क मजाजी को इश्क हकीकी का एक प्रबल कारण माना है। जब हमारी सभी इन्द्रियाँ भगवान् के रूप-रस का पान करने लग जाएँ, भगवान् का आस्वादन करने लगें तब समझना चाहिये कि हमारा प्रेम मजाजी से हकीकी की ओर मुड़ गया है। इस संसार में जो कुछ भी 'सुन्दर' है वह भगवान् की सुन्दरता की ही झलक है और इस सुन्दरता का आस्वादन करने के लिए मनुष्य युग-युग से नाना नाम और नाना रूपों की चादर ओढ़े, नाना जन्मों के द्वार लाँघता चला आया है।

पृथ्वी के एक-एक कण में, ज़र्रे-ज़र्रे में भगवान् की दिव्य रूपसुधा छलक रही है। गुलाब में, शमा में, सूर्य में, लैला की जुल्फों में, , सुरा में, साकी में सुराही में—बस उसी प्यारे का सौन्दर्य-मधु छलक रहा है। सर्वत्र रूप का हाट

लगा हुआ है, सौन्दर्य का सागर उमड़ा आ रहा है। उसी का आकर्षण पाकर शलभ दीपक की लौ में अपने आपको दे डालता है। उसी का इशारा पाकर बालारुण की कोमल किरणों के शीतल मधुर स्निग्ध स्पर्श में कमल अपना हृदय-कोष खोल देता है। आम की रसभरी मंजरी की मदमाती बयार कोयल के हृदय में एक दर्द, एक मीठी व्यथा जगा देती है। लैला के अलकों में मजनू का हृदय बँधा हुआ बल खा रहा है। शीरीं के अधरों पर फरहाद ने अपना जीवन-मधु उँडेल दिया! अरे, जहाँ भी 'पर्दा' है, उस पर्दे के भीतर वह 'पर्दा-नशीं' है ही। हृदय जहाँ भी, जिस कारण भी प्रेम से आकृष्ट हुआ है, यह निश्चय है आकर्षण का जाल बिछाने वाला वही रसिकों का सरदार है। उसके प्रेम का आस्वादन करके ही हम जीवित हैं, उसके प्रेम की भिक्षा के लिए हम दर-दर ठोकरें खाते फिरते हैं;—जिसने भी जब कभी किसी 'सुन्दर' को प्यार किया, सच मानो उसने 'उसे' ही प्यार किया।

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमलदल लोचन बांकी चितवन मंद मुसकानी॥
जमना के नीरे तीरे धेनू चरावै बंसी में गावै मीठी बानी।
तन-मन-धन गिरवर पर वारूँ चरण कँवल मीरा लपटानी॥

रूप का प्यासा मानव अनन्त जन्मों से उस रूप-सुधा का पान करता आया है और इस अमर अनन्त यौवन-वसन्त में वह सदा ही अपने प्राण-प्यारे के प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध है—कभी एक क्षण के लिए भी छुटकारा हुआ ही नहीं, अलग हुआ ही नहीं—प्रेमी प्रियतम की गोद में, प्रियतम प्रेमी की गोद में—

I am He whom I love,
He whom I love is I
We are two Spirits
Dwelling in one body.

सहजिया सम्प्रदाय जिसका विशेष विकास उत्तरकालीन बौद्ध विहारों और संघों में हुआ था शृंगार को अध्यात्म का सर्वोतम साधन स्वीकार करता है। वासना-रहित प्रेम के द्वारा स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की उपासना करे—इसी से उसे आत्म-प्रकाश का दर्शन होगा। इसमें कोई सन्देह नही कि इस मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों की ओर भी साधक का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया गया है और उसे सावचेत रहने का आदेश किया गया है। 'सहज' का अर्थ ही है स्वभाव-सिद्ध। इन्द्रियजन्य आकर्षण एवं वासना को सहजिया स्वभाव का विकार मानते हैं और इस पर विजय प्राप्त करके ही इस साधना-पथ में प्रवृत्त होने की स्वीकृति देते हैं। प्रणय की अत्यन्त प्रगाढ़

अवस्था में भी वासनारहित होकर जो इस प्रेम-साधना के मार्ग में शून्यवत् होकर प्रवृत्त होता है वही इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस सहजिया सम्प्रदाय में पीछे कई वैष्णव तथा तान्त्रिक भी सम्मिलित हो गये। वैष्णवों ने इसके प्रेम अंश पर ही विशेष जोर दिया और तांत्रिकों ने नारी-पूजन पर।

सहजिया सम्प्रदाय के गुप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में इनकी पूजा-अर्चा का विधि-विधान बहुत विस्तार से मिलता है। आरम्भ में साधक को किसी परम सुन्दरी से परिचय बढ़ाकर उसका प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा करनी पड़ती है; परन्तु इस बात की बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है कि वह एक क्षण के लिये भी स्खलित न हो जाय। फिर चार महीने तक उस प्रियतमा के चरणों में पड़ा रहना पड़ता है—परन्तु शर्त यह है कि उसका शरीर-स्पर्श न करे। इसके उपरान्त चार महीने तक उसकी शैया में उसके पार्श्व में सोए परन्तु अंग-संग न होने पावे और इसके अनन्तर उसके प्रगाढ़ आलिंगन में बँधकर भी एक क्षण के लिए भी अपनी स्थिति से विचलित न हो। सहज साधना में प्राणायाम आदि योग की कुछ क्रियाएँ भी चलती हैं और आत्मा का 'सनातन नारी' के रूप में ध्यान करने की विधि है और अपने शरीर के भीतर ही 'चार चाँद' पर ध्यान जमाया जाता है। पीछे जाकर चाहे जो भी विकृति इस सम्प्रदाय में आ गयी हो, आरम्भ में इसका उद्देश्य यह था कि पुरुष के भीतर नारी के प्रति और नारी के भीतर पुरुष के प्रति जो आकर्षण एवं उत्सुकता हैं उन्हें साधना द्वारा जीत लिया जाय।

बंगाल के परम वैष्णव कवि चण्डीदास माता वाशुली के उपासक थे परन्तु उनका 'रामी' नाम की एक रजक-कन्या से अटूट प्रेम था। इस 'अशिष्ट' प्रेम के कारण समाज से वे बहिष्कृत भी हो गये थे परन्तु उनके आध्यात्मिक प्रेम की प्रेरणा 'रामी' ही थी और उसे जगज्जननी, महामाया, महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी, गायत्री, सीता और राधा के रूप में देखते थे।

चण्डीदास की उपासना-पद्धति एवं अनुभूति में प्यार और उपासना में कोई अन्तर नहीं है और स्त्री-पुरुष का जो प्रेम है वही प्रेम भक्त-भगवान् के बीच भी है। यह अनुभूति केवल चण्डीदास की ही नहीं है। भक्ति जब एकान्ततः [illegible]श्रयी हो जाती है तो वहाँ समस्त प्रेम का केन्द्र-बिन्दु भगवान् ही बन जाते हैं और भगवान् से ही भक्त समस्त सुखों का उपभोग करता है। मैदम ब्रूयर फ्रान्स के एक बहुत सम्भ्रान्त कुल की ललना थी। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मुझे 'उस' के अपार प्रेम का आस्वाद मिला है—'Most intimate favours of the Bridegroom'. उसके प्यार में मैंने अपना सतीत्व गँवा दिया। उसने अपने

चुम्बनों से मेरे अन्तरतम के प्राण को पी लिया और मैं 'उस' में मिलकर डूब गयी।[1]

मीरा ने गाया है—

आली रे मेरा नैनाँ बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी॥
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ जीवन मूर जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगड़ी॥

दुनिया ने ऐसों को 'बिगड़ी' कहा ही है, बराबर 'बिगड़ी' ही कहा है परन्तु इन 'बिगड़ी' को संसार की आलोचनाएँ सुनने का अवकाश ही कहाँ है ? वे क्या जानें कि इससे भी 'बनी' हुई कोई स्थिति होती है।

हसीनाने जहाँ उजड़ी हुई महफिल में रहते हैं।
जिन्हें बरबाद करते हैं उन्हीं के दिल में रहते हैं॥

---

1. "Love of the Bridegroom triumphed over my chaste humility What a swoon of love when the lips of the Bridegroom drew the substance of life from me and through His caresses when I felt myself passed into Him."

रास और चीर-हरण का रहस्य

वैष्णव-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों में 'परम भाव' के उपासकों को यमुनातट, वंशीवट, करील-कुंज, वृन्दावन की गलियाँ तथा उनमें होने वाली रास की क्रीड़ा ने बहुत अधिक आकृष्ट किया है। परम भाव की सम्यक् उद्भावना में रास का बहुत हाथ है। मीरा की प्रेम-भावना भी रास और चीर-हरण की इन लीलाओं से मूलतः ओत-प्रोत है। मीरा ने इन लीलाओं का कहीं वर्णन तो नहीं किया है परन्तु इसके मधुर-रस का आभास यत्र-तत्र उसके पदों की अन्तर्धारा में स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के रास-रसोत्सव का वर्णन मीरा के पदों में मिलता नहीं। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि स्वयं मीरा श्रीकृष्ण की प्रणयिनी है। उसकी यह नित्य निरन्तर स्थिति है; किसी साधना के द्वारा नहीं अपितु स्वयं हृदय के भीतर उसने श्रीकृष्ण को पति-रूप में पाया है। एक सती-साध्वी पत्नी अपने प्राणाधार पति का अन्य स्त्रियों के साथ रास-विलास का वर्णन करती तो कैसे ? भारतीय ललना के हृदय में यह भाव आ ही कैसे सकता है कि उसका पति किसी अन्य रमणी पर आसक्त है ?

शरद की शोभनीया यामिनी में यमुना के तट पर दूर तक फैली हुई, लहराती हुई, कुंज-कुटीर में चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटकी-बिखरी है। यमुना के नीले-नीले जल-प्रवाह पर भगवान् चन्द्रदेव अमृतवर्षा कर रहे हैं। वृदावन की समस्त वन-भूमि मधुमयी हो गई है। निर्मल ज्योत्स्ना में स्नान कर कुसुमों से लदी हुई तरुलताएँ, ज्योत्स्नाप्लावित यमुना का पुलिन आज किसी अपूर्व आनन्द में 'किसी' के साथ क्रीड़ा करने की तैयारी में हैं।

सैकड़ों कुंज-कुटीर हैं। श्रीभगवान् की विहार-वासना ने आज इसे पागल बना दिया है। वंशी बजती है और—

बंशी धुनि सुनि गोप-कुमारी।
अति आतुर ह्वै चली श्याम पै
तन-मन की सब सुरति बिसारी॥
गल को हार पहिर निज कटि महँ,
कटि की किंकिणि गल महँ डारी।

पग पायलने धारण कर में,
कर की पहुँचिया पगन मँझारी ।।
कान बुलाक, कपोलन बेंदी,
नाक में पहिरि कान की बारी ।
एक नैन अंजन बिनु सोहै,
एक नैन में काजर सारी ।।
कोउ भोजन पति परसत दौरी,
कोउ भोजन तजि दीन्ही थारी ।
'नारायण' जो जैसी हुती घर,
सो तैसेहि उठि विपिन सिधारी ।।

भगवान् के अकस्मात् अन्तर्धान हो जाने पर उन्हें न देखकर गोपाङ्गनाएँ व्याकुल होकर विलाप करने लगीं। उन्मत्त के समान एक वन में जा-जाकर श्रीहरि का पता वृक्षों से पूछने लगीं। इधर, भगवान् श्रीकृष्ण और सब गोपियों को छोड़कर जिस एक गोपी को लेकर एकान्त में आये थे उस प्रेमगर्विता गोपाङ्गना ने श्रीकृष्ण से कहा—'प्यारे! मुझसे अब अधिक नहीं चला जाता; तुम्हारी जहाँ चलने की इच्छा हो मुझे कन्धे पर चढ़ा लो।' ऐसा सुनकर भगवान् ने उस प्रियतमा से कहा, 'अच्छा, तुम मेरे कन्धे पर चढ़ लो।' ऐसा सुन ज्योंही वह कन्धे पर चढ़ने के लिए तैयार हुई, भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर कृष्णचन्द्र के आगमन के लिये अत्यन्त उत्सुक वे समस्त गोपियाँ फिर जमुना की रेती में लौट आयीं और परस्पर मिल-जुलकर उन्हीं का गुणगान करने लगीं।

'गोपी-गीत' यही से आरम्भ होता है जिसमें गोपियों ने अधरामृत पिलाकर जीवनदान की प्रार्थना की है। 'गोपी-गीत' रास पंचाध्यायी का प्राण है। गोपियाँ भाँति-भाँति से प्रलाप करती हुई कृष्णदर्शन की लालसा से फूट-फूटकर रोने लगीं और फिर—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमान मुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्त्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।।

कामदेव के भी मन को मथने वाले भगवान् कृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किये मधुर-मधुर मुसकान की फुलझड़ियाँ छोड़ते हुए उनके आगे प्रकट हुए। प्रियतम को आया देख समस्त ब्रजबालाओं के नेत्र आनन्द से खिल गये और सब-की-सब इस प्रकार खड़ी हो गई जैसे प्राणों के आ जाने से शरीर उठ बैठता है। उनमें से किसी ने अति आनन्दित हो अपनी अंजलि से भगवान् का कर-कमल पकड़ लिया, किसी ने उनकी चन्दन-चर्चित भुजा अपने कन्धे पर रख ली और किसी ने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथ में ले लिया। एक विरह-

संतप्ता बाला ने अपना चित्त शान्त करने के लिये अपने वक्षस्थल पर उनका कोमल चरणकमल रख लिया। किसी ब्रजबाला ने भगवान् को नयनों के पथ से हृदय में ले जाकर आँखें मूंद लीं, फिर भीतर-ही-भीतर आलिंगन करने से उसके शरीर में रोमांच हो आया और वह परमानन्द में लीन हो गयी। फिर गोपियों ने कृष्ण के बैठने के लिए अपने कुचकुंकुम-मण्डित दुकूल बिछा दिये।

यहीं महारास शुरू होता है। दो-दो गोपियों के बीच योगेश्वर श्रीकृष्ण उनके गले में हाथ डालकर खड़े हुए। उस समय सब गोपियों ने उन्हें अपने ही निकट समझा। रासोत्सव देखने के लिये उत्सुक देवगण तथा देवाङ्गनाओं के सैकड़ों विमानों से सम्पूर्ण आकाश भर गया। इधर, रासमण्डल में अपने प्रियतम के साथ नृत्य करती हुई गोपाङ्गनाओं के कंगन, पाजेब और करधनी के घुंघरुओं का महान् शब्द होने लगा।

अङ्गनामङ्गनाअन्तरे माधवो, माधवोमाधवो चान्तरेऽनंगना।
इत्थमाकल्पितं मंडलं सुन्दरं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है, चारों ओर गोपियां और प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण। सारी प्रकृति रसमय, रासमय, आनन्दमय, कृष्णमय, मधुमय हो रही है। गोपियों के प्राण कृष्ण रसांमृत से ओत-प्रोत हैं। नाचते-नाचते सारी सुध-बुध खो जाती है—

लोचन श्यामरु, बचनहिं श्यामरु
श्यामरु चारु निचोल।
श्यामरु हार हृदय मणि श्यामरु
श्यामरु सखि कर कोल॥

श्रीमद्भागवत का 'रास पंचाध्यायी' इसी लीला-माधुर्य से ओत-प्रोत है। भगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। रेमे रमेशो ब्रज-सुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।' जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के साथ खेलता है वैसे ही श्रीकृष्ण और ब्रज-सुन्दरियों ने रमण किया। निखिल ब्रह्माण्ड रास के फाँस में गुँथा हुआ है। राधा और कृष्ण का केन्द्र में होना प्रकृति तथा पुरुष की कौतुक-प्रियता तथा संयोग का ही व्यंजक है। चारों ओर गोपियाँ-रूपी आत्माएँ अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ नाच रही हैं। कृष्ण सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। सभी को 'वे' अपने-अपने भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परन्तु सभी गोपियों के हृदय-प्रवाह में कृष्ण 'एक रस' समान भाव से विद्यमान हैं। हमारा हृदय ही वृन्दावन का विहारस्थल है, जिसमें हमारे प्रेम के प्रवाह के कालिन्दी तट पर श्रद्धा के कुंजों के नीचे हमारी राधा-रूपिणी आत्मा अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ अनन्त रास में संलग्न है। भगवान् श्रीकृष्ण ही

हमारी आत्मा के आत्मा हैं। आत्माकार वृत्ति श्रीराधा है और शेष आत्माभिमुखी वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाह रूप से निरन्तर आत्म-रमण ही 'रास' है।

चीर-हरण की लीला भी श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णित है : एक बार गोपियों ने कात्यायनी देवी का व्रत किया और उसी व्रतकाल में वे सब वस्त्र उतारकर स्नान कर रही थीं। इसी बीच में श्रीकृष्ण भी वहाँ पहुँचे। गोपियों के नग्न स्नान पर उन्हें कुतूहल हुआ। वे उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब के ऊपर चढ़ गये और गोपियाँ जब अपना वस्त्र माँगने लगीं तब वे कहने लगे—

भवत्यो यदि मे दास्यो
मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्व वासांसि
प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥

हे सुहासिनियो! यदि तुम मेरी दासी हो और मेरी आज्ञा मानने को तैयार हो तो यहाँ आकर अपने वस्त्र माँगो।

परन्तु संकोच की मारी गोपियाँ आगे बढ़ नहीं पाती। अपना नग्न रूप वे अपने प्राणवल्लभ के भी सम्मुख खोलने में हिचकती हैं। इसके उपरान्त का श्लोक है—

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देव-हेलनम्।
बद्ध्वांजलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः
कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम् ॥

तुमने व्रतधारण करके भी वस्त्रहीन होकर जल में स्नान किया इसमें तुम्हारे द्वारा वरुणदेव का अपराध हुआ है। अतः उस दोष की शान्ति के लिए तुम मस्तक पर हाथ जोड़कर उन्हें झुककर प्रणाम करो। और फिर अपने वस्त्र ले जाओ। भगवान् के इस प्रकार कहने से उन व्रजबालाओं ने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करने से हमारा व्रत खण्डित हो गया, अतः उसकी निर्विघ्न पूर्ति के लिए उन्होंने समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया। कृष्ण ने गोपियों से छल की बातें की, उनकी लज्जा छुड़ाई, उनसे हँसी की, उन्हें कठपुतलियों के समान नचाया और उनके वस्त्र हर लिए तो भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं बल्कि अपने प्रियतम के संग से परम प्रसन्न हुईं। उन्होंने अपने वस्त्र पहन तो लिए किन्तु प्रियतम के समागम में आसक्त होकर उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे वहाँ से चल न सकीं वरन् लजीली दृष्टि से उन्हीं की ओर निहारती रहीं।

सामीप्य और साहचर्य के रहते हुए भी हम अपने प्राणनाथ और अपने बीच पर्दा बनाये रखना चाहते हैं। हम पूर्णतः अपना नग्न हृदय अपने हृदय-सर्वस्व के सम्मुख रखने में संकोच करते हैं। हमें अपना आवरण ही प्रिय है। जो हमारे हृदय का स्वामी है उससे लाज किस बात की ?

निरावरण हो जाना ही साधन है। मन की गति विचित्र है। भगवान् को पाए बिना भी नहीं रहा जाता, पर्दा भी हटाते नहीं बनता। भगवान् भी मिलें और आवरण भी रहे, यही जीव की इच्छा है। दुनिया के हँसने और अनावृत हो जाने का भय ही हमें भगवान् से मिलने नहीं देता। परन्तु 'वह' तो हमारे अनावृत हृदय को ही देखना चाहता है। गोपियाँ नग्न होकर, प्रेम-विभोर होकर, सब-कुछ छोड़कर, सर्व-शून्य होकर, लोकलाज को तिलांजलि देकर परम प्रियतम को प्राप्त करने के लिये 'उन' के चरणों में दौड़ी आई हैं। इसी को 'Lifting of the veil' कहते हैं।

श्रीकृष्णोपनिषद में वर्णन आया है कि रामावतार में भगवान् के सुन्दर रूप को देखकर दण्डकारण्य के मुनिजन मुग्ध हो गये। भगवान् के रूप-रस का पान तो उन्होंने किया ही पर वे भगवान् का अंग-संग चाहते थे, भगवान् का आलिंगन करना चाहते थे और उनके अधरामृत से अपने प्राणों को तृप्त करना चाहते थे। उनकी इस आन्तरिक लालसा को देखकर भगवान् राम ने उन्हें वर दिया और वे ही गोपियों के रूप में प्रकट हुए।[1] कुछ गोपियाँ चित्-शक्ति की और कुछ साक्षात् श्रुतियों की अवतार हैं। उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान् के चरणों में सर्वथा समर्पण कर दिया था—वे यही जपती रहती थीं कि—"नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः"—हे महामाये, हे महायोगिनी, हे कात्यायिनि ! आप नन्दगोप के पुत्र कृष्ण को हमारा पति बनाइये ! हे देवि ! हम आपको नमस्कार करती हैं। 'नन्दनन्दन' हमारे पति हों—यही उनके हृदय की निगूढ़तम लालसा है। फिर भी निरावरण रूप से वे श्रीकृष्ण के पास नहीं हैं। थोड़ी-सी झिझक थी। यही झिझक दूर कर देने के लिए, उनकी साधना, उनके समर्पण को पूर्ण कर देने के लिए भगवान् ने उनका आवरण भंग कर दिया, उनका आवरण रूप चीर हर लिया।

प्रेमी और प्रियतम के बीच एक हार का व्यवधान भी खलता है। इसी

---

१. श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वांगसुन्दरं मुनयो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवयमवतारान्वै गण्यन्ते आलिंगामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिंगथ अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपाः नः स्त्रीश्च नो कुरु। अन्योन्यविग्रहं धार्यं तवांगस्पर्शनादिह। शश्वत्स्पर्शयितास्माकं गृह्णीयोऽवतारान्वयम्।

लिये श्रीकृष्ण ने कहा—मुझसे अनन्य प्रेम करने वाली गोपियो ! एक बार, वस एक बार अपने सर्वस्व को और अपने को भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। गोपियों ने कहा—श्रीकृष्ण ! हम अपने को कैसे भूलें ? हमारे जन्म-जन्म की धारणाएँ भूलने दें तब न ? हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।

परन्तु श्रीकृष्ण इस पर्दे को कैसे रहने देते ? उन्होंने प्रणय का जादू डालकर इस आवरण को हटा ही दिया। आत्मा के आत्मा श्रीकृष्ण का निरावरण मिलन का मधुर आमंत्रण पाकर गोपियाँ प्रेम में निमग्न होकर प्रियतम के चरणों में दौड़ आयीं। फिर न उन्हें वस्त्रों की सुध रही, न लोगों का ध्यान रहा—उन्होंने न जगत् की ओर देखा, न अपनी ओर !

वैष्णव भक्तों में चीरहरण और रास की लीलाएँ बहुत ही व्याप्त हैं। उनकी प्रेम-साधना का सम्बल ही यही है। इसी भावना के मधुर रस में वे डूबे। मीरा का सरल, निश्छल भावुक रमणी-हृदय इसके लिए सर्वथा उपयुक्त था। वह गाती है—

आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारी,
म्हारे गेल पड्यो गिरधारी।
मैं जल जमुना भरन गई थी आ गया कृष्ण मुरारी।
ले गयो सारी अनारी म्हारी, जल में ऊभी उघारी;
सखी साइनि मोरी हँसत है, हँसि हँसि दे मोहि तारी॥
सास बुरी अरु नणद हठीली, लार लार दे मोहि गारी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की वारी॥

इस पद में मीरा बार-बार कृष्ण को 'अनारी' कह रही है। इस 'खीझ' की मिठास पर बरवस मन खिच जाता है। मीरा के पदों में बस इस एक ही स्थान पर चीर-हरण का संकेत आया है। लज्जामयी 'कुल-ललना' का हृदय उक्त 'रस' में डूबकर भी अभिव्यक्ति से बचता रहा, और, रस की गोपनीय साधना में अभिव्यक्ति होती भी कैसे ! बाइबिल की भाषा में कहना चाहें तो भगवान् के लिए उसकी साध ही उसे खा गयी—"My zeal for the Lord has eaten me up."

इस ऐकान्तिक माधुर्य-भावपूर्ण भक्ति की साधना मीरा के लिये सहज स्वाभाविक थी। उसमें स्वाभाविक भोलापन और उस रस के ग्रहण के लिये हृदय की पूरी रसमग्नता थी। मीरा के लिये कुछ बनना नहीं था—वह तो नित्यसिद्ध गोपी थी, स्वयं श्री राधारानी की प्रिय सखी ललिता की अवतार थी।

वेदना का सौन्दर्य

पिउ हिरदय मँह भेंट न होई
को रे मिलाव कहौं केहि रोई ?
—जायसी

मजनूँ को लैला के वियोग के कष्ट से सहसा एक शारीरिक बीमारी उत्पन्न हो गयी। शोक की तीव्र जलन से उसके खून में उबाल आ गया जिसके कारण मजनूँ के शरीर पर दाने पड़ गये। वैद्य इसका इलाज करने को आया और कहा कि रग से खून निकालने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई इलाज नहीं। खून को निकालने के लिए इसकी रग फाड़ देनी चाहिए। इसको सुनने के पश्चात् एक चतुर फस्द खोलनेवाला आया। फस्द खोलनेवाले ने मजनूँ के हाथ बाँध दिये और अपना नश्तर निकाला। मजनूँ ने उसको डाँटकर पूछा—यह क्या है ? तू अपना वेतन ले ले और मेरी फस्द न खोल। फस्द खोलते वाले ने कहा—भला तुम इस फस्द से क्यों डरते हो ? तुम तो वन के शेर, भेड़िये, रीछ, चीते जैसे फाड़ खाने वाले जानवरों से नहीं डरते। मजनूँ ने कहा—मैं नश्तर से नहीं डरता। मैं तो पहाड़ से भी अधिक धैर्य में अटल हूँ। मैं तो वह तीर खानेवाला हूँ कि बिना तीर लगे मेरे शरीर को चैन नहीं मिलता। मैं तो प्रेमी हूँ और जख्म खा-खाकर अकड़ा करता हूँ। परन्तु मेरे सम्पूर्ण शरीर में तो लैला ही व्याप्त है और इस शरीर-रूपी सीपी में उसी मोती की झलक भरी है। इसलिए ऐ उस्ताद ! मुझे डर है कि यदि तू मेरी फस्द खोलेगा तो यह नश्तर कहीं लैला के न लग जाय। मुझमें और लैला में कुछ अन्तर नहीं। मैं लैला हूँ और लैला मैं हैं। प्रत्यक्ष में दो शरीर दृष्टिगोचर हैं परन्तु वास्तव में दोनों में एक ही प्राण है।

कहीं सुन्दर रूप देखकर, कहीं मधुर शब्द सुनकर सुखी प्राणी भी उत्सुक हो उठता है। उसके हृदय में किसी बिछुड़े हुए 'अपने' से मिलने के लिये कातर लालसा जग उठती है. अपने इष्टजन के विरह में प्राण रो उठते हैं—कुछ समझ में नहीं आता कि 'वह' कौन है, पर इतना तो समझ में आता ही है कि 'कोई' है जो हमारे प्राण को प्रणय की डोर से खीच रहा है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि—शाकुन्तल

यह उत्सुकता, यह प्रणयोत्कण्ठा जीव-जीव की हृदय-कन्दरा के भीतर निर्मल मणि की तरह जगमग-जगमग कर रही है। कविता सदा इस हृदयमणि को उद्घाटित करती आई है।

मध्याह्न का समय था। महर्षि वाल्मीकि माध्याह्निक सन्ध्या करने के लिये तमसा के तट पर आये। उन्होंने पार्श्व में ही व्याधा के बाणों से क्रौंच के जोड़े में एक को आहत देखा और दूसरे को उसके विरह में छटपटाते। ऋषि इस करुण दृश्य को देखकर अपने को सँभाल नहीं सके। उनका हृदय रो उठा। ऋषि के हृदय में करुणा का जल हलचल मचाने लगा। हृदय उमड़ आया। आँखों से अश्रुधार बहने लगी। इसी हृदयावेग में अनायास अन्तः का शोक श्लोक बन गया—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

ऋषि का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा। छन्द, लय, ताल तो स्वयं आ गये। पीछे जाकर इस छन्द का 'अनुष्टुप' नाम पड़ा। करुणा की गहरी टेस से ऋषि में सोया हुआ 'कवि' जाग गया। फिर तो छन्दों का वह अबाध प्रखर प्रवाह चला कि सारा संसार उसमें बह गया। आदि कवि की यह व्यथा उनके 'महाकाव्य' का कारण बन गयी और काव्य की दृष्टि से अब भी वह महाकाव्य संसार का शिरोमणि है। दांते ने बियेट्रिस को बस एक ही बार देखा था—नदी-तट पर; उस अनिंद्य सुन्दरी की रूप-श्री में कवि का विह्वल हृदय सदा के लिए डूब गया और उसका समस्त काव्य उस प्रणयस्मृति से ओत-प्रोत है। प्रणय तथा तज्जन्य वेदना की बांसुरी समस्त हृदयों में एक-सा आघात करती है, क्योंकि हृदय हृदय एक है—सब हृदयों में एक ही सुर बजता रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अंश में दार्शनिक, सन्त एवं कवि होता है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अंश में पुरुष एवं नारी दोनों होता है; किसी में पुरुषत्व की विशेषता रहती है, किसी में स्त्रीत्व की। एक व्यक्ति में दार्शनिक का चिन्तन जिस अंश में है उतने अंश में वह पुरुष है और जितने अंश में कवि का संवेदन है उतने अंश में स्त्री है। लगता है कि कविता प्रधानतः नारी-हृदय का धर्म है। परन्तु बिना पुरुष और नारी के 'एक' हुए जीवन का कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। इसी को प्रेमियों की भाषा में प्रिया और प्रियतम का मधुर आलिंगन में 'एक' हो जाना—

"identification with the Almighty Lover in a passionate embrace" कहते हैं।

दार्शनिक के चिन्तन में कवि की संवेदनशील अनुभूति तथा कवि के संवेदन में दार्शनिक का गूढ़ चिन्तन जब पूर्णतः अलक्ष्य रूप से ओत-प्रोत होकर मिल जाता है तभी दर्शन एवं कविता दोनों अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। अतएव दार्शनिक में अनुभूति एवं कवि में चिन्तन का होना अपरिहार्य्य है। प्रेम और ज्ञान का जब सम्मिलन होता है तभी जीवन का अन्तः-सौन्दर्य खिल उठता है। प्रेम ही ज्ञान का रस है—ज्ञान ही प्रेम का प्रकाश है। प्रेम गहरे में उतरकर ज्ञान बन जाता है और ज्ञान हृदय के रस में डूबने पर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इस सम्बन्ध में मेटरलिंक की ये पंक्तियाँ स्मरण हो जाती हैं—'Wisdom is the lamp of love and love is the oil of the lamp. Love sinking deeper grows wiser; and wisdom that springs up aloft comes over the nearer to Love.' हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण सामंजस्य ही तो जीवन की चरम अभिव्यक्ति है।

खिले हुए फूलों, गदराई हुई अमराइयों, फूलों से लदी हुई लतावल्लरियो, झरनों के चिर अभिनव संगीत, तारों की अलौकिक झिलमिल भेदभरी छटा, पीयूष-वर्षी चन्द्रमा को देख विशाल समुद्र के हृदय-देश में अपूर्व उद्वेलन, ऊषा और संध्या की मनोहारिता, रमणी के निखरे हुए सौन्दर्य तथा शिशु की कोमल, मधुर मुसकान आदि में एक अपूर्व आकर्षण है जो हमें अपनी ओर केवल आकर्षित ही नहीं करता अपितु हमारे हृदय को गुदगुदा देता है। इनमें हम उस 'परम छवि' की विकीर्ण आभा पाते हैं। 'देखेउँ परमहंस परिछाईं। नैन जोति सो बिछुरत नाहीं।' हमारे अन्तस् में कोई शीतल अथच मधुर संस्पर्श की अनुभूति होती है। कोई हमारा 'अपना' है जो इस शोभा का जाल बिछाकर हमें अपनी ओर खींच रहा है, बुला रहा है। प्रेम की बंसी लगाकर वह हमारे हृदय को आकर्षित कर रहा है। बंसी की डोरी इतनी लम्बी है कि हम उस अलक्ष्य 'शिकारी' को देख नहीं पाते, फिर भी हमारा हृदय उसी बंसी की गाँस में बेतरह उलझ गया है। हम अनुभव करने लगते हैं कि उस महा-तेजस् के हम भी एक अंश हैं जिसके चारों ओर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अपने ग्रह-नक्षत्रों के साथ चक्कर काट रहे हैं। हम अनुभव करते हैं और हमारे हृदय में एक हूक उठती है—

> **ये सब स्फुलिंग हैं मेरी—**
> **उस ज्वालामयी जलन के,**
> **कुछ शेष चिह्न हैं केवल**
> **मेरे उस महा मिलन के—आँसू,**

प्यार की चोट खायी हुई मीरा ने स्थान-स्थान पर 'पूरब जनम की ब्याही', 'जनम-जनम की कँवारी', 'मेरी उनकी प्रीत पुराणी', पूरब जनम को कौल', 'जनम-जनम की दासी', आदि पदों में अपना-उनका अनन्त सम्बन्ध माना है और इस सम्बन्ध के कारण ही उसे उस पर 'अधिकार'-सा प्रतीत होता है। मीरा के काव्य में जितना भी भाव-सौन्दर्य है उसके मूल में यह आत्मीयता की भावना ही है। मीरा का सारा काव्य परम प्रियतम के पथ में आत्मा के अभिसार तथा अभिसारपथ की अनुभूतियों से भरा पड़ा है। इसलिए उसमें जीवमात्र की व्यथा प्रतिबिम्बित हो रही है। कवि का अपना अनुभव जब जीव-जीव के अनुभव के रूप में प्रकट होता है, जब उसके निजी अनुभव का 'साधारणीकरण' हो जाता है तभी उसका काव्य काव्य है। मीरा का 'दु:ख' सर्वथा अपना होते हुए भी मानवमात्र का है। हम सभी उस दु:ख में घुलते रहते हैं, उसकी तीव्रता का गहरा अनुभव हम मीरा की तरह भले ही न करें। मीरा के काव्य की प्रभविष्णुता का सबसे प्रबल कारण है उसका सरल-निश्छल भावाभिव्यंजन। मीरा की वेदना जीवमात्र की वेदना है, भगवान् से बिछुड़े हुए और उसके प्यार में तड़पते हुए जीवमात्र की अन्तर्व्यथा है।

शेक्सपियर के दु:खान्त नाटक सुखान्त नाटकों की अपेक्षा हमारे हृदय को क्यों अधिक प्रभावित करते हैं ? हैमलेट, मैकबेथ और आथेलो तथा लियर को पढ़ते समय हमें अनुभव होता है कि जीवन की यही सही तसवीर है। उनकी समस्या हमारी अपनी समस्या हो जाती है, उनका दु:ख हमारा दु:ख हो जाता है और इसीलिए इन नाटकों में 'मानस-प्रक्षालन' (katharsis) की अपूर्व क्षमता है। यही बात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के साथ भी है। यदि दुष्यन्त चुपचाप शकुन्तला को स्वीकार करके अपने अन्त:पुर मे रख लेता तो फिर हम 'शाकुन्तल' को क्यों पड़ते ? 'शाकुन्तल' का सौन्दर्य तो इसी में है कि निर्दोष शकुन्तला का प्रत्याख्यान हुआ, वह मरीचि के आश्रम में प्राणधन की प्रणय-प्राप्ति के लिये साधना मे लीन हो गयी। शृङ्गार जब करुणा में तपता है तभी उसका वास्तविक सौन्दर्य निखर उठता है। हमारी वेदना को उभारने वाले दृश्यों एवं उपकरणों का हमारे हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है उसके आघात-प्रत्याघात से स्वयं हमारे 'भीतर' संगीत छिड़ता है और वही संगीत 'कविता' है।

'कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में रूप-रस की मदिरा छलक रही है, परन्तु वह पाँचवें सर्ग मे तपस्या की आँच मे पवित्र हो जाने के बाद ही 'पेय' होती है। शाकुन्तल के तीसरे अंक में जिस संभोग-शृङ्गार का वर्णन है वह इतना मादक है कि उसे स्थिर और स्थायी बनाने के लिये कवि ने उसे तपश्चर्या की आँच में तपाया है। 'उत्तर रामचरित' का तीसरा अंक पढ़कर 'अपि ग्रावारो-

दत्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'—वज्र का हृदय भी फूट-फूटकर रो पड़ता है। छाया सीता का समावेश कराकर भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' को विश्व के करुणरस-काव्य में सर्वश्रेष्ठ बना दिया है।

कवि के हृदय की व्यथा जब पाठक के हृदय में ढलकर अपना नशा लाती है तभी काव्य का सच्चा और पूर्ण रसास्वादन हो पाता है। इसे सभी जानते हैं कि संगीत में वेदना और उल्लास के दो तार हैं; वेदना का गम्भीर एवं प्रभावशाली तथा उल्लास का हलका और क्षणिक। वेदना के गीतों का स्थायी प्रभाव सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। महाकवि भवभूति ने 'एकोरसः करुण एव', शेली ने "Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts" तथा पंत ने 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' द्वारा इसी सार्वभौम सत्य को व्यक्त किया है। 'करुणा' ही हमारे जीवन के अन्तर्जगत् की मूल एवं सच्ची अभिव्यक्ति है। इसी में वह शक्ति है जो हमारे हृदय के तार-तार को झंकृत कर दे।

पर संसार के प्रत्येक रूप में 'उसी' का सौन्दर्य छलक रहा है, मानो रूप की ओट में, जहाँ भी पर्दा है, आवरण है, उसके भीतर वही 'जल्वागर' वही 'पर्दानशीं' छिपा हुआ है। हृदय जहाँ भी, जिसके द्वारा भी मुग्ध होता है, यह निश्चय है वह मुग्ध करनेवाला और कोई नहीं है, वही 'छलिया' है। उसके प्यार में हृदय रम रहा है, उसकी खोज में हृदय का स्पन्दन है। इस संसार के जिस किसी भी सुन्दर पदार्थ को हम प्यार करते हैं—हमारा प्यार उसी 'एक' को ही पहुँचता है, हम उसी 'एक' को ही वस्तुतः प्यार करते हैं।

विरह और मिलन, वेदना और उल्लास, दुःख और सुख मानव-जीवन के दो तार हैं। अद्वैत रूप में तो निखिल ब्रह्माण्ड तेजोमय, प्रणवमय, प्रकाशमय परमात्म स्वरूप है। सब कुछ 'एक' है। यह विश्व उस 'एक' की छाया या कृति ही नहीं है अपितु वही वह है। जायसी ने 'रूख समाना बीज मँह' तथा 'दूध माँझ जस घीउ' है—द्वारा उस परम रस से ओत-प्रोत इस ब्रह्माण्ड की भावना प्रकट की है। मीरा ने कहा है, 'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज घामा'। मिश्री में मिठास वाली उपमा भी दी जाती है। 'वह' भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे ओत-प्रोत हो रहा है, स्वयं अपने को बिखेरकर अणु-अणु में रम रहा है। निमित्त भी वही है, उपादान भी वही है। विश्व ब्रह्ममय है, सच्चिदानन्द-स्वरूप है; जो परिवर्तन हम देख रहे हैं वह मायाकृत, अज्ञानजन्य है। सोने के अलंकार रूप में बदल जाने पर भी उसका स्वर्णत्व नहीं मिटता। कलाकार अपनी कला रूप में स्वयं विद्यमान है—उसके भीतर भी और बाहर भी। उस चरम सौन्दर्य को उपनिषद् के 'कवि' ने—

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति, तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति ।

द्वारा उसी एक परम ज्योति की ओर लक्ष्य किया है जिसकी ज्योति से सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्र भासमान हैं । पुनः साधना के सँकरीले पथ की फिसलन का ध्यान रखते हुए उन्होंने साधक को पैर टिकाने के लिये कहा—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।

अर्थात् जिस प्रकार वाण अपने लक्ष्य में एकाकार हो जाता है उसी प्रकार साधक सावधानी से प्रणव के धनुष पर आत्मा का वाण चढ़ाकर ब्रह्म में तन्मय हो जाय ।

वही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म भक्तों का परम प्रियतम प्राणाधार प्राणसखा है जो भक्तों के प्रेम के लिये उनके पीछे-पीछे घूमा करता है, भक्तों की चरण-धूलि से अपने को पवित्र करने के लिये—"अनुव्रजा म्यहं नित्यं पूययेदंघ्रि-रेणुभिः ।" वही परब्रह्म परमात्मा भक्त के प्रेम-परवश होकर भक्त का सखा, स्नेही, मित्र, पुत्र, पत्नी बनकर भक्त के प्रेम का रसास्वादन करता और अपनी प्रीति का आस्वादन कराता है । प्रेमलीला की स्फूर्त्ति के लिये ही यह सारा द्वैत है जो अद्वैत का ही चिद्विलास है । श्रीमद्भागवत में इसी का संकेत है—

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्वं यद्ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ।। १. २. ११.

हमारी आत्मा ही उस परम प्रियतम की प्रणयिनी है और जब तक दोनों का मिलन नहीं होता, जब तक दोनों मिलकर 'एक' नहीं हो जाते तब तक हमारा एकमात्र यही कर्तव्य है कि असीम धैर्य के साथ उस प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करें, हृदय का द्वार खोलकर, अन्तर में प्रेम की बाती बालकर । यह प्रतीक्षा ही जीवन की परम मधुर अनुभूति है—

"The bride of the soul must be patiently waiting before the divine bridegroom can visit her—but the light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts and to be united with His consoling and all-absorbing embrace."

मोह से आक्रांत अर्जुन को भगवान् ने जब अपना विराट विश्वरूप दिखाया तब अर्जुन के अन्तश्चक्षु खुले । आँखें खुलीं तो देखा कि सब-कुछ कृष्णमय है । अणु-अणु में केवल वही 'एक' है । सर्वत्र उसी एक चलने को

देखकर अर्जुन काँप उठे और भगवान् के चरणों में गिरकर साष्टांग दण्डवत करते हुए, भय से काँपते हुए स्वर में कहने लगे—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।
पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्यः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

'प्रभो ! तुम्हारे चरणों में आर्त्त होकर गिरा हूँ। तुम विश्ववरेण्य हो। जिस प्रकार पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, पति पत्नी के अपराध को क्षमा कर देता है उसी प्रकार तुम भी मेरे अपराध को क्षमा कर दो।' अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को पिता कहा, फिर सखा कहा परन्तु तृप्ति नहीं हुई; अन्त में परमप्रियतम प्राणेश्वर रूप में पाकर ही उसके प्राण जुड़ा गये। 'उसे' हम सर्वत्र देखते हैं परन्तु पहचान नहीं पाते। पता नहीं 'वह' किन-किन रूपों में हमारे पास आता है और हमसे तिरस्कृत होकर लौट जाता है। फिर भी उसका आना और हमारा भूलना चलता रहता है। हमारी खोज हमारे निजी जीवन के वास्तविक व्यापार से अलग होकर चलती रहती है परन्तु वह तो हमारे जीवन के अन्तस में, सूक्ष्म रूप में, प्रतिपल, प्रतिक्षण बोल रहा है, सम्मुख आ रहा है। हम इसे जीवन का साधारण व्यापार समझ आँखें फेर लेते हैं और 'उसे' पा नहीं पाते। 'वह' हमारे जीवन की चलती धारा में ही हमारी आसक्ति के पर्दे को हटाने आता है। पर 'उस' के चुम्बन का रस हमारे अधर अनुभव नहीं कर पाते, उसके आलिंगन का आनन्द हमारे हृदय को पूरी तरह नहीं मिल पाता, उसकी आँखों का नशा हमारी आँखों में नहीं उतर पाता। वस्तुतः हम कुछ ऐसे व्यस्त से हैं कि हमें इस महामिलन की सुध तक भी नहीं आती, इसके स्पर्श की सिहरन को अनुभव करना तो दूर रहा। परन्तु एक बार ठेस लगती है और हमारी आँखें खुलती हैं। हम देखते हैं जीवन की प्रत्येक धड़कन में 'वही' तो बोल रहा था। लज्जा से हमारा सिर झुक जाता है। हम उसके चरणों में अपना सिर टेककर कहते हैं—प्रभो! क्षमा करो! मेरी इस चिर विस्मृति को क्षमा कर दो ! तुम मेरे भाई हो, माता हो, पिता हो, मित्र हो, सखा हो···नहीं-नहीं पति हो, सर्वस्व हो, प्राणाधार हो। मेरी भूल क्षमा कर दो, प्यारे! उस समय जब हम उसके साथ अपने इस सम्बन्ध का अनुभव करने लगते हैं तब हमारा पहाड़-सा भी अपराध कितना नन्हा दीखता है। प्रणयी अपनी प्रियतमा के अपराध की ओर ध्यान नहीं देता। वह सर्वथा सब काल उसी की है अतः वह उसके अपराधों का ध्यान न कर उसे सदा हृदय में बसाये रहता है। उस समय अपराध स्वयं प्रणय का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार परमात्मा को परम प्रियतम के

रूप में पाकर आत्मा की चिरन्तन भूख-प्यास शान्त होती है, क्योंकि उस अवस्था में हम अपने 'प्यारे' को शरीर-मन-प्राण से, सब प्रकार से, शरीर से शरीर को, मन से मन को, प्राण से प्राण को पाकर अपने-आपको पूर्णतः जुड़ा पाते हैं। मिलन के इसी आनन्दोल्लास में मीरा ने कहा—

म्हांरी ओलगिया घर आया जी ॥
तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूँ आणंद आया जी।
मगन भई मिली प्रभु अपणासूँ, भौ का दरद मिटाया जी ॥
चँद को देखि कमोदणि फूलै, हरखि भया मेरी काया जी।
रग रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी ॥
सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीरा विरहणि सीतल होई, दुख दुन्द दूर नसाया जी ॥

तथा

जोसीड़ा ने लाख बधाई रे, अब घर आये स्याम ॥
आजि आनन्द उमंगि भयो है, जीव लहै सुखधाम।
पाँच सखी मिली पीव परसि कै, आनँद ठाँम ठाँम ॥
बिसरि गई दुख निरखि पिया कूँ, सुफल मनोरथ काम।
मीरा के सुखसागर स्वामी, भवन गवन कियो राम ॥

यहाँ 'पाँच सखी' का अर्थ है—शरीर, मन, प्राण, हृदय और आत्मा। इन सभी के द्वारा उस परम प्रियतम के मिलन की आनन्दोपलब्धि हुई। ये धन्य हुए।[1]

परमात्मा को पति के रूप में अनुभव करते हुए अपने को उसके चरणों में सम्पूर्ण भाव से आत्म-समर्पित करने की भावना को ही 'परम भाव' या मधुर भाव कहा गया है। उस समय जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, मिलन

---

1. "Mystical love then burns with a sacred flame which lights up and dedicates to God all that is noble and pure as well as the ignoble and sensual in the mind. In the cup of reciprocal tenderness and devotion, full to the brim and spilling on all sides repression or fulfilment, holiness or unholiness are swept away and in the new innocence and spontaniety of the senses a human passion stands unmasked and unabashed only for Unity with God."

—*Theory & Art of Mysticism.*

और विरह का द्वैत नष्ट हो जाता है। अपना भला-बुरा सब-कुछ प्राणधन के चरणों में निछावर हो जाता है। बस एक ही राग, एक ही आलाप, एक ही ताल और एक ही स्वर रह जाता है—'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।' हम अनुभव करने लगते हैं कि संसार की जो कुछ छवि है 'उस' की है, जो कुछ रूप-माधुरी है उसी की है। यहाँ द्वैत रहते हुए भी अद्वैत है; अद्वैत होते हुए भी द्वैत है। स्पष्टतः कुछ द्वैत और अद्वैत की भाषा में इस रस को नापा नहीं जा सकता। इसी से यह अचिन्त्य भेदाभेद की अनिर्वचनीय स्थिति है। लहर समुद्र से उठती और समुद्र में ही लीन हो जाती है और वह जल ही जल है। फिर भी लहर और समुद्र का परस्पर विलास प्रेम का आधार लेकर ही तो है। बस यही स्थिति प्रेम की चरम स्थिति है।

सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर
दादू देखे एक को दूजा नाहीं और।
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई
बूँद समानी समंद में सो कत हेरया जाइ ॥
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई।
समंद समाना बूँद में सो कत हेरया जाइ ॥

उस विराट् मिलन में सारी प्रकृति सराबोर है। बूँद में सारा समुद्र डूब रहा है। नक्षत्र और ग्रह उसी मिलन की तैयारी में चक्कर काट रहे हैं। उसी से मिलने के लिए समुद्र अपना हृदय-सिंहासन बिछाए हुए है। उसी के लिए पृथ्वी अनवरत गति से गतिशील है—रात-दिन, प्रति पल, प्रति क्षण। व्यक्तिगत साधना की चरम अनुभूति में जब हम अपने उपास्य में एकाकार हो जाते हैं, 'तन्मय' हो जाते हैं, तब हमारे लिए दूसरा कुछ रह नहीं जाता—

लगी मोहि राम खुमारी हो
रम झम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो ॥
चहुँ दिस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो ॥
सत गुरु भेद बताइया खोलि भरम किवारी हो ॥
मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो ॥

ऐसा भान होता है कि एक क्षण के लिए मिलकर हम उससे बिछुड़ गए हैं, उससे जिसके बिना हमारा जीवन ही असंभव है, जो हमारे प्राणों का प्राण एवं जीवन का सर्वस्व है। क्षणिक मिलन में पाये हुए उस अमर चुम्बन के दाग को हम अपने अधरों पर देखकर वेदना से विह्वल हो उठते हैं। हृदय की धड़कन में भी वही 'परदानशीं' अपना राग आलाप रहा है, हमारी साँसों में भी उसी की तान छिड़ी हुई है फिर भी वह हमारी पकड़ में नहीं आता। यह

कैसी पहेली है ! हमारी 'स्मृति' को जगाकर 'वह' छिप जाता है। हम कराह उठते हैं—हाय ! यह क्या हुआ ? हमारा-तुम्हारा मिलन इन असंख्य नक्षत्रों ने देखा है, इस वसुन्धरा ने तुम्हें हमारे अधरों का चुम्बन लेते देखा है। इस चन्द्रमा ने हमारे-तुम्हारे आलिंगन को देखा है। इस संसार के सभी प्राणी हमारे-तुम्हारे इस मधुर गोपनीय सम्बन्ध को जानते हैं, और आज उसका यह उपहास, उस प्रेम की यह उपेक्षा ? अरे, आज तुम मुझे लज्जित क्यों कर रहे हो ? इन नक्षत्रों, चन्द्रमा, सूर्य, वसुन्धरा के विविध उपकरणों के सामने कौन-सा मुख लेकर आऊँ ? एक क्षण के लिए अपने भुजपाश में बाँधकर अनन्त काल के लिए तुमने विरह की आग में जलने के लिए छोड़ दिया है !

इस प्रकार प्रेम और सौन्दर्य के रूप में प्रभु को पाकर उसके मधुर मिलन और रसमय विरह में मनुष्य की सारी वासनाएँ और लालसाएँ अपने-आपको लय कर देती हैं। आनन्द और विषाद, ज्ञान और अबोधता सब-कुछ उसी 'एक' में लोप कर मनुष्य अमर जीवन के आनन्द का उपभोग करने लगता है। एक बार प्रेम के मधुर आकर्षण में मुग्धा राधा को बाँधकर आजीवन तड़पने के लिए छोड़कर नटनागर चले गये। कण्व के आश्रम में अल्हड़ शकुन्तला को प्रेम-बाण से घायल कर दुष्यन्त ने उसे अपनी भुजाओं में बाँध लिया, परन्तु फिर उसी छद्मप्रणयी ने अनाथ, गर्भवती शकुन्तला का भरी सभा में प्रत्याख्यान किया। स्त्री-सुलभ कौतूहल-प्रियता में पार्वती ने शिव से राम के विषय में पूछा। ज़रा-सा अपराध परन्तु युग-युग के लिए परित्याग ! आग में अपनी परीक्षा दे चुकने पर भी गर्भवती सीता का अवधिहीन निर्वासन ! इन्हीं अल्हड़ परित्यक्त गोपियों, राधा, पार्वती, सीता और शकुन्तला की मूर्तियाँ जो हमारे काव्य की चिर-निधि हैं, हमारे अन्तस्तल से बोल रही हैं और हमें हमारे उस 'महामिलन' की स्मृति दिला रही हैं।[1]

उस रूप-सुषमा का कभी भी अन्त नहीं होता। वह नित्य-नूतन और अनन्त-यौवन है। इसलिए वहाँ सदा ही अनन्त उपभोग है—वहाँ इस उपभोग में मन-प्राण को किसी प्रकार की क्लान्ति या थकान का बोध नहीं होता।

जिस वस्तु को हम पा लेते हैं अथवा इच्छा करते ही पा सकते हैं, उसके प्रति हमारा वैसा कुछ 'अनुराग' नहीं रहता। किन्तु 'उस' को पाकर भी हम

---

1. "God as Love and Beauty fulfils all man's fundamental impulses and interests. Love becomes the eternal expression of infinite beauty. The human lover becomes timeless in his sense of joy and beauty and foretastes the life immortal."

पूरे तौर से नहीं पाते, 'उसे' लेकर भी पूरे तौर से लेना नहीं होता—'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च'—उसकी रूप-श्री और लावण्य की कहीं इति नहीं है, उसके सौन्दर्य-माधुर्य की सीमा नहीं बाँधी जा सकती। उस रूपवान चिर-सुकुमार को सदा पाकर भी सदा पाते रहने की इच्छा बनी रहती है और हृदय बार-बार कुहक उठता है—

भज सखे ! भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय।

मीरा के आविर्भाव-काल में भक्ति की धाराएँ

भगवान् शंकराचार्य के शुष्क ज्ञानवाद में जनता की वृत्तियों का पूरा-पूरा रमना सम्भव न था। विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक स्वामी रामानुज ने जन-समुदाय के हृदय को आकृष्ट करने के लिए एक बहुत बड़ा सहारा ढूँढ निकाला। स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत में 'प्रपत्ति' या शरणागति की साधना मुख्य रही और महाविष्णु के साथ महालक्ष्मी की उपासना चली। महालक्ष्मी ही इस सम्प्रदाय की आचार्या है, इसीलिए इसका नाम 'श्रीसम्प्रदाय' हुआ। क्रमशः भगवान् श्रीकृष्ण का लोकरक्षक, लोकरंजक रूप जनता के सामने आया, परन्तु श्रीमद्भागवत के पीछे श्रीकृष्ण का लोकसंग्रही रूप क्रमशः हटता गया और वे कार्यक्षेत्र से हटकर प्रेम के मधुर आलम्बन मात्र रह गए। श्रीमद्भागवत में अनेक दुष्टों और राक्षसों को सुगति देने वाले, गोवर्धन धारण करने वाले श्री-कृष्ण के रूप पर हमारा ध्यान उतना नहीं गया जितना गोपियों के साथ उनकी मधुर-मधुर लीलाओं पर। महाभारत के वीराग्रगण्य श्रीकृष्ण का रूप हमारी आँखों के सामने उतना नहीं ठहर सका जितना भागवत के प्रेमी श्रीकृष्ण का। श्रीवल्लभाचार्यजी ने तो लोक और वेद दोनों का अतिक्रमण करके भगवान् श्रीकृष्ण के लोकसंग्रही रूप को स्पष्ट शब्दों में हटाया। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेम-साधना के रूप में आ गई और इसी से इसमें रहस्य-भावना की गुंजाइश हुई। स्वामी वल्लभाचार्य (सं० १५३६-१५८७ वि०) ने जनता के सामने सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण की एकान्त भक्ति का एक बहुत ही सुव्यवस्थित निखरा हुआ रूप उपस्थित किया। स्वामी श्रीनिम्बाकाचार्य ने इसी भक्तिधारा को और भी अधिक हृदयग्राहिणी और आकर्षक बनाया।

राधा का स्पष्ट उल्लेख जो श्रीमद्भागवत में खटक रहा था वह इन वैष्णव आचार्यों द्वारा पूरा हुआ। भक्ति-प्रेम में लय हो जानेवाली कही गई और प्रेम के आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, संचारी आदि की पूर्ण व्यवस्था द्वारा जनता के सम्पूर्ण हृदय को इन प्रेममार्गी आचार्यों ने प्रेम-भक्ति से अभिभूत कर दिया। हृदय में प्रेम की प्रेरणा द्वारा समस्त इच्छाएँ एवं कामनाएँ भी कृष्णार्पण हो गई। भक्तजन अपना और भगवान् का सम्बन्ध लेकर चलने लगे।

व्यक्तिगत आत्मानुभूति के लिए 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति भले ही सम्भव हो, परन्तु जनता के हृदय में प्रवेश कर भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं

विश्वास का भाव दृढ़ करने वाले तो ये भावुक, भक्तिवादी, द्वैत-सम्प्रदाय के आचार्य ही हुए। अद्वैत को लेकर जीवन के सभी कर्म और व्यवहार में ब्रह्मात्मैक्य की अक्षुण्ण भावना बनाए रखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। स्वामी शंकराचार्य ने भी इस कठिनाई का अनुमान पहले ही कर लिया था और इसी हेतु गीता-भाष्य के आरम्भ में श्रीकृष्ण को परमेश्वर माया के अधीश्वर, नियंता तथा साक्षात् नारायण माना है। उनके प्रसिद्ध अनुयायी 'अद्वैतसिद्धि' के रचयिता, अद्वैत में परम निष्णात और तत्त्वविद् ब्रह्मज्ञ श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती ने तो 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' ही कहा था। उनका प्रिय श्लोक आज भक्तों के गले का हार हो गया है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने॥

जिनके कोमल हाथ मुरली से सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अंगों की आभा नूतन जलधर के समान साँवली है, तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्ब-फल के समान लाल-लाल होंठ, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख और कमल-जैसे खिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्ण से बढ़कर मैं दूसरे किसी तत्त्व को नहीं जानता। इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर-से-कट्टर मायावादियों ने भी भक्ति का आश्रय लिया है और श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप माना है।

मीरा का जन्म लगभग सं० १५५५ विक्रम माना जाता है। इस समय देश में भक्ति और ज्ञान की अनेक धाराएँ चल रही थीं। इनकी गतिविधि को जान लेना आवश्यक होगा।

सबसे पहली धारा निर्गुण सन्तों की है। मीरा के ठीक सौ वर्ष पूर्व कबीर का जन्म हुआ था। उनका पंथ अभी भी बड़े वेग से चल रहा था, यद्यपि उसमें भी जप, माला, छापा, तिलक का प्रवेश हो चुका था। फिर भी मूर्तिपूजा, छुआछूत, तीर्थाटन, संस्कार, जाति-पाँति आदि का विरोध करने वाली रमते फक्कड़ साधुओं की टोली देश में 'निर्गुन' के पद गा-गाकर तथा अपने मन से भी रचे हुए पदों को 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' का भोग लगाकर प्रचार-कार्य में व्यस्त थी। उनमें न कबीर की तरह आत्मानुभूति ही थी और न आत्म-विश्वास का प्रखर तेज ही। हाँ, 'निर्गुन' चिन्तन का लग्गा लगा रहा।

इन्हीं 'निर्गुनिये' फकीरों की भाँति गोरखपंथी दल भी तन्त्र, रसायन और हठ-योग द्वारा 'योग' का प्रचार कर रहा था। 'त्रिकुटी महल' में 'प्रीतम की सेज' सजाने वाले इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना को साधकर ब्रह्मानन्द में लय हो जाते थे। मेरूदण्ड जहाँ पायु और उपस्थ के बीच में लगता है वहीं एक

त्रिकोण चक्र में स्थित स्वयंभू लिंग है जो साढ़े तीन वलय में लिपटकर सर्प की भाँति अवस्थित है। इसे ही 'कुण्डलिनी' कहते हैं। मेरुदण्ड की बायीं ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिंगला है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना है। उसी के भीतर 'ब्रह्मनाड़ी' है जो कुण्डलिनी के ऊपर चढ़ने का असली मार्ग है। इसे ही जगाकर सुरंग सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ब्रह्म-रंध्र तक पहुँचने वाले इन तांत्रिक हठ-योगियों का भी दौर-दौरा राजस्थान में विशेष रूप से था। उन दिनों, सच पूछा जाए तो राजस्थान में निर्गुनियों और इन गोरखपंथियों की अजीब खिचड़ी पक रही थी।

मीरा के जीवन-काल में ही उत्तर की ओर पंजाब में गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९६ वि०) ने अपने मत का प्रचार किया, जिसमें निर्गुण निराकार की साधना के साथ-साथ नाम-प्रेम का अटूट सम्बन्ध था।

जायसी का 'पद्मावत' वि० सं० १५९७ में लिखा गया था। 'पद्मावत' के पूर्व 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि प्रेम-गाथा की पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं। इससे स्पष्ट है कि सूफी फकीरों का प्रभाव उस समय देश में कम न था। 'प्रेम की पीर' लेकर हिन्दू-जीवन के भीतर अपनी प्रेम-साधना को जाग्रत करने वाले 'इश्क-हकीकी' के इन प्रेम-प्रवण भावुक कवियों ने देश में एक अपूर्व लहर चला दी थी। अवधी भाषा में, सीधे-सादे दोहे-चौपाइयों में अपूर्व सहृदयता से अपने 'हिय की पीर' को व्यक्त करने वाले इन प्रेममार्गी सूफी कवियों के गीत का देश ने बड़े उत्साह, चाह और उल्लास के साथ स्वागत किया।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव (सं० १५४२-१५९०) श्री वल्लभाचार्य के समकालीन थे। इधर ब्रजमण्डल, गुजरात-काठियावाड़ में वल्लभाचार्य कृष्ण-भक्ति में लीला-विहार का प्रचार कर रहे थे, उधर बंगाल में महाप्रभु श्री चैतन्यदेव नाम-प्रचार में लीन थे। श्री चैतन्यदेव ने भाव-प्रवाह में रमकर कीर्तन की प्रथा चलाई और 'महाभाव' का मूर्तिमान् आविर्भाव हुआ। प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य ही भगवान् की प्रधान विभूति मानी गई, जिसका गौरांग महाप्रभु ने अपने प्रेम-परायण भावमग्न हृदय में पूर्णतः अनुभव कर व्यक्तिगत साधना का वह स्रोत बहाया जिसमें लोक-हृदय को रम जाने का पूर्ण अवकाश एवं क्षेत्र मिला। पथभ्रान्त मानवता को नाम और लीला का आधार मिला।

इसी प्रकार गुजरात में भक्तप्रवर श्री नरसी मेहता की भक्तिधारा में जनमानस को दिव्य आनन्द मिल रहा था। नरसी ने शिव की कृपा से महारास के रस का पान किया था और वही दिव्य शृङ्गार इनके पदों में ओतप्रोत है। अस्तु, महाप्रभु चैतन्यदेव, श्री नरसी मेहता और जयदेव का काव्य-प्रवाह उन दिनों इस देश को विशेष रूप में प्रभावित कर रहा था।

रूप एवं लीला में विहार करने वाले नवद्वीप के इस परम भावुक प्रेमी भक्त

ने आनन्द का जो स्रोत बहाया वह जयदेव के 'धीर समीरे यमुना तीरे बसति बने वनमाली' में पूर्णत: व्याप्त था। शृङ्गार की, मिलन-माधुरी की जो पराकाष्ठा 'गीत-गोविन्द' में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार मैथिल-कोकिल विद्यापति के 'जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरिपित भेल' में भी प्रेम की अनन्त अतृप्त आकांक्षा की बड़े ही भावपूर्ण, मधुर छन्दों में उद्‌भावना हुई है। जयदेव तथा विद्यापति सम्भोग-शृंगार के अपूर्व कवि हैं। नव-द्वीप की यही पुनीत प्रेमधारा जो गीतों में वह रही थी, मिथिला की अमराइयों में विरमती हुई व्रजभूमि में अपने प्राणवल्लभ की चरणरज को लेकर नवीन चेतना एवं प्राण से अनुप्राणित होती हुई राजस्थान की प्रेम की उस पगली पुजारिन के आँगन में उतरी।

रागानुगा भक्ति और गोपीभाव

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते ॥

—भक्तिरसामृतसिंधु

इष्ट विषय में गाढ़ तृष्णा—यह है रागानुगा भक्ति का स्वरूप लक्षण और इष्ट में आविष्टता—यह है तटस्थ लक्षण। श्री जीव गोस्वामी अपने 'भक्ति-सन्दर्भ' में इसकी यों व्याख्या करते हैं—

तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेमरागः यथा चक्षुरादीना सौन्दर्यादौ तादृशा एवात्र भक्तस्य श्री भगवत्यपि राग इत्युच्यते।

अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों को स्वभावतः ही विषय-संसर्ग की इच्छा होती है—जैसे आँखों से सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, कानों से मधुर राग के प्रति खिचाव, उसी प्रकार भक्त को जब श्री भगवान् में आकर्षण या तृष्णा उत्पन्न हो जाती है तो उसे 'रागानुगा' कहते हैं।

श्री कृष्णदास कविराज ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' में इसी विषय की व्याख्या की है जो श्री जीव गोस्वामी कृत 'भक्ति रसामृतसिंधु' की व्याख्या से बहुत मिलती-जुलती है—

इष्टे गाढ़ तृष्णा रागस्वरूप लक्षण।
इष्टे आविष्टता तटस्थ लक्षण कथन।
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम।
ताहा सुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान ॥

ब्रज के भक्तों की प्रेमसेवा की चर्चा सुनकर किसी भाग्यवान् के चित्त में जो लोभ होता है वह लोभ ही इस रागानुगा का मूल कारण है। श्री जीव गोस्वामी कहते हैं—

यस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु राग विशेष एव स्वयं तस्य तादृश रागसुधाकरकराभास समुल्लसित हृदयस्फटिकमणेः शास्त्रादि-श्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिजायिते।

इसी रागानुगा भक्ति को पुष्टि मार्ग में 'अविहिता भक्ति' कहते हैं—

माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ भक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तत्वात् कामाद्यु-पाधिजात्वविहिता।

—अणुभाष्य

श्री जीव गोस्वामी अविहिता का निर्णय यों करते हैं—

'अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्तत्वात्'

रुचिमात्र प्रवृत्ति के कारण ही इस प्रकार की भक्ति को 'अविहिता' कहते हैं। श्री गोविन्दभाष्य में श्री बलदेव विद्याभूषण इसी को 'रुचि भक्ति' कहते हैं—

रुचिभक्तिर्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्तिरैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता। रुचिरत्रराग:। तदनुगता भक्ति रुचिभक्तिः रुचिरभक्तिः। अथवा रुचिपूर्ण भक्तिः। इयमेव 'रागानुगा' इति गदिता। श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री हरिव्यासजी ने अपनी 'सिद्धान्त रत्नांजलि' टीका में अविहिता भक्ति का उल्लेख किया है। 'महा-वाणी में उन्होंने सखी भाव से नित्य वृन्दावन में श्री राधा-गोविन्द की युगल सेवा-प्राप्ति की साधना बतलाई है। महावाणी में दास, सखा या पिता-माता का उल्लेख नहीं है। गौड़ीय वैष्णवों की रागानुगा भक्ति के साथ श्री हरिव्यास-जी की साधना का भेद सुस्पष्ट है। महाप्रभु के सम्प्रदाय में किसी भी भाव का तिरस्कार नहीं है—**'कुत्रापि तद्रहिता न कल्पनीया'**। श्री हरिव्यासजी में श्रीकृष्ण की देवलीला-परायणता है, परन्तु गौड़ीय वैष्णव केवल नरलीला में माधुर्योपासक हैं।

रागानुगा भक्ति में स्मरण की ही प्रधानता है। श्री सनातन गोस्वामी ने 'वृहद्भागवनामृत' में इसका विस्तार से वर्णन किया है। इस साधन में मानसिक सेवा और संकल्प ही मुख्य हैं। रघुनाथदास गोस्वामी के 'विलाप कुसुमांजलि' और श्री जीव गोस्वामी के 'संकल्प कल्पद्रुम' में रागानुगा भक्ति के अनुकूल संकल्प और मानसी सेवा के क्रम का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है—

सेवा साधकरूपेण सिद्धिरूपेण चात्रहि।
तद्भावलिप्सुना कार्या ब्रजलोकानुसारतः॥

यथावस्थित देह ही साधक देह है और अन्दर में अपने इष्ट श्री राधा गोविन्द की साक्षात् सेवा करने के लिये जो उपयोगी देह है वह सिद्ध देह है। सिद्ध देह से ही व्रजभाव प्राप्त होता है। सिद्ध देह की भावना के सम्बन्ध में 'सनत्कुमारतन्त्र' में कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोहराम्।
रूपयौवनसंपन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

अर्थात् गोपीभाव या व्रजभाव में अपने को रूपयौवन-सम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में सिद्ध देह से भावना करनी चाहिये। रागानुगा साधन में जो 'अजात रति' साधक हैं—अर्थात् जिन्हें रति की प्राप्ति नहीं हुई है उनको अपने लिए गुरुदेव के उपदेशानुसार सखी की संगिनी के भाव से मनोहर वेशभूषण से युक्त किशोरी रमणी के रूप में भावना करनी चाहिये। सखी की आज्ञा के अनुसार सदा सेवा के लिए उत्सुक रहते हुए श्री राधाजी के निर्माल्य

स्वरूप अलंकारों से विभूषित साधनों के सिद्ध रूप इस मंजरी देह की भावना निरन्तर करनी चाहिये। मंजरी स्वरूप में तनिक भी सम्भोग की वासना नहीं है। इसमें केवल सेवा-वासना है। जो 'जात रति' हैं—अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गई है, उनमें इस सिद्ध स्वरूप की स्फूर्ति अपने-आप हो जाती है। प्राचीन अलवार भक्त शठारि मुनि की साधक देह में ही सिद्ध देह का भाव उतर आया था। उन्होंने अनुभव किया कि श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम हैं और अखिल जगत् स्त्री-स्वभाव है। अन्त में शठारि में कामिनी भाव का आविर्भाव हो गया था—

पुंस्त्वं नियम्य पुरुषोत्तमताविशिष्टे
स्त्रीप्राय भावकथनोज्जगतोऽखिलस्य।
पुंसां च रञ्जकवपुर्गुणवत्तयापि
शौरेः शठारि यमिनोऽजनि कामिनीत्वम्।

—वैष्णव धर्म

गौड़ीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्ण भावनामृत' आदि ग्रन्थों के क्रमानुसार गुरु गौराङ्गदेव के अनुगत भावों से श्री राधागोविन्द की अष्टकालीन लीला का स्मरण करते हैं। इस लीला के ध्यान में ही मानसोपचार से इच्छित सेवा होती रहती है। श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में भी अष्टयाम की लीलाओं का स्मरण तथा पदकीर्त्तन मुख्य साधना है। प्रातःकाल की मंगला आरती से लेकर रात के विश्राम-काल तक भिन्न-भिन्न समयों की भिन्न-भिन्न लीलाओं के लिए भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में अनेकानेक पद गाये जाते हैं जिसमें सहज ही भगवान् की विविध लीलाओं का स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान होता है। और भक्त शरीर से चाहे जहाँ हो, भाव-देह से निरन्तर भगवान् की सन्निधि में रहते हुए उनके अंग-संग का अमृतोपम सुख लूटता है। वल्लभकुल के मन्दिरों में पदगायन लीला-विहार का परम दिव्य साधन है।

बंगाल के साधक श्री निवास आचार्य किसी समय मंजरी देह से श्री राधा-कृष्ण का ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्री गोपीजनों के साथ श्रीकृष्ण यमुनाजी में जल-क्रीड़ा कर रहे हैं। श्री राधा के कान का एक कुण्डल जल में गिर गया। सखियाँ खोजने लगीं। अन्तर्देह से इस कुण्डल की खोज में श्री निवास का एक सप्ताह का पूरा समय हो गया। साधक देह निस्पन्द आसन पर विराजमान था। रामचन्द्र कविराज आये तो वे भी सिद्ध देह से श्री निवास की अनुगता दासी के रूप में उनके साथ हो लिए और चतुर रामचन्द्र को एक कमलपत्र के नीचे राधाजी का कुण्डल दिखलाई पड़ा। उसी क्षण उन्होंने श्री निवासजी के हाथ में दे दिया। सखी मंजरियों में आनन्द की तरंगें उछलने

लगीं। श्री राधारानी ने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान इन्हें पुरस्कार-रूप में दिया। रामचन्द्र और श्रीनिवास दोनों ही सोकर उठने वालों की तरह साधक देह में लौट आए। देखा गया कि सचमुच श्री राधाजी का दिया हुआ पान-पुरस्कार उनके मुख में था।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की तरह एक भाव शरीर या सिद्ध देह भी होता है और साधक इसी भावदेह से भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन करता है। मीरा तो नित्य इसी भावदेह में ही विचरती थी। उसे कुछ बनना तो था नहीं। वह तो महाप्रभु चैतन्यदेव की तरह जगत् को प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिए इस धराधाम पर आई थी और अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के द्वारा भाव-भक्ति का आचरणात्मक उपदेश देकर वह अपने प्राणधन प्रभु के श्री विग्रह में सशरीर समा गई।

तेरो कोई नहिं राखणहार, मगन होई मीरा चली।
लाज सरम कुल की मरजादा सिर से दूरि करी।
मान अपमान दोउ धर पटके, निकसी हूँ ज्ञान गली।
ऊँची अटरिया लाल किंवड़िया, निरगुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सोहे सिन्दुर माँग भरी।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी।
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी।

मीरा के पदों में भक्ति का पूर्ण विकसित रूप मिलता है, उसके प्रत्येक स्तर के दर्शन होते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि मीरा ने इस रागानुगा भक्ति की दीक्षा पुष्टि-साधना से प्राप्त की या गौड़ीय-साधना से। जन्म से उसे वल्लभकुल का संस्कार प्राप्त था पर आगे चलकर प्रेम की परवशता में वह वृन्दावन भी आई थी और यहाँ जीव गोस्वामी से उसका मिलना हुआ था। अतः यह स्पष्ट है कि उसे वल्लभीय तथा गौड़ीय दोनों ही साधनाओं का मधु प्राप्त था और उसने सम्प्रदायों की सीमाओं का अतिक्रमण कर परम प्रेममयी 'रसीली भक्ति' का अमृत पिया।

भगवान् के 'अनुग्रह' को ही 'पुष्टि' कहते हैं—'पोषणं तदनुग्रहः'। उस अनुग्रह से जो भक्ति या भगवत्प्रेम होता है उसे पुष्टि भक्ति कहते हैं। यह भक्ति स्वरूप से रागमयी है। शांडिल्य ने इसकी परिभाषा—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' की है। नारद इसी को 'सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा' कहते हैं तथा 'पाँचरात्र' में उसकी परिभाषा इस प्रकार है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तस्या मुक्तिर्न चान्यथा॥

यह स्नेहमयी रागात्मिका भक्ति भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है। भगवान् का अनुग्रह साधन-साध्य नहीं, वह साधन से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है, वह किसी साधन के परतन्त्र नहीं है। भगवान् भक्त के अधीन हैं, भगवान् भक्त के भक्त हैं। अतः यहाँ असाधना ही साधन है।

जैसे स्वर्ग, विसर्ग आदि श्री पुरुषोत्तम की लीलाएँ हैं, यह भक्ति-अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला ही है। वह 'लीला' क्या है, 'सुबोधिनी' भा० ३, स्कंध १ में वर्णित है—'लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजनन सदृशी क्रिया क्वाचिदुत्पद्यते।'

भगवान् स्वतः परिपूर्ण हैं, तृप्त हैं, अतएव बिना प्रयोजन के ही—'लीला एवं प्रयोजनत्वात्' लीला करते रहते हैं। भगवान् स्वतः तृप्त होते हुए भी चिर अतृप्त हैं। निष्काम होते हुए भी विलासेच्छु हैं। अद्वितीय होते हुए भी भक्त के प्रेम-पराधीन हैं।

गुरु भक्त के हृदय में भगवान् की प्रीति का दान देकर उसका भगवान् से सम्बन्ध करा देता है जिसे पुष्टि मार्ग में 'ब्रह्म-सम्बन्ध' कहते हैं और इसी ब्रह्म-सम्बन्ध के बाद शिष्य के हृदय में मिलन की लालसा होती है जिसे 'ताप' कहते हैं। यह ताप ही पुष्टि मार्ग की साधना का प्राण है। मीरा के पदों में यह ताप व्याप्त है।

> भवनपति तुम घर आज्यो हो।
> बिथा लगी तनमाँहिने (म्हारी) तपन बुझाज्यो हो॥
> रोवत रोवत डोलताँ सब रैण बिहावै हो।
> भूख गयी निदरा गयी, पापी जीव न जावै हो॥
> दुखिया को सुखया करो मोहि दरसण दीजे हो।
> मीरा व्याकुल बिरहिणी अब बिलम न कीजै हो॥

तथा

> दरस बिन दूखण लागै नैन।
> जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन॥
> सबद सुणत मोरी छतिया काँपै मीठे-मीठे बैन।
> बिरह व्यथा कासे कहुँ सजनी बह गयी करवत ऐन॥
> कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
> मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख देण॥

यह 'ताप' या दुःख की ज्वाला ही प्रेम-साधना का प्राण है, क्योंकि इसी के सहारे सबके मूल आश्रय तत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के लिए जो अनुकूलता-

युक्त अनुशीलन होता है उसी का नाम भक्ति है। इस रागानुगा भक्ति में दो उपाधियाँ हैं—(१) अन्याभिलाषिता, (२) कर्मज्ञानयोगादि का मिश्रण। अन्याभिलाषा में भोगकामना और मोक्षकामना दोनों ही सम्मिलित हैं। सच्चा भक्त भुक्ति और मुक्ति दोनों को हेय समझकर छोड़ देता है। कर्मज्ञानयोगादि भी उपाधि हैं, परन्तु ज्ञान द्वारा यदि भगवान् के स्वरूप और भजन का रहस्य जाना जाए। योग से चित्त भगवान् के गुण, लीला आदि में लगे, कर्म द्वारा भगवान् की सेवा बने, तो ये ज्ञान, योग, कर्म बाधक न होकर भक्ति के साधक बन जाते हैं।

सकाम भक्ति में भोग कामना होती है। यह कामना तीन प्रकार की होती है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। मोक्ष-कामना सात्विक सकाम भक्ति है; विषयोपभोग, यश, कीर्ति आदि की कामना से की गई भक्ति राजसिक सकाम भक्ति है; और हिंसा, दंभ, मत्सर आदि से की हुई तामसिक सकाम भक्ति है।

उत्तमा भक्ति—अथवा निष्काम भक्ति के तीन भेद हैं—साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेम भक्ति। उत्तमा भक्ति के दो गुण होते हैं—(१) क्लेशघ्नी, (२) शुभदायिनी। क्लेश तीन प्रकार के—पाप, वासना, प्रारब्ध। पाप का बीज है वासना; वासना का कारण है अविद्या। इन सब क्लेशों का मूल कारण है भगवद्विमुखता। भक्तों की संगति से भगवान् की संमुखता प्राप्त होती है, फिर क्लेशों के सारे कारण अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। इसी से साधन भक्ति में 'सर्व दुःख-नाशकत्व' गुण आ जाता है।

'शुभ' शब्द का अर्थ है साधक के द्वारा समस्त जगत् के प्रति प्रीतिविधान और सारे जगत् का साधक के प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणों का विकास। सुख के तीन भेद—विषय-सुख, ब्राह्मसुख, पारमेश्वर सुख। ये सभी सुख साधन भक्ति से प्राप्त होते हैं।

भाव भक्ति में दो गुण—'मोक्षलघुताकृत' और 'सुदुर्लभा'। इसमें साधन भक्ति के दो गुण क्लेशघ्नी और शुभदायिनी अपने-आप आ जाते हैं। प्रेम-भक्ति में 'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' एवं 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' ये दो गुण होते हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

—भक्तिरसामृतसिंधु

'मोक्षलघुताकृत'—यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—इन पाँच प्रकार की मुक्ति)—इन सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

सुदुर्लभा—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि तो भगवान् सहज दे देते हैं, पर अपनी भावभक्ति नहीं देते।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा—करोड़ों ब्रह्मानन्द इस प्रेमामृतरूपी भक्ति सुखसागर के एक कण की भी तुलना में नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेम सुखसागर में निमग्न कर देती है।

श्रीकृष्णाकर्षिणी—यह प्रेमभक्ति श्रीकृष्ण को भक्त के वश में कर देती है।

साधन भक्ति के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। शास्त्राज्ञा से भजन में प्रवृत्ति को वैधी कहते हैं। भगवान् में प्रेममयी तृष्णा का नाम है राग। ऐसी रागमयी भक्ति का नाम है रागात्मिका। रागात्मिका के दो भेद—(१) कामरूपा, (२) सम्बन्धरूपा। जिसमें सब चेष्टा श्रीकृष्ण सुख के लिए, अर्थात् जिसमें काम ही प्रेमरूप में परिणत हो गया है उसी को कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह भक्ति श्री गोपीजनों में ही है।

'प्रेमैव गोपरामाणां काममित्यगमत् प्रथाम्'। श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध अनुभव करते हुए प्रेम का नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

रागानुगा भक्ति में स्मरण का ही अंग प्रधान है। इसके भी दो भेद—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामानुगा के दो भेद—भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। केलि-सम्बन्धी अभिलाषा से युक्त भक्ति का नाम संभोगेच्छामयी और यूथेश्वरी व्रजदेवी के भाव और माधुर्य प्राप्ति विषयक वासनामयी भक्ति का नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

भावभक्ति—भगवत-प्राप्ति की अभिलाषा, उनकी अनुकूलता की अभिलाषा और उनके सौहार्द की अभिलाषा के द्वारा चित्त को स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है उसी का नाम 'भाव' है। भाव का ही दूसरा नाम रति है। रस की अवस्था में इसी का वर्णन स्थायी भाव और संचारी भाव—दो प्रकार से किया जाता है। इसमें स्थायी भाव भी दो प्रकार का होता है—प्रेमांकुर या भाव और प्रेम। स्नेह, प्रणय, अनुराग आदि प्रेम के ही अन्तर्गत प्रीति के नौ अंकुर बतलाये गए हैं—

(१) क्षान्ति—धन, पुत्र, मान आदि के नाश, असफलता, निन्दा, व्याधि आदि क्षोभ के कारण उपस्थित होने पर भी चित्त का जरा भी चंचल न होना।

(२) अव्यर्थकालत्व—क्षण मात्र का भी समय सांसारिक कार्यों में वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीर से निरन्तर भगवत्सेवा-सम्बन्धी कार्यों में लगे रहना।

(३) विरक्ति—इस लोक और परलोक के समस्त भोगों में स्वाभाविक अरुचि।

(४) मानशून्यता—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थिति से सम्पन्न होने पर भी मान, सम्मान सर्वथा त्याग करके अधम का भी सम्मान करना।

(५) आशाबन्ध—भगवान् के और भगवत्प्रेम के प्राप्त होने की चित्त में दृढ़ और बद्धमूल आशा।

(६) समुत्कंठा—अपने अभीष्ट भगवान् की प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

(७) नामगान् में सदा रुचि—भगवान् के मधुर और पवित्र नाम का गान करने की ऐसी स्वाभाविक कामना कि जिसके कारण नामगान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाम में अपार आनन्द का बोध होता है।

(८) भगवान् के गुणकथन में आसक्ति—दिन-रात भगवान् के गुणगान, भगवान् की प्रेममयी लीलाओं का कथन करते रहना; और ऐसा न होने पर बेचैन हो जाना।

(९) भगवान् के निवास-स्थान में प्रीति—भगवान् ने जहाँ-जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान् के चरण-स्पर्श से पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानों में रहने की इच्छा।

भाव की परिपक्वावस्था का नाम 'प्रेम' है। चित्त में सम्पूर्ण रूप से निर्मल और अपने अभीष्ट श्री भगवान् में अतिशय ममता होने पर ही प्रेम का उदय होता है। किसी भी विघ्न के द्वारा ज़रा भी न घटना या बदलना प्रेम का चिह्न है। यह प्रेम दो प्रकार का होता है—महिमा-ज्ञानयुक्त और केवल। विधि मार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम महिमा-ज्ञानयुक्त है और रागमार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममता की उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेम की अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसे ही बदलती जाती है। प्रेम की एक ऊँची स्थिति का नाम है स्नेह। स्नेह का चिह्न है चित्त का द्रवित हो जाना। प्रेम जब चित्त को द्रवित कर इष्टमय हो जाता है तो वह स्नेह कहलाता है। उससे भी ऊँची अवस्था का नाम है राग। राग का चिह्न है गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्था का नाम प्रणय। प्रणय का चिह्न है गाढ़ विश्वास या विश्रम्भ। भक्त और भगवान् का प्राण, मन, बुद्धि, शरीर और शृंगार में भेदाभेद—भेदमय अभेद या अभेदमय भेद होता है। इसके बाद की अवस्था का नाम है मान। प्रणय में जहाँ प्रेमास्पद के प्रति अनन्यता आ जाने पर उसके समग्र मनचित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने की लालसा का उदय होता है और उसमें कभी-कभी कोई अन्तराय देखकर मन में सात्विक ईर्ष्या या द्वेष हो जाता है उसे प्रणय-मान कहते हैं। इसके बाद की स्थिति

का नाम है अनुराग। अपने इष्ट के प्रति राग जब गाढ़ हो जाता है तो अपने प्रेमास्पद में उस नित्य नवनवायमान सौन्दर्य, लावण्य, सौकुमार्य और 'लौल्य' का अनुभव होने लगता है उसे ही अनुराग कहते हैं। इसके अनन्तर महाभाव की स्थिति आती है। जब अनुराग में भगवान् और भक्त दोनों उत्क्षिप्त हो जाते हैं और परस्पर मिलन की वासना अत्यन्त प्रगाढ़ हो जाती है तो अनुराग की संज्ञा महाभाव की हो जाती है। भगवान् भक्त से और भक्त भगवान् से मिलने के लिए आतुर हो जाते हैं और मिलन की अत्यन्त प्रगाढ़ावस्था में भी विरह की आशंका सताती रहती है। कवि बलरामदास के एक पद में इसका बहुत भावपूर्ण वर्णन हुआ है जब श्रीकृष्ण राधारानी की गोद में सिर रखे हुए हैं तो भी वे विरह की आशंका में व्याकुल हैं और रो रहे हैं। महाभाव की परम परिणत स्थिति है दिव्योन्माद। महाप्रभु की गम्भीरा लीला जिसमें लगातार महाप्रभु ने जगन्नाथपुरी के एक कमरे में व्याकुल रोते-तड़पते श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेमोन्माद में लगातार चौदह वर्ष बिता दिए। श्रीमद्भागवत का गोपी-गीत भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

श्रीकृष्ण-रति स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भाव के साथ मिलकर आस्वादनयुक्त पाँच प्रकार की होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। जिसमें जिसके द्वारा रति का आस्वादन किया जाता है उसको विभाव कहते हैं। इनमें, जिसमें रति विभावित होती है उसका नाम है आलंबन विभाव, जिसके द्वारा रति विभावित होती है उसका नाम है उद्दीपन विभाव। आलंबन विभाव भी दो प्रकार का होता है—विषयालंबन, आश्रयालंबन। इस श्रीकृष्ण-रति के विषयालंबन हैं श्रीकृष्ण और आश्रयालंबन हैं उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रति का उद्दीपन होता है वे श्रीकृष्ण का स्मरण करानेवाली वस्त्रालंकारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन विभाव।

नाचना, भूमि पर लोटना, गाना, जोर से पुकारना, अंग मोड़ना, हुँकार करना, जमुहाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभाव के लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकार के होते हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जमुहाई लेना आदि को शीत और नृत्यादि को क्षेपण कहते हैं।

सात्विक भाव आठ हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा)। ये सात्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रुक्ष भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें स्निग्ध सात्विक के दो भेद होते हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला स्निग्ध सात्विक भाव मुख्य है और परम्परा से अर्थात् किंचित व्यवधान से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव गौण है। स्निग्ध सात्विक भाव नित्य सिद्ध भक्त में ही होता है।

जातरति—अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है उन भक्तों के सात्विक भाव को दिग्ध भाव कहते हैं और आजात रति—अर्थात् जिनमें प्रेम नहीं उदय हुआ है ऐसे मनुष्य में कहीं आनन्द विस्मयादि के द्वारा उत्पन्न होने वाले भाव को रुक्ष भाव कहते हैं।

ये सब भाव भी पाँच प्रकार क होते है—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त, सूद्दीप्त। बहुत ही प्रकट परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्विक भावों का नाम 'धूमायित' है। एक ही साथ दो-तीन भावों का नाम 'ज्वलित' है। ज्वलित भाव को भी बड़े कष्ट से गुप्त रखा जा सकता है। बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होने वाले तीन, चार या पाँच सात्विक भावों को 'दीप्त' कहते हैं। यह दीप्त भाव छिपा कर नहीं रखा जा सकता। अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त एक ही साथ उदय होने वाले छः, सात या आठ भावों का नाम 'उद्दीप्त' है। यह उद्दीप्त भाव ही महाभाव में 'सूद्दीप्त' हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभास-जनित सात्विक भाव भी होते हैं। उनके चार प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुष में उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'रत्याभासज' है। कर्मियों और विषयी जनों में उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'सत्वाभासज' है। अभ्यासियों के फिसले हुए चित्त में उत्पन्न सात्विक भाव को 'निःसत्व' कहते हैं। भगवान् से विद्वेष रखने वाले मनुष्यों में उत्पन्न सात्विक भाव को 'प्रतीप' कहते हैं।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्त और बोध। इन तेंतीस व्यभिचारी भावों को 'संचारी' भी कहते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा अन्य सारे भावों की गति का संचालन होता है। स्थायीभाव—सामान्य, स्वच्छ, शान्तादि भेद से तीन प्रकार का होता है। किसी रसनिष्ठ भक्त का संग हुए बिना ही सामान्य भजन की परिपक्वता के कारण जिनमें एक प्रकार की सामान्य रति उत्पन्न हो गई है उसे सामान्य स्थायीभाव कहते हैं। शान्तादि भावों के संग से, संग के समय, जिनके स्वच्छ चित्त में संग के अनुसार ही रति उत्पन्न होती है उस रति को स्वच्छ स्थायीभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रसनिष्ठ भक्तों की शान्तादि पृथक्-पृथक् रति का नाम ही शान्त स्थायीभाव है। भाव पाँच प्रकार के होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें किसी भी भाव से भगवान् के साथ सम्बन्ध हो जाना चाहिए।

प्रेम की चिनगारी

श्री नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में मीरा का परिचय यों लिखा है—

सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट, कलियुगहिं दिखायो।
निर अंकुस अति निडर, रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो॥
भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नाँही लजी।
लोक लाज, कुल-शृङ्खला तजि मीरा गिरिधर भजी॥

इसके कुछ ही काल अनन्तर मीरा के सम्बन्ध में श्री ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त नामावली' में लिखा है—

लाज छाँड़ि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल कानि।
सोई मीरा जगविदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हू लइ बोलिकै, तासों अति हेत।
आनन्द सो निरखत फिरै, वृन्दावन रस-खेत॥
नृत्यत नूपुर बाँधि कै, नाचत लै करतार।
विमल हियौ भक्तनि मिली, तृन सम गन्यो संसार॥
बंधुनि विष ताको दियौ, करि विचार चित आन।
सो विष फिरि अमृत भयौ, तब लागे पछितान॥

श्री प्रियादासजी ने पूरे दस पदों में मीरा के जीवन की प्रायः प्रत्येक उल्लेखनीय मार्मिक घटना का बड़े ही सजीले शब्दों में विवरण दिया है—

मेरतो जन्मभूमि, झूम हित नैन लागे,
पगे गिरधारीलाल पिता ही के धाम में।
राना कै सगाई भई करी ब्याह सामानई,
गई मति बूड़ि, वा रँगीले घनश्याम में॥
भाँवरे परत, मन साँवरे स्वरूप माँझ,
ताँवरे सी आवे, चलिबे को पति गाम में।
पूछें पिता माता, "पट आभरन लीजिए जु",
लोचन भरत नीर कहा काम दाम में॥१॥

देवौ गिरधारीलाल, जौ निहाल कियौ चाहौ,
और धन माल सब राखियें उठाय के।
बेटी अति प्यारी, प्रीति रंग चढ़यौ भारी,
रोय मिली महतारी, कहा "लीजिये लड़ाय कै" ॥
डोला पधराय दृग दृगसों लगाय चली,
सुखन समाय जाय, प्रान पति पाय के।
पहुँची भवन सासु देवी पै गवन कियौ,
तिया अरुवर गँठजोरी कर्यौ भायकै ॥२॥
देवी के पुजायबे कौं, कियौ लै उपाय सासु,
वर पै पुजाइ, पुनि बधू पूजि भाखियै।
बोली "जू बिकायौ माथौ, लाल गिरधारी हाथ,
और कौन नयै, एक वहै अभिलाखियै" ॥
बढ़त सुहाग याके पूजे ताते पूजा करौ,
करौ जिनि हठ सीस पायनि पै राखियै।
कही बार-बार 'तुम यही निरधार जानौ,
वही सुकुमार जायै वारि फेरि नाखियै" ॥३॥
तबतौ खिसानी भई, अति जरि बरि गई,
गई पति पास "यह बधू नहीं काम की।
अब ही जवाब दियौ, कियौ अपमान मेरौ,
आगे क्यों प्रमान करै ?" भरै स्वास चाम की ॥
राना सुनि कोप कर्यौ धर्यौ हियो मारि बोई,
दई ठौरि न्यारी देखि, रीझि मति बाम की।
लालनि लड़ावै गुन गायकै मल्हावै,
साधु संग ही सुहावै, जिन्है लागी चाह स्याम की ॥४॥
आयकै ननँद कहै, गहै किन चेत भाभी,
साधुनिसों हेत मैं कलंक लागै भारियै।
राना देसपती लाजै, बाप कुलरती जात,
मान लीजै बात वेगि संग निरवारियै।"
लागे प्रान साथ संत, पावत अनन्त सुख,
जासों दुख होय, ताको नीके करि टारियै।
सुनिकै कटोरा भरि गरल पठाय दियौ,
लियो करि पान, रंग चढ़यौ यों निहारियै ॥५॥
गरल पठायौ, सो तौ सीस लै चढ़ायौ,
संग त्याग विष भारी, ताकी झार न समारी है।

राना ने लगायौ चर, वैसे साधु ढ़िगढर,
तबहीं खबर कर मारौ यहै धारी है ॥
राजै गिरधारीलाल, तिनहीं सों रंग जाल,
बोलत हँसत ख्याल कानपरी प्यारी है।
जायकै सुनाई, भई अति चपलाई,
आयौ लिये तरवार, दै किवार खोलि न्यारी है ॥६॥
"जाके संग रंग भीजि करत प्रसंग नाना,
कहाँ वह नर गयौ, वेगि दै बताइयै।"
"आगे ही विराजै, कछू तो सों नहीं लाजै,
अभूं देख सुखसाजै, आँखें खोलि दरसाइयै।"
भयोई खिसानौ राना लिख्यौ चित्र भीत मानौ,
उलट पयान कियौ, नेकु मन आइयै।
देख्यो हूँ प्रभाव यै पै भाव मैंन भिद्यौ जाइ,
बिना हरि कृपा कहौ कैसे करि पाइयै ॥७॥
विषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियौ,
कियो यों प्रसंग मोसों अंग संग कीजियै।
आज्ञा मों को दई आप लाल गिरधारी अहो,
सीस धरि लई करि भोजन हूँ लीजियै।
संतनि समाज मैं बिछाय सेज बोलि लियौ,
संक अब कौन की निसंक रस भीजियै।
सेत मुख भयौ, विषैभाव सब गयौ,
नयौ पाँयन पै आय मोकों भक्तिदान दीजियै ॥८॥
रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये,
लिए संग तानसेन, देखिबे को आयौ हैं।
निरखि निहाल भयौ छबि गिरधारीलाल,
पद सुखलाज एक तबही चढ़ायो है ॥
वृन्दाबन आई जीवगुसाई जु सो मिलि झली,
तिया मुख देखिबे कौ पन लै छुटायो है।
देखी कुञ्ज कुञ्जलाल प्यारी सुख पुञ्जभरी,
धरी उर माँझ आय देख बन गायो है ॥९॥
राना की मलीन मति देखि बसी द्वारावती,
रति गिरधरलाल, नितही लड़ाइयै।
लागी चटपटीं भूप भक्ति कौ सरूप जानि,
अति दुख मानि, विप्र श्रेणी लै पठाइयै ॥

बेगि लैके ग्रावौ मोंको प्रान दै जिवावौ,
ग्ररो गयो द्वार धरनौ दै बिनती सुनाइयै।
सुन विदा होन गई राय रणछोड़ जू यै,
छाड़ौ राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै ॥१०॥

मीरा के हृदय में कृष्ण-प्रेम की चिनगारी बहुत बचपन से विद्यमान थी ग्रौर यह चिनगारी ग्रागे चलकर विराट् प्रेमज्वाला बन गई ग्रौर इसने मीरा को ग्रात्मसात् कर लिया। कुल-संस्कार एवं परिस्थितियाँ तो निमित्त-मात्र थीं। गुरु की महिमा सभी सन्तों ग्रौर भक्तों ने गायी है। 'गुरु साक्षात्परब्रह्म' तक भी कहा गया है। इस निविड़ ग्रंधकारपूर्ण जगत् में स्वयं पथ ढूंढ लेना ग्रसंभव ही है। इसमें तो ग्रपना हाथ तक नहीं सूझता। इसी हेतु गुरु की सहायता भगवत्पथ में ग्रत्यन्त ग्रावश्यक एवं ग्रनिवार्य है। यही कारण है कि नवधा भक्ति में 'श्रवण' प्रथम सोपान है, ग्रध्ययन नहीं। 'वाक्य-ज्ञान' में निपुणता प्राप्त कर लेने से ही यदि भक्ति का पथ सुगम हो जाता तो केवल तर्क की ही पूजा होती रहती। कबीर तथा सहजो ने तो गोविन्द से भी बढ़ कर गुरु को माना है। घूँघट का पट खोलकर गुरुदेव ही हमें 'राम' से मिला सकते हैं। हृदय पर पड़े हुए मोह ग्रौर ग्रज्ञान के पर्दे को वे ही हटा सकते हैं। हृदय की ग्राँखें गुरु की कृपा से ही खुल सकती हैं। मीरा रैदासजी की शिष्या थीं। रैदासजी स्वामी रामानन्द के शिष्य, 'रामनाम' के उपासक कबीर के गुरु-भाई, निर्गुणपंथी सन्त थे। कबीर, रैदास ग्रौर पीपा प्रायः समकालीन थे ग्रौर 'वाणी' द्वारा ग्रपने उपदेश से जनता में शुद्ध ज्ञान का प्रचार कर रहे थे। रैदासजी कबीर की ग्रपेक्षा ग्रधिक भाव-प्रवण साधु थे। परमात्मा के साथ ग्रपने मधुर प्रेमभाव को बड़े ही सुन्दर, भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है—

प्रभु जी ! तुम चंदन हम पानी
जाकी ग्रंग-ग्रंग बास समानी।
प्रभु जी ! तुम दीपक हम बाती
जाकी ज्योति बरै दिन राती ॥

रैदास की सहृदयता, भावुकता एवं परमात्मा के साथ हृदय के मधुर सम्बन्ध की ग्रनुभूति ग्रन्य सन्तों से ग्रधिक गहरी थी। कहा जाता है कि जूते बनाते समय रैदासजी चमड़े पर टाँकियाँ देते जाते थे ग्रौर कोने में, पास ही रखी हुई ठाकुरजी की मूर्ति का स्मरण कर प्रेम-विह्वल, गद्गद् हृदय से भजन गाते जाते थे, ग्राँखों से प्रेमाश्रु की धारा बहती जाती थी। यह तो सर्वविदित ही है कि कबीर, रैदास ग्रादि निर्गुणिये सन्त मूलतः सिद्धान्तरूप में मूर्ति-पूजा ग्रादि न मानते हुए भी वैष्णव मत के थे ग्रौर राम, गोपाल तथा हरि को

संबोधित कर अपने हृदय की भूख-प्यास शान्त किया करते थे। कबीर ने तो कई स्थलों पर अपने को 'वैष्णों' कहा है तथा 'साकत' को भला-बुरा कहा है। कबीर की यह घृणा शाक्तों के प्रति न समझकर, शाक्तों की हिंसा-वृत्ति के प्रति समझी जानी चाहिए। रैदासजी कबीर की भाँति अक्खड़ न थे। उनके जो थोड़े से पद मिले हैं उनमें आत्मानुभूतिपूर्ण हृदय की कोमल भावनाओं की ही व्यंजना है। रैदासजी मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विष्णु भगवान् की मूर्ति उनके घर में थी जिसकी वे पूजा किया करते थे। रैदासजी कृष्ण, गोपाल, हरि, राम आदि को ब्रह्म की व्यक्त सत्त मानकर साधना की मधुर अनुभूति में लीन होने वाले आत्मदर्शी सन्त उन्होंने शाक्तों को गालियाँ नहीं दी हैं—ऐसा करने के लिए न उन्हें रुचि ही थी और न अवकाश ही था। रैदास को 'माधो' नाम बहुत प्यारा है।

निर्गुणिये सन्तों के समान रैदास में जगत् के प्रति तीव्र वैराग्य था, सदाचार के प्रति अटूट आस्था थी और नाम-स्मरण की अन्तर्मुखी साधना का चिरन्तन विलास था। वे सदा मधुर भाव में मग्न रहने वाले, लोकपक्ष से उदासीन, जगत् के प्रपंचों से तटस्थ और आत्मानुभूति में डूबे रहने वाले हृदय-प्रधान सन्त थे। कोरी कथनी में उनका रंच मात्र भी विश्वास नहीं था—वे 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' पर अधिक जोर देते थे। प्रीतिपूर्वक अपने हृदय के भीतर भगवान् का स्मरण ही उनकी साधना का प्राण है। भगवान् की मधुर स्मृति जगाये रखना तथा उसी में निमग्न रहना—यही थी उनकी साधना-प्रणाली। बाहरी आचार-विचार पर उतना ही ध्यान था जिससे समाज के नियमों का तिरस्कार न हो जाय परन्तु समाज के विविध नियमों और विधानों में अपने को जकड़े रखना भी उनके मत से अनुचित था। संत प्रायः सामाजिक प्राणी नहीं होते—उनका समाज, उनकी जाति अपनी एक अलग ही होती है।

रैदास का 'निर्गुण' कबीर का 'निर्गुण' नहीं है। रैदास का अद्वैत कबीर का अद्वैत नहीं है। रैदास हृदय की मधुर माँग को स्वीकार करने वाले सन्त थे। प्रेम से ओत-प्रोत, ज्ञानोत्तर भक्ति के विकसित रूप में हरि को ही सर्वत्र देखने वाला, आत्मानुभूति के गहरे रंग में रगा हुआ, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' को मानने वाला, सर्वभूतमयहरि तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' के रस में पगा रैदास का कोमल हृदय प्रतिपल अपने 'प्रभुजी' के लिए बेचैन था, तड़प रहा था, तड़फड़ा रहा था।

मीरा इसी भावुक भक्त एवं प्रेमी-सन्त की शिष्या थी। रैदास के चमार होने से मीरा के गुरु होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। महाप्रभु श्री चैतन्यदेव ने कहा है—

किंवा न्यासी, किंवा विप्र शूद्र केन नय ।
जे कृष्ण-तत्त्ववेत्ता सेई गुरू हय ।।

मीरा के दो-तीन पदों में, 'मेरे गुरु रैदासजी' का उल्लेख है, साथ ही साथ एक 'जोगी' का भी वर्णन मिलता है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बोई है। यह योगी स्वप्न में आए हुए श्री गिरिधारीलालजी का अवधूत रूप हो सकता है अथवा रैदासजी या अन्य सन्त योगी हो सकते हैं, जिससे मीरा की प्रेम-साधना में सहायता प्राप्त हुई हो। इतिहास की दृष्टि से मीरा और रैदास के समय में बहुत अन्तर है और स्पष्ट है मीरा ने रैदास से स्वप्न में ही दीक्षा पायी होगी, ठीक जैसे चरणदासजी ने शुकदेव से। इस प्रकार की दीक्षा में समय का अन्तर कुछ महत्त्व नहीं रखता। गुरुदास और 'योगी' का रासरूप में संकेत मीरा ने कई स्थलों पर किया है। इन पदों में से कुछ की बानगी लीजिए—

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मारि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायो।
मीरा को प्रभु हरि अविनासी, भाग लिखो सोई पायो।।

तथा

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाइँ परूँ चेरी तेरी हौं।
प्रेम भगति के पैड़ो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा।
अगर चंदणरी चिता बनाऊँ अपने हाथ जला जा।।

० ० ०

जावा दे, जावा दे, जोगी किसका मीत।
सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीति।
मैं जाणूं या पार निभैगी छाँड़ि चलै अधबीच।।

० ० ०

योगियारो प्रीतड़ी है दुखड़ारी मूल।
हिलमिल बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल।।

० ० ०

जोगिया कहाँ गया नेहड़ी लगाय।
छोड़ गया बिसबास संघाती प्रेम की बाती बराय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाई।।

० ० ०

जोगिया जी निसदिन जोऊँ बाट। इत्यादि।

उपर्युक्त पदों में 'आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो' में स्पष्ट ही योगी गुरु का संकेत है, कृष्ण का नहीं। क्या यह उस साधु के

सम्बन्ध में तो नहीं है जिसकी पूजा में मीरा को श्री गिरिधारीलालजी की मोहिनी मूर्ति प्राप्त हुई थी ? जो कुछ भी हो, इन पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी साधु ने मीरा को प्रेम-साधना का मन्त्र दिया और पता नहीं फिर वह कहाँ अन्तर्हित हो गया। उससे मीरा फिर न मिल सकी। वह मीरा से न मिल सका। प्रेमाराधना की वही चिनगारी जिसे उस योगी अवधूत ने लगाई थी काल और परिस्थिति की अनुकूलता से इतने विराट् रूप में बढ़ी कि मीरा को उसने आत्मसात् कर लिया—

न पा सकते जिसे पाबंद रहकर कैदे हस्ती में।
सो हमने बेनिशाँ होकर तुझे ओ बेनिशाँ पाया॥

लौ

If the soul is to go to higher spiritual blessedness, it must become a woman, however manly thou mayest be among men.

—*Newman*

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माँहि ।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाँहि ।।

विवाहिता स्त्री मायके में रहते हुए जिस प्रकार मन, चित्त और प्राण से अपने पति का ही स्मरण करती रहती है उसी प्रकार इस संसार में रहते हुए भी हम अपने प्राणाराम जीवन-धन हरि का ही स्मरण करते रहें—यही सभी सन्तों और समस्त धर्मग्रन्थों के उपदेश का सारतत्त्व है । जीव की यही साधना है । मन को हरि में डालकर मस्त हो जाना ही आनन्द की चरम अवस्था है । जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत, सेवा, दान, सत्संग, सदाचार सभी प्रकार के सत्कर्मों का फल है प्राणाधार हरि का अखण्ड स्मरण । यह स्मरण ही भगवान् के चरणों में सच्ची प्रणति है; यह स्मरण ही सर्वात्मसमर्पण की सच्ची अभिव्यक्ति है । घनीभूत अखण्ड स्मरण की हँसती हुई ज्योति का नाम है 'लौ' । साधना का प्राण है स्मरण, और 'लौ' है स्मरण की आत्मा ।

'लौ' का साधारण अर्थ है दीपक का जलता हुआ प्रकाश । दीये में तेल भर दिया जाता है, बत्ती डाल दी जाती है और सलाई से उसे एक बार जला देते हैं । फिर जब तक तेल दीये में है, बत्ती बनी हुई है और बाहर के आँधी-तूफ़ान से वह सुरक्षित है तब तक वहाँ प्रकाश बना रहेगा, लौ जलती रहेगी । ध्यान इस बात का रखना होगा कि तेल समाप्त न होने पाए, बत्ती बुझने न पाए और जहाँ अखण्ड दीप की बात है वहाँ तो सतत सावधान रहना ही पड़ेगा । एक क्षण की विस्मृति में दीपक के बुझ जाने और घोर अन्धकार के घिर आने की आशंका है ।

ठीक यही बात अन्तर की 'लौ' के सम्बन्ध में है । वहाँ भी सतत सावधान रहना पड़ता है । एक पल के लिए भी वृत्ति बहिर्मुख हुई नहीं कि सब कुछ मिटा । मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, आत्मा सभी श्रीहरि के चरणों से झरते हुए

मकरन्द का पान करते रहें। वहीं उस परम दिव्य स्पर्श की पावन अनुभूति में बेसुध बने रहें। बाहर आने का ध्यान भी न रहे, बाहर के किसी भी पदार्थ के अस्तित्व का भान भी न हो। कोई रूप आँखों को लुभा न सके। कोई शब्द कानों को मोह न सके। स्मृति सदा हरि के चरणों को छूती रहे। प्राण सदा प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणिपात करते रहें। यही अखण्ड जागरण है।

हंसा पाये मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोले ?

वहाँ के आनन्द और शोभा का वर्णन कैसे किया जाय ? वहाँ की तो चर्चा भी नहीं हो सकती। बात चलते ही जी थहराने लगता है। चर्चा करा कैसे जाय ? बात जानत कछुक हमसों कहत जिय थहराय। जिसने एक बार भी उस रस का आस्वादन किया है उसके लिये फिर वहाँ से हटना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है।

बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै झर्राई।
किस बिध चरण कमल मैं गहिहौं, सबहि अंग थर्राई॥

सच्चे प्रेमी को प्रियतम का स्मरण करना नहीं पड़ता। जब तक स्मरण करना पड़ता है, जब तक स्मरण और विस्मरण का युद्ध ज़ारी है; तब तक तो 'उस' से प्रेम क्या, देखा-देखी भी नहीं हुई ऐसा मानना चाहिए। पत्नी पति के नाम की माला नहीं जपती। वह एकान्त में आँखें मूँदकर, आसन मारकर प्राणायाम आदि करके पति के ध्यान में डूबने का स्वांग नहीं भरती। वह सब कामों से छुट्टी लेकर सत्संग का सेवन, तीर्थों में घूमना, दान-पुण्य करना आदि में अपने जीवन को इसलिए नहीं लगाती कि इनके फलस्वरूप उसे अपने पति का स्मरण-ध्यान होगा। वैसा करना उसके लिए अस्वाभाविक होगा। ऐसा करके वह स्वयं अपनी दृष्टि में तथा लोगों की दृष्टि में उपहासास्पद बनेगी। वह ऐसा करने ही क्यों जायगी ? अपने प्राणप्यारे प्रीतम के स्मरण के लिए भला योग, जप, तप, ध्यान और एकान्त की आवश्यकता ही क्या है ? वह स्मरण स्मरण नहीं जो करने से हो। वह ध्यान ध्यान नहीं जिसमें डूबने के लिए घोर परिश्रम और कठिन प्रयत्न करना पड़े। वह प्रेम, प्रेम नहीं जिसमें प्रेमास्पद की सहज स्मृति न हो। वह प्यार प्यार नहीं जो बिना बुलाए, अपने आप ही उमड़-घुमड़कर हमारे हृदय के आँगन में न बरसे।

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।
रैण पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ।
रैण दिना वाके संग डोलूँ ज्यूँ ज्यूँ बाहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ।

जित बैठावें तितही बैठूं बेचैं तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ।

० ० ०

बिरह जगावै दरद कौं, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारै पीव॥

रोम-रोम में प्रियतम की पुकार है। रोम-रोम उसकी प्यारभरी स्मृति में पगे हुए हैं। और कोई वस्तु है ही नहीं जो चित्त को एक क्षण के लिए भी अपनी ओर आकृष्ट कर सके। प्रति पल प्यारे की स्मृति एक अजीब अदा और अन्दाज़ के साथ आ-आकर प्राणों को नहला जाती है, शराबोर कर जाती है। ध्यान जमाने के लिए त्राटक आदि मुद्राओं का सहारा नहीं लेना पड़ता और न आँखें ही बन्द करनी पड़ती हैं। उनके नूपुरों की ध्वनि सुनने के लिए कान मूंदने नहीं पड़ते और न पहाड़ की खोह में जाकर एकान्त-वास की ही आवश्यकता है; यहाँ तो—

आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ठ नहीं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं॥

खुली आँखों अपने प्राणेश्वर को देखूं तभी तो देखना है। खुले कान उनकी वंशी और नूपुर की ध्वनि सुन सकूं तभी तो सुनना है। सारे रूप, विश्व के विविध रूप उस एक अपरूप रूप में पलट जाएँ; जगत् का सारा कोलाहल, हाहाकार और चीत्कार मुरली की मधुर ध्वनि होकर हमारे कानों में समा जाय; जो कुछ सुनूं, देखूं, स्पर्श करूँ सभी में प्राण-वल्लभ का 'मौन निमन्त्रण' स्पष्ट देख-सुन पड़े तब तो समझना चाहिए कि उनके प्रेम का आस्वादन हमारे प्राणों ने किया है। नहीं तो सब कुछ कोरा हठयोग ही है। एक क्षण के लिए भी जिसे हरि का स्पर्श मिल गया वह उस रस को पूरा पिये बिना रह कैसे सकता है ? वहाँ तो पग-पग पर एक अद्भुत आकर्षण बलात् प्राणों को किसी 'अपने' की ओर खींचे लिए जा रहा है। और इस मार्ग में चलते हुए एक विचित्र उल्लास संगी बना रहता है। वहाँ मिलन एवं विरह का अद्भुत सम्मिश्रण है। यह अखण्ड मिलन एवं आमरण विरह की अवस्था है। यहाँ मिलन और विरह दोनों घुले-मिले हैं। इस स्थिति में काम, क्रोध, लोभ आदि का प्रवेश है ही नहीं। यहाँ माया की मोहिनी नहीं चलती। यहाँ तो सतत जागरण है। यहाँ की बेहोशी संसार की सारी बुद्धि से परे की है और इसीलिए संसार की किसी भी वस्तु का आकर्षण वहाँ है ही नहीं। वहाँ तो परम रस, 'रसो वै सः' को पाकर संसार के विविध रसों की ओर से सहज ही विरति हो जाती है। यह तो 'आत्मरति' की सहज स्थिति है। यही सहज समाधि है।

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो करूँ री।
तेरी ही उमरण तेरी ही सुमरण तेरी ही ध्यान धरूँ री।
जहाँ जहाँ पाव धरूँ धरणी पर तहाँ तहाँ निरत करूँ री।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणाँ लिपट परूँ री॥

माता-पिता के प्यार में पली हुई कन्या पति की परिणीता होकर, पाणि ग्रहण, ग्रन्थि-बन्धन और सिन्दूर-दान के अनन्तर सदा के लिए, जन्म-जन्मान्तर के लिए अपने पति की हो जाती है। आश्चर्य होता है कि जिस घर में वह इतनी सयानी हुई वही घर उसके लिए पराया हो जाता है, और एक 'पुरुष' जिससे पहले वह सर्वथा अपरिचित थी उसी की वह एकान्ततः हो जाती है। वह अपना कुल, गोत्र, नाम सब कुछ पति के कुल, गोत्र और नाम में लय कर देती है।

ठीक वही बात यहाँ भी है। जगत् के प्रपंचों में पला हुआ प्राणी, जगत् के विषयों में रचा-पचा पुरुष एक क्षण के इस दिव्य विद्युत् स्पर्श में आकर अपना लोक-परलोक, पाप-पुण्य, सुख-दुःख—अपना सब-कुछ हरि के चरणों में निवेदित कर सदा के लिए 'उसका' बिना मोल का चेरा हो जाता है। खेल-खिलवाड़ में ही वह पहले इस ओर आने को ललकता है परन्तु एक बार जहाँ इधर पैर रखा कि फिर अपना सर्वस्व अर्पित कर देने की ही सनक सवार हो जाती है। वह विवशता भी कितनी मधुर, कितनी दिव्य है!

मैं गिरधर-रँग राती।
पंचरंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती॥

'पिय-परिचय' की वह दिव्य बेला साधक के लिए परम महोत्सव की बेला है। 'परिचय' हो जाने पर समर्पण करना नहीं पड़ता। वह आप-ही-आप हो जाता है। वहाँ चारों ओर से संयम नहीं करना पड़ता। पिय के प्राण में प्राण घुल-से जाते हैं, अतएव वहाँ सहज एकाग्रता होती है। वहाँ सब धर्मों के बन्धन को छोड़ने नहीं जाना पड़ता; 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' सुनना नहीं पड़ता। सभी धर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं, सभी धर्म अपना फल देकर, अपने को उसके प्रिय-मिलन में बाधक समझकर चुपचाप छिप जाते हैं; और वहाँ साधक अपने प्रियतम का प्रेमास्पद बनकर उसके परम प्रेम में अहर्निश छका रहता है।

कोई कछू कहे, मन लागा।
ऐसी प्रीति लगी मनमोहन ज्यूँ सोना में सोहागा।
जनम जनम का सोया मनुआँ सतगुरु सब्द सुन जागा॥
मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गया ज्यों धागा।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा।

जिसे मैं चाहता हूँ वह भी मुझे चाहे यह मानव-हृदय की मधुर दुर्बलता है। अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त करना प्रेम-साधना की एक छिपी हुई साध है। और वहाँ तो प्रियतम की ओर से प्रेम की अखण्ड वर्षा होती रहती है जिसमें प्रेमी के प्राण सदा नहाते हैं। यही बेखुदी की हालत है।

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहैं आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?
जो बिछुड़े हैं प्यारे से, भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या ?

हृदय-देश में छिपा हुआ वह हमारा 'यार' अब तक सर्वथा अपरिचित-सा था। अन्तर का पट हटा और 'वह' सामने आया। और सामने आने पर—

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी ! मिलि राखिये नैननि रस पीजै हो॥

युग-युग से, जन्म-जन्मान्तर से जिस प्राणाराध्य की खोज में आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक रूप से दूसरे रूप में, एक नाम से दूसरे नाम में ढलती आई है उस परम प्रियतम को पाकर अब क्यों छोड़ना ? आओ, उसे सदा के लिए प्राणों में छिपा लें और आँखों की कोठरी में पुतली का पलंग बिछाकर और बाहर से पलकों की चिक डालकर उसके रस को पीते रहें।

रूपराग

रति या सङ्गमात्पूर्वं दर्शन श्रवणादिजा ।
तयोरुन्मीलति प्राप्त्यैः पूर्वराग स उच्यते ।।
—उज्ज्वल नीलमणिः (शृङ्गार भेद प्रकरण)

कृष्ण के रूप में जो लावण्य है, जो मोहकता एवं आकर्षण है वह अन्य अवतारों में नहीं मिलता । यही कारण है कि कृष्णभक्ति शाखा में श्रीकृष्ण के रूप का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है । राम में माधुर्य है परन्तु कृष्ण में लावण्य है । राम के हाथ में धनुष-बाण उनकी कर्तव्यशीलता तथा दुष्ट-दलनता का परिचायक है पर कृष्ण के हाथ में मुरली उनकी अगाध मोहकता, आनन्द-विधायिनी प्रेमोर्ज्जस्विता की परिचायिका है ।

सूरदास ने—

सोभित कर नवनीत लिए ।

घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधिलेप किए ।

द्वारा बाल-चापल्य एवं सहज नटखटी का जो संश्लिष्ट रूप हमारे सामने रखा है वह गोस्वामीजी में मिलना कठिन है । गोस्वामीजी का दास्य भाव सदा ईश्वर के ऐश्वर्य की ही भावना लिए हुए था । शिशु राम में भी 'स्वामित्व' की भावना ईश्वरत्व लिये हुए बनी हुई है । इस रूप-चित्रण में माधुर्य एवं मोहकता का गहरा पुट होते हुए भी रूप के नाना विलास, शिशु राम के विविध क्रीड़ा-कौतुक का कोई संश्लिष्ट रूप हमारी आँखों के सम्मुख नहीं आता । हम गोद के 'राम' को पैरों में पेंजनी और हाथों में पहुँची तथा 'पीत झगा' में ही देखकर तृप्त नहीं हो पाते । कौशल्या के आँगन में दौड़ते हुए 'अरबराय करि पानि गहावत डगमगाय धरै पैयाँ' का रूप-विलास, क्रीड़ा-कौतुक देखने के लिए उत्सुक-लालायित रह जाते हैं ।

गोसाईंजी इस बालक राम के सम्मुख भी सिर नवाना ही पसन्द करेंगे उस निश्छल सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे प्यार से चुम्बन लेना नहीं । उनका दास्यभाव सर्वत्र एवं सर्वदा अखण्ड रूप में बना रहा । इसी हेतु वात्सल्य शृंगार में उनकी वृत्ति बहुत ही कम रम सकी । यही कारण है कि बालक राम के इस 'सोच विमोचन' रूप को देखकर मोहित न होने वाले को 'खर, सूकर, स्वान' की उपाधि मिली ।

मीरा का प्रेम माधुर्य-भाव का था। इसलिए कृष्ण की बाल-लीलाओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया। पत्नी अपने पति के बाल रूप में लीन नहीं हुआ करती; उसे उसका प्रौढ़ युवा रूप ही अच्छा लगता है। पत्नी पति के शिशु या बाल-रूप को कौतूहल की दृष्टि से देखती है। दाम्पत्य रति बालक-बालिका की रति नहीं है, युवा-युवती की रति है। मीरा कृष्ण को जगा रही है—परन्तु यह जगाना यशोदा का कृष्ण को अथवा कौशल्या का राम को जगाने के समान नहीं है। यहाँ पत्नी सोये हुए पति को जगा रही है—

जागो बंसी वारे ललना, जागो मेरे प्यारे।
रजनी बीती, भोर भयो है, घर-घर खुले किवारे॥
गोपी दही-मथत सुनियत है कंगना के झनकारे॥

संगीत की मृदुल झंकार पर ध्यान दीजिए। प्रभात हो चला है, गोपियाँ दही मह रही हैं—उनके कंगनों की झनकार सुनाई पड़ रही है। घर-घर के द्वार खुल गये हैं। इस समय भी मीरा की सेज पर श्रीकृष्ण सो रहे हैं और द्वार बन्द हैं। यह देख मीरा कुछ संकोच, कुछ व्रीड़ा के साथ जल्दी-जल्दी अपने प्राणनाथ को जगा रही है, कि कहीं सखियाँ देखकर उसे चिढ़ाएँ नहीं। बहुधा ऐसा होता भी है कि देर तक सोते हुए पति को पत्नी जल्दी-जल्दी इसलिए जगा देती है कि कहीं उनका देर तक सोना देखकर दूसरे तंग न करें, चिढ़ाने न लगें।

मीरा के कृष्ण एक सुन्दर तथा परम मोहक प्रौढ़ युवा कृष्ण हैं। उनकी भावना मीरा ने यों की है—

मेरे नैना निपट लंपट बंकट छवि अटके।
देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके।
टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के।

यही ललित त्रिभंगी भुवन-मोहिनी मूर्ति मीरा के हृदय में घर कर चुकी है। यह छवि उसके रोम-रोम में उलझी हुई है, यही प्रेमामृत उसके रेशे-रेशे में ओत-प्रोत है। हृदय में उलझी हुई उस बाँकी छवि की झाँकी लीजिये—

जब से मोंहि नंदनंदन दृष्टि पड़यो माई।
तब से परलोक लोक कछू ना सोहाई॥
मोरन की चंद-कला सीस मुकुट सोहैं।
केसर की तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥

कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग-छौना॥
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेस धरे रूप अति बिसेखा॥
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला-सी॥
छुद्र-घंटि किंकिनी अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग-अंग मीरा बलि जाई॥

कृष्ण के इसी नटवर प्रौढ़ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढ़ाया है। 'अलंकार' वालों से यहाँ इतना निवेदन है कि यह 'रूप-राग' का विषय है, मीरा की 'काव्य-कला' का नहीं। अतएव 'रूपकातिशयोक्ति' एवं उत्प्रेक्षा दिखाकर मीरा की कविता पर धन्य-धन्य अथवा वाह-वाह कहने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। यहाँ अलंकार स्वतः गौण है, रूप-विधान ही मुख्य है। भावना को तीव्र एवं कल्पना को सजीव बनाने के लिए ही ये अलंकार आए हैं। ऊपर के पद में कितनी सुन्दर रूप-व्यंजना की उद्भावना हुई है! कुटिल भृकुटि, भाल पर केसर का चन्दन और चितवन में टोना देख किसे लोक-परलोक की सुधि रहेगी? किसका हृदय बरबस इस रूप-सागर में डुबकी लेने के लिए व्याकुल न हो उठेगा? मीरा का भावप्रवण हृदय इस 'परम भाव' के लिए सर्वथा उपयुक्त था। उसे कुछ बनना तो था नहीं। 'माधुर्य भाव' उधार लेने की उसे कोई आवश्यकता तो थी नहीं। मीरा को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई पुरुष कहाँ से और कैसे दीख पड़ता? यह सारा संसार ही सखी-भाव से स्त्री-स्त्री हो रहा था, यदि कोई पुरुष था तो श्रीगिरिधारीलालजी।

प्रेम का प्रारम्भ, जिसे कवियों ने 'पूर्वानुराग' की संज्ञा दी है, विशेषतः प्रिय के संगम के पूर्व प्रिय के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर या उसके दर्शन से, रूप के ही आकर्षण से होता है। अनजाने हृदय बरबस अरुझ जाता है। आँखों की खिड़की से प्रवेश कर हृदय में रूप का टोना एक विचित्र हलचल मचाने लगता है। लगालगी आँखें करती हैं और बँधता है बेचारा मन। जी चाहता है कि वश चलता तो असंख्य नक्षत्र, मधुर ऊषा, समस्त संसार के अखिल सौन्दर्य को अपने 'प्रेम' के चरणों में चढ़ा देता। कविवर (Yeats) ईट्स में यह भी भावना मिलती है। कवि का विवशतापूर्ण कथन है—ऐ मेरे प्रियतम! यदि मेरे पास ये असंख्य नक्षत्र, अनन्त आकाश और उस पर बिछी हुई सतरंगी चादर होती तो तुम्हारे चरणों मे बिछा देता, जिस पर तुम्हारे कोमल चरण पड़ते, परन्तु—

But, Alas! I am poor and have my dreams only,
I have spread my dreams under Thy feet;

Tread softly, for Thou treadst on my dreams.

परन्तु खेद है कि मुझ गरीबिनी के पास सपनों के सिवा कुछ है नहीं। ऐ मेरे प्रियतम, मैंने तुम्हारे चरणों के नीचे अपने सपने बिछा दिए हैं। इन सपनों पर धीरे-धीरे चलना, मेरे साजन, क्योंकि तुम मेरे सुकुमार सपनों पर चल रहे हो।

महादेवी में भी एक स्थान पर ऐसी ही मधुर भावना मिलती है—

मैं पलकों में पाल रही हूँ
यह सपना सुकुमार किसी का।
जाने क्यों कहता है कोई
मैं तम की उलझन में खोई।
धूममयी वीथी - वीथी में
लुक - छिपकर विद्युत-सी रोई।
मैं कण - कण में ढाल रही हूँ
आँसू के मिस प्यार किसी का।

प्रेम की आँखों से देखने पर वही रूप कुछ और हो जाता है। इसी से तो कहा है कि 'अल्लाह भी मजनूँ को लैला नजर आता है।' रूप की चोट सबसे करारी होती है। प्रीति का घाव बड़ा ही गहरा होता है। उसे वही समझ सकता है जो स्वयं घायल हो, भुक्तभोगी हो—

'जाके लगै सोई पै जाने प्रेम बान अनियारो'
'घायल की गति घायल जानै
कि जिन पीर लगाई होय।'

प्रेम-जन्य, आकर्षण-मूलक यह 'दर्द' ही तो प्रेमियों का एकमात्र सहारा है। प्रेम के इस दुःख को दुःख भी तो नहीं कह सकते। जहाँ 'कुछ और' की कामना बनी रहती है वहाँ दुःख कैसा? किसी अंग्रेज कवि ने ठीक ही कहा है: 'Love is a pleasant woe' अर्थात् प्रेम सुखद वेदना है। प्रेम की विकलता में पड़े हुए प्राणी इससे बाहर आना पसन्द नहीं करेंगे—

Love! in what a prison is thy dart
Dipped when it makes a bleeding heart?
None know but they who feel the smart.

—Druham

प्रेम की दारुण दशा भी प्रेमियों को सहारा ही देती है। किसी के रूप पर मुग्ध हुआ मन संसार में अपने प्रेम-पात्र के समान ढूंढ आता है; चन्द्र, ऊषा, कमल, आदि सभी उसको उस परम रूप-शोभा के सम्मुख तुच्छ लगते

हैं। उसकी यह आसक्ति ही, यह एकोन्मुखी वृत्ति ही आगे चलकर 'प्रेम' हो जाती है। रूप पर आसक्त हृदय रूप का पुजारी हो जाता है। अपने प्रेम-पात्र की आँखें, कान, भौं, भुजाएँ, नासिका, कपोल आदि पर से बिछलती हुई उसकी दृष्टि, प्रिय का मिलना, हँसना, बातें करना, बैठना, सोना, यहाँ तक कि रूठने में भी एक अपूर्व माधुरी का आस्वादन करता है। अनुराग अपने को प्रिय के सभी क्रिया-कलाप पर छिड़क देता है। इसी हेतु प्रिय की सभी 'हरकतों' में उसे एक अपूर्व मादकता मिलती है। मीरा का यह 'पूर्वानुराग' इसी प्रकार का है।

विषाद की अमावस्या

भगवान् के प्रेमपथ में चलनेवाले साधक को अनुभूति की अनेकानेक घाटियों से गुज़रना पड़ता है। पहली घाटी अन्वेषण की है। यह बहुत ही कष्टकर और साधक को थका देनेवाली होती है। यहाँ साधक को अपने समस्त भार को पटककर हलका हो लेना पड़ता है। अकिंचन, निरीह, सर्वथा अकेला; इसमें वह आगे बढ़ता है। प्लॉटिनस ने इसे ही stage of purification कहा है। आत्मदान का यह श्रीगणेश है।

सर्वथा एकाकी, परित्यक्त, नग्न, निरीह होकर जब साधक आगे बढ़ता है तो प्रेम की कठिन घाटी में प्रवेश करता है। यहाँ उसके अन्तस्तल में प्रकाश की झिलमिल कोमल किरणें क्रीड़ा करने लगती हैं। यहाँ अन्धकार से प्रकाश में अचानक अपने को पाकर वह चकित-विस्मित हो जाता है।

इसके बाद ज्ञान की घाटी आती है जहाँ उसे सत्य से साक्षात्कार होता है और 'रहस्य' धीरे-धीरे उसके सम्मुख खुलने लगता है। वह प्रकृति के नाना रूप और विलास में भगवान् का हास-विलास देखता है और प्रकाशमय जीवन में प्रवेश करता है।

ज्ञान की घाटी के अन्तर वैराग्य की घाटी आती है जहाँ दिव्य भागवत-प्रेम में साधक की समस्त सत्ता डूब जाती है, और यहाँ प्रेम ही कर्तव्य-रूप में शेष रह जाता है; बाकी सारी बातें अपने-आप छूट जाती हैं।

इसके बाद विस्मय की घाटी आती है जहाँ भगवत्प्रकाश से साधक की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और उसे इस प्रखर प्रकाश के कारण कुछ भी सूझता नहीं; कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता।

और अन्त में आत्म-विसर्जन की घाटी आती है जिसमें साधक भगवान् के प्रेम में अपने-आपको भुला देता है—जैसे मछली अगाध सागर में।

हमारा यह एक अभिमानभरा प्रमाद है कि हम भगवान् को ढूँढते हैं और उसके पथ में चल रहे हैं। वस्तुत: खोजने वाला तो स्वयं भगवान् ही है और वही इस पथ में चलने की प्रेरणा भी प्रदान करता रहता है। संत एखार्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मिलन की चाह इधर भी है और उधर भी; इधर की अपेक्षा उधर ही अधिक है। प्रेम प्रेम का आवाहन कर रहा है क्योंकि परमात्मा जीव का प्रेमी है। हृदय के द्वार पर 'वह' खड़ा-खड़ा हमारे द्वार

खोलने की बाट देखा करता है। हमारा खोलना और उसका प्रवेश करना एक साथ होता है।[1] जलालुद्दीन रूमी ने इसी को दूसरे ढंग से कहा है—

When in this heart the lightning spark of love arises
Be sure this love is reciprocated in that heart.

भगवान् के प्रेम की चोट खाए हुए साधक की स्थिति ठीक वैसी ही होती है जैसी वाण लगे हुए हिरण की। 'दरद की मारी बन-बन डोलूँ, दरद न जानै कोय।' प्रेम का तीर छोड़कर 'शिकारी' छिप जाता है। हृदय में उस घाव को लिये हुए प्रेमी साधक बेचैनी में गाता है—'घायल-सी घूमूँ-फिरूँ, मेरी बिथा न बूझे कोय।'

> **रे मेरे पार निकस गया साजन मार्‍या तीर।**
> **बिरह भाल लागी उर अंतरि व्याकुल भया शरीर॥**
> **इत उत चित्त चलै नहिं कबहूँ डारी प्रेम जंजीर।**
> **के जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाने पीर॥**
> **कहा करूँ मेरो बस नहिं सजनी नैन भरत दोउ नीर।**
> **मीरा कहै प्रभु तुम मिलियाँ बिनि प्राण धरत नहिं धीर॥**

मैदम ग्यों (Madame Guyon) ने भी मीरा की ही तरह अपने घायल हृदय की व्यथा में अपनी बड़ी मीठी अनुभूति को व्यक्त किया है—

'After thou hadst wounded me so deeply, thou didst begin, oh my God, to withdraw thyself from me; and the pain of thy absence was the more bitter to me because thy presence had been so sweet to me, thy love so strong in me."

प्रेमी के आवाहन एवं संकेत-भरे आमंत्रण पर प्रेमिका 'अभिसार' करती है और इस कृष्णाभिसार में ही प्रियतम के मधुर चुम्बन, आलिंगन एवं परिरम्भण का रसास्वादन उसके शरीर, मन, प्राण को जुड़ा देता है। परन्तु मिलन का यह अवहनीय सुख कुछ ही देर ठहरता है, और फिर प्रियतम न जाने कहाँ छिप जाता है। रास के प्रसंग में यह रहस्य बड़े मीठे ढंग से सांकेतिक शैली में खुला है। गोपियों की जो स्थिति हुई—'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्'—तुम्हें

---

1. He is no farther off than the door of the heart. There He stands and waits and waits until He finds thee ready to open and let Him in. Thou needst not call Him from a distance; to wait until thou openest is harder for Him than for thee. He needs thee a thousand times more than thou canst need Him. The opening and His entering are but one moment.

—*Meister Eckhart*

देखे बिना एक क्षण युग के समान बीत रहा है—ठीक यही स्थिति प्रेम-पथ के प्रायः प्रत्येक साधक की होती है। मन निराधार होकर मारा-मारा फिरता है। कहीं किसी का संग-साथ सुहाता ही नहीं। मानो वह व्यक्ति अधर में लटका दिया गया हो जो न पृथ्वी पर पैर ही टिका सकता है और न आकाश को ही पकड़ पाता है। प्यास से उसके प्राण जल रहे हैं, परन्तु पानी तक पहुँचने की उसमें शक्ति नहीं। यह ऐसी प्यास है जो एक क्षण के लिए भी सही नहीं जाती, परन्तु संसार की कोई चीज़ इसे बुझा भी नहीं सकती क्योंकि वह तो प्यारे के प्रेम का प्यासा है। उसकी तो एक मात्र यही पुकार है कि ऐ मेरे प्राणसखा, मुझे अपने अधरों का अमृत पिलाओ।[1]

प्यारे दरसन दीज्यो आय
तुम बिन रह्यो न जाय।
जल बिन कमल चन्द बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन,
बिरह कलेजो खाय॥
दिवस न भूख नींद नहिं रैना
मुख से कहत न आवै बैना,
कहा कहूँ कछु कहत न आवै,
मिल कर तपन बुझाय॥
क्यूँ तरसावो अन्तरजामी,
आय मिलो किरपा कर स्वामी।
मीरा दासी जनम-जनम की,
पड़ी तुम्हारे पाय॥

यह स्मरण रखने की बात है कि यह 'राग' 'इतरराग विस्मारणं' है—अर्थात् भगवदासक्ति से संसार की अन्य सारी आसक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं; सारी ममताओं का केन्द्रबिन्दु हो जाता है परम प्रियतम भगवान्—जो वस्तुतः सब का 'प्रियतम' है, प्राणाधार है।

---

१. सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
भा० १०. ३१. १४.

गोपियाँ कहती हैं—हे वीर! जो काम सुख को बढ़ाने वाला, शोक को दूर करने वाला, बजती हुई बाँसुरी से चुम्बित और मनुष्यों की अन्य आसक्तियों को भुला देनेवाला है, वह अपना मधुर अधरामृत हमें पिलाइये।

एक बार मिलन का आनन्द पा चुकने के बाद प्रेमास्पद की आँखों से ओझल हो जाने के कारण साधक का हृदय विरह की आग में झुलसने लगता है और विरह की 'छमासी रैन' का अन्त नहीं मिलता। एक गम्भीर विषाद में वह डूब जाता है। पथ नहीं सूझता कि बाहर निकले। परम प्रियतम की प्रेम-प्राप्ति के लिए फिर वह क्या-क्या नहीं करता? जीवन में मृत्यु का अनुभव करता है और एक ऐसे अन्धकार से घिरा रहता है जिसमें प्रकाश के लिए कोई मार्ग ही नहीं है। साधक अपने-आप पूछता है—"इस अन्धकार में तुम कहाँ जा छिपे हो, ऐ मेरे स्वामी?" अन्तर से आवाज़ आती है, "तुम्हारे हृदय की गुफा में।"

एकाएक प्रकाश का दिव्य पुंज देखकर जिस प्रकार हमारी आँखें झँप जाती हैं, जिस प्रकार प्रखर रश्मियों को हम खुली आँखों नहीं देख पाते, उसी प्रकार साधक की आंतरिक आखें भी भगवान् के दिव्य तेजपुंज से चौंधिया जाती हैं और इस विरह की स्थिति में साधक सर्वथा अपने को परित्यक्त, आश्रयहीन, निराधार, निरवलम्ब समझ लेता है। उसकी चेतना इतनी जड़ हो जाती है कि वह भगवान् के स्पर्श का अनुभव नहीं कर पाता। एक विचित्र उदासी, अकथनीय गम्भीरता, एक घना निविड़ विषाद का कुहरा छा जाता है जब वह साधक स्पष्ट देखता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है, मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।[1]

इस गम्भीर विषाद में, इस अथाह मौन में ही भगवान् के दिव्य आश्वासन के शब्द सुन पड़ते हैं। बाहर का सारा संसार जब घोर तमिस्रा से भर जाता है तभी हृदय के आकाश में प्राणनाथ की मधुर, शीतल, कोमल अंग से छिटकती हुई किरणों के दर्शन और स्पर्श प्राप्त होता है। अन्तस्तल में प्रकाश सदा सदैव प्रकाशित है, परन्तु उसकी अनुभूति चारों ओर से अन्धकार से घिर जाने पर ही होती है। जब जगत् का सारा कोलाहल, सारी इच्छाएँ-वासनाएँ मिट जाती हैं तभी प्राणप्यारे की वंशी की मधुर ध्वनि सुन पड़ती है। प्रत्येक साधक के पथ मे वह विषाद की अमावस्या आती ही है जिसे 'Dark Night of the Soul' कहते हैं और जिसके गर्भ में आनन्द का उत्स है। साधक विषाद की इस घोर निविड़ अमावस्या में, जगत् के विलास की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेता है और इस गहरी उदासी की अवस्था में उसे यह अनुभव होता है कि मैं और जो कुछ भी मेरा है तुच्छ है, अकारथ है। और इसी क्षण उसकी

1. Desolation and loneliness abandonment by God and by man, a tendency of everything to go wrong, a profusion of unsought trials and grief—all are here. —Underhill.

हृदयगुफा में से कोई बोल उठता है—"खोलो, द्वार खोलो, मैं मिलने के लिए युग-युग से खड़ा हूँ।" उसी 'आवाज़' को सुनकर मीरा ने गाया है—

सुनी री मैंने हरि आवन की आवाज।
महल चढ़े चढ़ि जोउँ मेरी सजनी कब आवें महाराज॥
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।
उमंग्यो इंदु चहुँ दिसि बरसै दामिणि छोड़ी लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी वेग मिलो महाराज॥

आँख-मिचौनी

'विषाद की अमावस्या' (The Dark Night of the Soul) को पार कर प्रेमी भक्त एक ऐसी स्थिति में आता है जिसे 'आँख-मिचौनी' कह सकते हैं। इसे आत्म-प्रकाश (Illumination) तथा आनन्द-संभोग (Ecstatic Union) की स्थिति भी कह सकते हैं जिसमें भक्त और भगवान् का मधुर प्रेमालाप होता है—भक्त अपनी सुनाता है, भगवान् अपनी। यह परम आत्मीयता की स्थिति है जिसमें भक्त भगवान् में और भगवान् भक्त में अपना रूप निहार-निहारकर मग्न होते हैं और हृदय की भाषा में एक-दूसरे से मौन प्रेमालाप करते हैं। यह अस्फुट प्रेमालाप उन्हीं के शब्दों में सुनने लायक है। अस्तु।

इस लुका-छिपी में, इस धूप-छाँह में ओ मायावी! ओ चतुर खिलाड़ी! मेरे प्राणों के साथ कैसे-कैसे खेल खेला करते हो! यह तुम्हारी ललित लीला, यह तुम्हारी मोहिनी माया मुझे एक क्षण भी विराम नहीं लेने देती। आते हो, अचानक, चुपचाप, नीरव निशीथ में पैरों की चाप छिपाये, पैंजनी की रुनझुन दबाये, मुरली का स्वर और किंकणी का क्वणन समेटे, आते हो; धीरे से, चुपके से मेरे प्राणों को छू देते हो। उस स्पर्श से मेरे रोम-रोम जग जाते हैं, अन्तर में सोई हुई चिरन्तन लालसा, अमर प्यास जग पड़ती है, हृदय का रेशा-रेशा उस कोमल मधुर आर्द्र शीतल अमृत-स्पर्श में सिहर उठता है—अतल प्राणों में तुम्हारे स्पर्श की लहर से उद्भूत एक विचित्र सुखानुभूति होने लगती है—ऐसा मानो मैं तुम्हें अपने आलिङ्गन में बाँधे हुई हूँ—तुम मुझे अपने आलिङ्गन में बाँधे हुए हो!! अहा! वह सुख, वह स्पर्श, वह आनन्द!

आँखें खुलती हैं, रोम-रोम खुलते हैं, प्राण-प्राण खुलते हैं, हृदय का कपाट खुलता है, श्वास-श्वास के द्वार खुल पड़ते हैं अपने इस अनोखे अतिथि, प्राणेश्वर, प्राण-वल्लभ के स्वागत के लिए! चिर अभिवांछित साध के कण-कण में 'हरि! हरि!' का आवाहन सुनाई पड़ने लगता है। अब क्या! मेरे जन्म-जन्म की लालसा पूरी हुई; प्रभु ने स्वयं दया कर अपने दर्शन और स्पर्श से मुझे निहाल कर दिया। कितने अकारण दयालु हैं वे! स्वयं इस अँधेरी अर्ध-रात्रि में घने बीहड़ वन और काँटों का पथ तय कर, इस सुनसान रजनी में मुझ दासी को अपनाने के लिए आए और आज पहले की भाँति आकर, एक

क्षणमात्र के लिए झलक दिखाकर चले नहीं गए अपितु मुझे अपने मधुर स्पर्श का सुख भी दिया !

ऐसे पियै जान न दीजै हो ।
चलो री सखी ! मिल राखिये, नैननि रस पीजै हो ।
स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो ।।
जोइ जोइ भेषसो हरि मिलें सोइ सोइ कीजै हो ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बड़भागन रीझै हो ।।

हृदय हिलोरें ले रहा है, प्राण बेसुध-से है । मन माता-माता फिरता है । रोम-रोम नहा रहे हैं इस अमृतवर्षा में । इस जगती में तुम्हारे सिवा कुछ रहा ही नहीं । कण-कण में तुम्हारी छवि छलकती हुई इठला रही है । धरती धन्य हुई तुम्हारे कमल-कोमल चारु चरणों के परम पावन स्पर्श से ! आकाश धन्य हुआ अपने हृदय में तुम्हारी परछाई की श्यामल आभा पाकर ! वायु धन्य हुआ तुम्हारी आरती उतारकर ! समुद्र धन्य हुआ तुम्हारे चरणों को पखारकर ! आज वसुन्धरा में एक अद्भुत उल्लास छा रहा है, सभी मानो तुम्हारे आगमन और दिव्य-स्पर्श के सुख से बेसँभार होकर, मतवाले-से नाच रहे हैं । आनन्द हृदय में समा नहीं रहा है, इसे बाँटने की इच्छा होती है, पर वाणी स्वयं उस अमृत में छकी हुई है, कुछ कहना नहीं चाहती । समस्त चराचर अपने प्राणेश्वर को पाकर उसके मधु आलिङ्गन में डूबा हुआ है ! किसी से कोई क्या कहे, क्या सुने ?

रे मन ! रे प्राण ! हृदय ! नयन ! पीओ, पीओ, इस अमृत-सिन्धु में डूबो, डूब जाओ ऐ हृदय ! ऐ आँखे ! अपने स्वामी को देखो ! देखते-देखते ऐसा देख लो कि फिर कुछ देखने को रहे ही नहीं । जन्म-जन्म की साध ! आज अपना भाग्य सराहो, आज प्रभु के चरणतल में लोटो ! आज तुम धन्य हो गई, ओ मेरे प्राणों की चिरविकल प्यास ! तुम्हीं तो ढूँढ लाई हो इस अप-रूप रूप को, इस मधुर मनोहर श्यामसुन्दर को ! अहा ! प्रभु के चरणनख की विद्युत् द्युति ने मेरे अन्तस् को आलोकित कर दिया है, जगमग कर दिया है ! यह प्रकाश ! यह शोभा ! ! यह आनन्द ! ! !

प्रभो ! मैं यह क्या देख रही हूँ ? क्या मैं यह स्वप्न देख रही हूँ ? क्या यह कल्पना का लोक है ? प्यारे, मेरे जीवनधन ! आज तो तुम ससार से भी अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहे हो । संसार तो मानो तुम्हारे आलोक में विस्मित, तुम्हारे रूप पर विमुग्ध, तुम्हारे चरणों के नीचे लोट रहा है । संसार के मस्तक पर चरण रखकर तुम आये हो, देव ! और, मुझे भी अपनी गोद में ऊपर उठा रहे हो । मुझे भी उठा लोगे मेरे प्राण ! अरे, इस संसार की क्या हस्ती कि मुझे छू भी सके ! मैं तो हरि की गोद में हूँ, हरि ने मुझे अपने हृदय में छिपा

रखा है। संसार की याद ही इस समय क्यों आए? श्री हरिः शरणं मम!

अरे! एक क्षण भी तो नहीं हुआ और ओ छलिया! ओ कपटी! फिर वही लुका-छिपी! वही धूप-छाँह! अभी भर आँख देख ही कहाँ पाई थी, हरे! पूरा एक क्षण भी नहीं बीतने पाया और तुम्हारी छवि झिलमिल-झिलमिल-सी होकर पता नहीं कहाँ किस अदृश्य में छिप गई! प्रभो! इतनी दया कर जब आये ही तो एक क्षण और ठहर जाने में क्या लगता! मैं तो तुम्हारी ही बन्दिनी हूँ, जन्म-जन्म की बन्दिनी हूँ, अपनी इस चरणों की चेरी को इतना क्यों भरमा रहे हो? अधिक नहीं, बस एक बार भर आँख देख लेती, एक क्षण तुम्हारे रूप को निरख पाती, एक बार तुम्हारे परम पावन चरणों को अपने भूखे-प्यासे प्राणों से संस्पर्श कर पाती! इन कमल-कोमल, परम शीतल, त्रिविध ज्वाला-हरण चरणों को अपने वक्षस्थल से लगाकर जी की ज्वाला शान्त कर पाती, अपने हृदय की इस अल्हड़ लालसा को पूरी कर पाती! यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है, ओ मेरे जन्म-जन्म के प्यारे साथी!

और, तुम तो मेरे जन्म-जन्म के साथी हो, देव! संसार में जब कोई भी 'अपना' नहीं होता तब भी तुम मेरा अपना, एकमात्र 'अपना' बनकर सदा-सदैव साथ बने रहते हो! सब कोई मुझे छोड़ दे पर तुम मुझे कैसे छोड़ोगे? कितने इस हृदय के आँगन में आये और चले गये; आज उनकी धूमिल छाया भी नहीं है। भूल से, मोह और आसक्ति से उन्हें ही अपने 'प्राणों का देवता' मानकर उनके चरणों में आत्मार्पण करना चाहा परन्तु हरि! हरि! तुम कितने उदार, कितने दयालु हो! उसी समय, ठीक उस पागल बेला में—मेरे प्राणों में अपना प्रकाश फेंककर, मेरे हृदय में अपनी ज्योति डालकर, मेरे अन्तस्तल में अपनी प्रीति बरसाकर और मेरी आँखों में अपनी छवि की माधुरी बिखेरकर मुझे जगा लिया—'ओ भोले प्राणी! संसार में किस-किस के चरणों में अपने को निछावर करोगी? किस-किस रूप पर अपने को लुटाओगी? रूप की धूप में यों न जलो! लावण्य की धार में यों न बहो! अपने को सम्हालो और मेरी ओर देखो! तुम्हारे प्राणों के भीतर जो हाहाकार है, जो आतुर उत्कंठा है, अमर लालसा है, अतृप्त वासना है, तुम्हारे रोम-रोम में रूप के प्रति जो रुझान है, सौन्दर्य के प्रति जो आकर्षण है, वही तुम्हारी निधि है! तुम्हारे भीतर जो प्यास है, मुझे देखने, छूने, पाने और मुझमें समा जाने की जो सलोनी साध है, वही तुम्हारे अन्तःपुर का रुचिर मणि-प्रकाश है। तुम्हारी स्थूल आँखों से ओझल तो मैं हो गया हूँ परन्तु अपना वरदान, अपना प्रीति-प्रतीक तुम्हारी हृदय-गुफा में छोड़कर आया हूँ इसलिए कि तुम मुझ छिपे हुए को खोजो, खोजती रहो और खोजते-खोजते स्वयं खोज में ही खो जाओ। यह 'खो जाना' ही साधना का चूड़ामणि है। इसे प्राप्त कर लेने पर

मेरी प्रीति प्राप्त करोगी और उस प्रीति के द्वारा ही तुम्हें मेरा दर्शन और स्पर्श—कभी न हटनेवाला दर्शन, कभी न मिटनेवाला स्पर्श प्राप्त होगा। उस स्पर्श के कारण ही तुम दिव्य हो जाओगी और फिर तो मैं तुम्हें अपने हृदय में छिपा लूँगा; मेरे हृदय में तुम होगी और तुम्हारे हृदय में मैं। मेरे चित्त में तुम्हारा चित्त प्रवेश कर जाएगा और मेरे प्राणों में तुम्हारा प्राण ! मेरे मन में तुम्हारा मन मिल जाएगा और मेरी इच्छा में तुम्हारी इच्छा। फिर शेष कुछ रह ही नहीं जाएगा जिसके द्वारा तुम मेरे सिवा अन्य किसी वस्तु को देखोगी ! मेरी दृष्टि में अपनी दृष्टि मिलाकर फिर संसार को देखो, फिर यह संसार ही मेरी गोद के रूप में तुम्हें प्राप्त होगा ! मैं तुम्हें देखता रहूँगा, तुम मुझे ! बीच में कुछ आवरण जैसी कोई वस्तु रहेगी ही नहीं ! वह सुख, वह शान्ति; वह प्रेम और वह आनन्द तुम्हें प्राप्त हो, इसीलिए तो मैंने तुम्हारे भीतर यह अतृप्त पिपासा की उद्दाम तीव्र ज्वाला भर दी है। यह तड़प ही, यह ज्वाला ही, यह विकलता ही मेरी 'प्रसादी' है। इसे बड़े जतन से प्राणों में जुगोये रखो, और, सावधान ! संसार में किसी पर भी हमारे-तुम्हारे मधुर सम्बन्ध की गोपनीय बात प्रकट न हो।'

भीतर यह क्या सुन रही हूँ, प्रभो ! यह क्या तुम्हारी वाणी है ? क्या मैं अपने प्रियतम के ये मधुर आश्वासन के प्रीति-भरे वचन सुन रही हूँ ? क्या वह मेरी इतनी सुध रखता है ? क्या पग-पग पर वह मेरी सँभाल रखता है ? क्या उसके हृदय में मुझ नाचीज़ के लिए इतना स्नेह, इतनी प्रीति है ? क्या वस्तुतः वह मुझे सदा अपनी छाती में छिपाये हुए है ? क्या हर समय मैं अपने प्राणेश्वर हरि की गोद में खेल रही हूँ ? उसी की सिरजी हुई, उसी की भेजी हुई, उसी की विश्वगोद में मैं स्वच्छन्द, निश्चिन्त, निर्भय, निर्द्वन्द्व, अलमस्त विचर रही हूँ। फिर भी मन में इतनी बेचैनी क्यों है ? क्यों उससे रो-रोकर कातर प्राण बार-बार यही भीख माँग रहे हैं—

तनिक हरि चितवौ हमरी ओर !
हम चितवत तुम चितवत नाँहीं दिल के बड़े कठोर ! !

भक्त और भगवान् के बीच इस प्रेमालाप के अनन्तर धीरे-धीरे भक्त की भाव-देह अपनी परम पवित्र स्थिति में पलटने लगती है और इस स्थिति को पार करता हुआ वह धीरे-धीरे भगवान् की एक-एक लीला में प्रवेश करने लगता है और भगवान् के साथ उसका नित्य लीला-विहार हुआ करता है। भक्त का भगवान् में और भगवान् का भक्त में यही 'रमण' है। भक्त और भगवान्—दूसरे शब्दों में प्रेमी और प्रियतम के बीच 'आँख-मिचौनी' की यह प्रणय लीला, यह कुतूहल कितना मधुर, कितना मादक, कितना आनन्दोल्लास-पूर्ण है !

लीला-विहार

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति सभूमाथ यत्रा-न्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्य द्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । —छान्दोग्योपनिषद्, ७।२४।१

जहाँ दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता वही 'भूमा' है । और दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है, दूसरे को जानता है वह अल्प है । जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मरा हुआ है । इसीलिए प्रेम सदा मधुर, अविनाशी, सनातन और सत्य है ।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्त्तन-विहार का जो प्रवाह चलाया उसमें भगवान् के नाम, रूप एवं लीलाओं का मधुर विन्यास होने के कारण, भक्तों का हृदय पूर्णतः रम गया । इसमें प्रेम एवं आनन्द की जो स्रोतस्विनी उमड़ी वह जयदेव और विद्यापति के काव्य-कण्ठ से और भी प्रखर हो चली । सम्भोग-शृंगार का जो सूक्ष्म निदर्शन जयदेव और विद्यापति में हुआ वह अन्यत्र दुर्लभ है । आज भी 'चन्दनचर्चित नील कलेवर पीत वसन बनमाली' तथा 'रतिसुख सारे गतम-भिसारे मदन मनोहर वेशं' को ही गा-गाकर वैष्णव सम्प्रदाय के महाभाववाले भावुक भक्त भावना में लीन हुआ करते हैं तथा अपने 'हृदयेश' का अनुसरण किया करते हैं । इस रूप से आँखें अघाती ही नहीं, न हृदय जुड़ाता ही है । विद्यापति ने कहा है—

जनम जनम हम रूप निहारनु,
नयन न तिरपित भेल ।
लाख लाख जुग हिया बिच राखनु,
तबू हिया जूड़ ना गेल ।
वचन अमिय अनुक्षण शूनलूँ,
श्रुतिपथ परस न भेल ।
कत मधुयामिनि रभसे गँवावल,
ना बुझल कैसन केलि ।

जन्म-जन्म से हम उसे देखते आ रहे हैं, फिर भी आँखें तृप्त नहीं हुईं । लाख-लाख युग से हमने उसे अपने हृदय के हृदय में रखा, तो भी हृदय जुड़ाया

नहीं। रात-दिन उसकी बातें सुनीं, फिर भी कानों ने अघाना न जाना। कितनी मधुर रातें उसके परिरंभण में बिताई परन्तु पता न चला कि कभी भी उसके साथ केलि की है। हृदय की यह प्यास कभी बुझना नहीं जानती।

भगवान् की यह माधुरी चार प्रकार की होती है—ऐश्वर्य-माधुरी, लीला-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी। ऐश्वर्य-माधुरी में भगवान् का ऐश्वर्य मुख्य रूप रहता है; इसमें भगवान् के चमत्कारी महत्कार्य तथा लोकसृजन और लोक-संरक्षण की महिमा, जन-साधारण में भयमिश्रित श्रद्धा—जिसे अंग्रेज़ी में 'awe' कहते हैं, उत्पन्न करती है। क्रीड़ा-माधुरी में गोपबालकों के साथ खेलना, माँ से रार मचाना, सखाओं के साथ छेड़छाड़ तथा मान-मनौवल और सखियों के साथ 'दानलीला' सम्मिलित है। वेणु-माधुरी में भगवान् की वेणु की विमोहिनी शक्ति का वह जादू है—जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादि मोहित हो जाते हैं; जड़ चेतन और चेतन जड़ हो जाता है। विग्रह-माधुरी में भगवान् के त्रिभुवनमोहन परम मधुर, परम मनोहर रूप का रसपान है।

निपट बंकट छवि अटके,
मेरे नैना निपट बंकट छवि अटके ॥
देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके ॥
टेढ़ी कटि, टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।
'मीरा' प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ॥

इस प्रकार टेढ़ी भौंहें, टेढ़ी कटि, टेढ़ी मुरली तथा टेढ़ी पाग वाले त्रिभंगी श्यामसुन्दर की ललित छवि टेढ़ी होकर मीरा के हृदय में अटकी है। सूरदास ने भी एक स्थान पर इसी प्रकार त्रिभंगी रूप का हृदय में अटकना देखकर कहा था कि यह टेढ़ी-सी चीज़ हृदय से भला निकले तो कैसे ?

गोपियों ने भी यही कहा था—हे कांत ! जब आप गौ चराते हुए ब्रज से बाहर जाते हैं तब आपके कमल-सदृश सुन्दर चरण कंकड़-पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े, तृण और अंकुरों से दुःख पाते है, ऐसा सोचकर हमारा हृदय व्यथित हो उठता है। हे वीर ! सायंकाल के समय काले घुँघराले केश से आवृत और गोधूलि से व्याप्त अतएव भ्रमरपंक्ति और पराग से आवृत कमल के समान अपने मुखारविन्द को हमें बार-बार दिखाते हुए आप हमारे मन में अपने संस्पर्श की इच्छा प्रदीप्त करते हैं। मीरा गाती है—

या मोहन के रूप लुभानी !
सुन्दर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी।
जमना के नीरे तीरे धेनु चरावैं बंसी में गावैं मीठी बाणी।
तन-मन-धन गिरधर पर वारूँ चरण कमल मीरा लपटानी ॥

रूप की धूप में पड़ा हुआ मन कभी तो श्रीकृष्ण के धेनुचरावन में उलझता है और कभी वंशी की तान में। मीरा में लीला-विहार के हेतु वंशी तथा गोचारण ही मुख्यतः उद्दीपन रूप में आए हैं। गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ाएं नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि मीरा की भक्ति परम भाव की थी और कोई भी पत्नी अपने पति का दूसरी किसी भी स्त्री के साथ रमण करने की अप्रिय भावना को अपने भीतर स्थान नहीं दे सकती। मीरा का भाव एक सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी या परकीया का नहीं। हाँ, विरह-वेदना में झुलसे हुए हृदय ने दो-एक स्थलों पर खीझ-भरे उपालम्भ के वचन सुनाए हैं—

स्याम म्हासूं ऐंडो डोले हो।
औरन सूँ खेलै धमार, म्हासूँ मुखहूँ ना बोलै हो॥
म्हारी गलियाँ ना फिरै, वाके आँगन डोलै हो।
म्हारी अँगुली ना छुवै, वाका बँहियाँ मोरै हो॥
म्हारो अँचरा ना छुवै, वाको घूँघट खोलै हो।
मीरा के प्रभु साँवरो, रंग रसिया डोलै हो॥

मीठे उपालम्भ के इस अमृत-रसभरे पद की व्याख्या करके इसका स्वारस्य नष्ट नहीं करना चाहता, अस्तु मीरा ने एक और स्थान पर इसी मीठे उपालम्भ में कहा है कि तुमने गोपियों के साथ क्या-क्या न किया और मेरे लिए 'ब्रह्मचारी' बनते हो—

म्हारो सगपण तोसूँ साँवलिया, जगसूँ नहीं विचारी।
मीरा कहे गोपिन कों बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी॥

यहाँ इस 'ब्रह्मचारी' शब्द में कितना गूढ़ व्यंग्य है! इसमें खीझ भी है और मनुहार भी। ऊपर के पद 'सगपण' का अर्थ है सगापन, परम आत्मीयता।

अपने प्रेम-पात्र का प्रेमी की ओर निठुराई और दूसरों के प्रति रुझान देखकर हृदय में गहरी टीस एवं कलक किलक उठती है जिसका भावपूर्ण चित्र ऊपर के पद मे है। परन्तु सती-साध्वी स्त्री तो पति के इस 'अनाचार' को भी सहती ही है और धैर्य धारण कर अपने को सान्त्वना देती है—

मीरा के प्रभु गहर गंभीरा हृदय धरो जो धीरा।
आधि रात प्रभु दरसण देहैं प्रेम नदी के तीरा।

लीला-विहार में मीरा ने ब्रजभूमि, भगवान् की बाललीला, वंशीवादन लीला, नाग लीला, चीरहरण लीला, मिलन लीला, पनघट लीला, फाग लीला, दधिबेचन लीला, मथुरा-गमन तथा उद्धव-संवाद को मुख्य रूप में स्मरण किया है। उसके पदों में शवरी, सुदामा, गणिका, गज और अजामिल का भी उल्लेख है, पर बहुत ही चलता हुआ और बस उल्लेखमात्र। इन प्रसंगों में

स्पष्ट ही मीरा का हृदय रमा नहीं है, केवल परम्परा के प्रवाह का निर्वाह होता गया है ऐसा समझना चाहिए। ब्रजभूमि का बहुत भावग्राही वर्णन मिलता है—

आली म्हाँने लागे वृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविंद जी को।
निरमल नीर बहत जमना को, भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासन आप विराजै मुगट धर्यो तुलसी को।
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरली को।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको।

इसमें सबसे मनोहर है वंशीध्वनि सुनकर कुंज-कुंज में राधा का ढूँढते फिरना। बाललीला के पदों में भी मीरा का हृदय पूरा-पूरा रमा है ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऊपर कारण बतला आया हूँ कि दाम्पत्य रति बालक-बालिका की रति नहीं है, युवक-युवती की रति है। पत्नी अपने पति के बाल-रूप में नहीं रमा करती। इस सम्बन्ध का मीरा का वह पद अमर है। वृन्दावन की गलियों में नाचते हुए नन्दकिशोर के कुण्डलों की झकझोर सामने आ जाती है—

सखी, म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर।
मोर मुगट पीताम्बर सोहै, कुंडल की झकझोर।
बिंद्रावन की कुंजगलिन में नाचत नंदकिशोर।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणकँवल चितचोर।।

वंशी की मोहिनी मीरा के हृदय को नचा रही थी, उसके प्राणों में मिलन की उत्कट वासना उद्बुद्ध कर रही थी, पर मीरा का हृदय श्रीकृष्ण की विग्रह-माधुरी पर अत्यन्त आसक्त था, इसीलिए उसमें रूपमाधुरी के ही पद विशेष मिलते हैं। जिस वंशी को लेकर गोपियों ने अनेक प्रकार की व्यंग्योक्तियाँ की हैं, जिस मुरली के अधर रसपान पर गोपियों को ईर्ष्या और 'सौतिया डाह' हो आया है, उस वंशी पर मीरा का बस एक ही गीत है। इसका कारण, जैसा ऊपर कह आया हूँ, मीरा की 'रूपासक्ति' ही है। वंशी-वादन का पद यों है—

भई हौं बावरी सुन के बाँसुरी
हरि बिनु कछु न सुहावै।
स्रवन सुनत मेरी सुध बुध बिसरी
लगी रहत तामें मन की गाँसुरी।
नेम धरम कोन कोनो मुरलिया
कौन तिहारे पासु री।।

मीरा के प्रभु बस कर लीने
सप्त सुरनताननि की फाँसु री ॥

वंशी-वादन की तरह चीरहरण का भी बस एक ही पद मिलता है—'आज अनारी ले गयो सारी, बैठि कदम की डारी' इत्यादि। पर इस पद में मीरा भागती हुई नज़र आती है। जमकर उसने चीरहरण लीला का वर्णन नहीं किया है। स्त्री-सुलभ सुकुमारता और लज्जा उसे संकोच में डाल देती है।

श्रीकृष्ण के साथ एकान्त मिलन या 'छेड़छाड़' के पद भी मीरा में नाम-मात्र के ही हैं। उसमें भी श्रीकृष्ण के रूप-रस का ही संकेत विशेष है, उनकी 'शरारत' का बहुत कम। इस लीला में भी मीरा का हृदय पूरी तरह रम न पाया। रमा हो भी तो उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई—

आवत मोरी गलियन में गिरधारी,
मैं तो छुप गई लाज की मारी
कुसुमल पाग केसरिया जामा,
ऊपर फूल हजारी
मुकुट ऊपर छत्र विराजे,
कुंडल की छवि न्यारी ॥
केसरी चीर दरियाई को लँहगो
ऊपर अँगिया भारी।
आवत देखी किसन मुरारी,
छुप गई राधा प्यारी ॥
मोर मुकुट मनोहर सोहै,
नथनी की छवि न्यारी।
गल मोतिन की माल बिराजै,
चरण कमल बलिहारी।
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है
सुण जे किसन मुरारी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर
चरण कमल पर वारी।

तथा

छांड़ो लंगर मोरी बँहिया गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ॥
जो तुम बँहियाँ मोर गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना।
वृन्दावन की कुंज गलिन में रीत छोड़ अनरीत करो ना ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना।

इस पद में 'नयन जोर मोरे प्राण हरो ना' की बेबसी-भरी मनुहार और आत्मदान के आन्तरिक माधुर्य पर सहृदय पाठकों का ध्यान सहज ही जाएगा। "पनघट लीला' का एक बड़ा ही भावपूर्ण मधुर गीत 'काफी' राग में है जिसमें प्रेम का दिव्य उल्लास छलक पड़ा है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे।
मन लागी कटारी प्रेमनी रे॥
जल जमुना माँ भरवा गयाँ ता हती गागर माथे हेमनी रे।
काचे ते तातणे हरी जीए बाँधी जेम खींचे तेम तेमनी रे॥
मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागर सामली सुरत सुभ एमनी रे॥

मीरा के लीला-विहार में भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का विस्तार कम मिलता है; उसमें या तो मिलन का आनन्दजन्य उल्लास है या विरहजन्य वेदना। श्रीकृष्ण का रूप ऐसा लुभावना और छवि ऐसी मोहक है कि उसने प्रेम के कच्चे धागे में हमारे हृदय को बाँध रखा है कि जैसा चाहता वैसा ही नाच नचाया करता है।

कहीं-कहीं प्रेम की 'खीझ' के बड़े ही सुन्दर भाव मीरा में मिलते हैं जहाँ वह अपने प्राणनाथ को औरों के साथ तो स्वच्छन्द लीला-विलास करते देखती है और अपनी ओर उसकी उदासीनता देखती है। उर्दू और फ़ारसी काव्य-साहित्य में बेवफ़ाई के, शिकवा के भावों का अच्छा विन्यास हुआ है जो उनकी अपनी विशेषता लिये हुए है। मीरा एक स्थान पर कहती है—

स्याम म्हाँसू ऍंडो डोले हो।
औरन सूँ खेलै धमार म्हाँसूँ मुखहू न बोलै हो।
म्हाँरी गलिया ना फिरै वाके आँगण डोलै हो।
म्हाँरी अँगुली ना छुवै वाकी बहियाँ मोरे हो।
म्हाँरो अँचरा न छुवे, वाको घूँघट खोलै हो।
मीरा के प्रभु साँवरो, रंगरसिया डोलै हो॥

सात्विक ईर्ष्या की रसानुभूति में तड़पती हुई मीरा ने कहा कि 'बाहर घाव कछू नहिं दीसै रोम-रोम में पीर'। वह चारों ओर से देखती है कि प्रिय का पथ उसके लिए बन्द है, वह उससे मिले तो कैसे ?

गली तो चारों बन्द हुईं मैं हरि सूँ मिलूँ कैसे जाय !

और

पिया दूर पंथ म्हारो झीणो सुरत झकोला खाय।

परन्तु 'पिय के पलंग पर पौढ़ने' की उत्कट कामना तीव्र होती जाती है और मीरा निश्चय कर लेती है—

श्री गिरिधर आगे नाचूँगी।
नाचि-नाचि पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमी जन को जाचूँगी॥
लोक-लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी॥
पिय के पलंगा जा पौढ़ूँगी मीरा हरि रंग राचूँगी॥

लोक-लाज और प्रेम 'एक म्यान में दो खड्ग' के समान साथ नहीं रह सकते, इसका प्रेमी साधकों को पूरा अनुभव है।

अपने प्राणनाथ के प्रति सच्ची रहनेवाली सती-साध्वी को संसार का क्या भय, लोक-लाज का क्या बन्धन?

मैं अपने सैयाँ संग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाँची।
दासी मीरा लाल गिरिधर मिटी जग-हाँसी।

जिस जीवनधन के बिना संसार सूना है, जिस एक रस के बिना विश्व के विविध रस नीरस हैं, भला उसके साथ मिलने के लिए विलम्ब क्यों? ऐंचातानी क्यों?

मैं तो साँवरे के रंग राची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक-लाज तजि नाची॥
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची॥
मीरा श्री गिरिधरन लालसूँ भगति रसीली जाँची॥

जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियों में संभोग शृङ्गार का जो विशद वर्णन मिलता है वह मीरा में खोजे भी न मिलेगा। मीरा ने कुल की कानि तथा लोक की लाज छोड़ी थी, तो केवल अपने श्री गिरिधारी लाल के चरणों में सर्वात्म-समर्पण के लिए ही; स्त्री-सुलभ आत्म-गोपन का भाव तो बना ही रहेगा। शृंगार के सुखद संभोग का वर्णन कौन कहे, मिलन के स्वाभाविक सुख का जहाँ कहीं संकेत है भी, उसमें आलिंगन, चुम्बन, परिरम्भन आदि का नाम तक नहीं है। मिलन के आनन्द को हृदय की प्रफुल्लता द्वारा ही मीरा ने प्रकट किया है। सात्विक लक्षणों का भी कम उल्लेख है। रोमांच, वैवर्ण्य, प्रकंप, प्रस्वेद आदि के बहुत ही हलके चित्र मिलते हैं, उनका विशद चित्रण करना मीरा के लजीले हृदय को स्वीकार न था। वैष्णव कवियों में गोपियों के विरहानल का वर्णन विशेष रूप में मिलता है और वे गोपियों की विरह-वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते हैं। गोपियों की स्थिति में रखकर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव एवं व्यक्त करने में उन्हें कुछ सुगमता हो जाती है। परन्तु मीरा का प्रेम मन-बहलाव का एक साधन मात्र नहीं रहा। उसमें किसी प्रकार के अधिरोप के लिए गुंजाइश ही नहीं थी। वह तो स्वयं उसी में घुल गई जैसे दूध में मिश्री, जल में रंग। वह हमारे सम्मुख एक प्रेयसी के रूप

में, मुग्धा नायिका के रूप में नहीं आती, प्रत्युत् श्रीकृष्ण की एक सती-साध्वी भक्तिविह्वला प्रेम-परायणा सखी के रूप में ही आती है, जिसने अपनी सारी आकांक्षा, सारी अभिलाषा श्रीकृष्णार्पण कर दी है। इसी हेतु उसे गोपियों को अपने और हरि के बीच मध्यस्थ बनाने की आवश्यकता न पड़ी।[1]

मीरा का मिलन राधा और कृष्ण का मिलन नहीं है, स्वतः मीरा और कृष्ण का मिलन है। ऐसे मिलन में मध्यस्थ की न कोई आवश्यकता ही है और न गुंजाइश ही। मीरा को तो अपने को राधा या गोपी के व्याज से तादात्म्य-भावना करनी थी नहीं, इसी हेतु 'गोपी-मोहन' 'राधा-वल्लभ', आदि-आदि भाव में स्मरण न करके मीरा ने श्यामसुन्दर तथा गिरधर गोपाल के रूप में ही कृष्ण को स्मरण किया है। इसी हेतु अपनी भावना को तीव्र करने के लिए वह अपनी निजी वेदना को ही उँडेलती है, न कि कृष्ण के विरह में गोपियों की वेदना को। कोई भी साध्वी पत्नी इस विचार को अपने मन में आने न देगी कि उसका पति किसी अन्य स्त्री से भी प्रेम करता है। इसी हेतु ऊपर कहा जा चुका है कि मीरा का प्रेम एवं प्रेमजन्य वेदना उधार ली हुई या उखाड़ी हुई नहीं है। वह तो भक्ति-विह्वल आतुर हृदय की परम पावन पुकार है जिसमें संसार की ओर से आँख मूँदकर अपने प्राणाधार की सजीव मूर्ति में केलि कर रही है। मीरा का प्रेमोत्सर्गपूर्ण जीवन स्वतः समर्पण का एक अविच्छिन्न संगीत है, अविरल पीयूष-प्रवाह है। मीरा का प्रेम भक्ति और प्रीति का निखरा हुआ सुव्यवस्थित, सुविकसित स्वरूप है। मीरा की भक्ति हृदय की मूक वेदना है जो अपने 'पूरब जन्म के साथी' के लिए उसके हृदय के रेशे-रेशे को तर कर देती है।

ढूँढने को तुझे ओ मेरे न मिलनेवाले
वह चली है जिसे अपना भी पता याद नहीं।

---

1. Mystic love is a total dedication of the will, the deep-seated desire and tendency of the soul towards its source.

—E. Underhill.

उत्फुल्ल प्रेम

श्रीरूप गोस्वामी ने 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में प्रेम के क्रमिक विकास का वर्णन यों किया है—

> आदौ श्रद्धा, ततः संगस्ततोऽथ भजन-क्रिया।
> ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
> अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
> साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

श्रद्धा, संग, भजन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्ति का क्रम-विकास होते-होते 'भाव' का उदय होता है। यह 'भाव' ही, प्रेम-पात्र के प्रति हृदय की यह रुझान ही प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था है—'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव'। चारों ओर से हृदय सिमटकर प्रेम-पात्र में ढल जाता है। मीरा के उस परम प्रियतम की एक झाँकी तो लीजिए—

उस परम प्रियतम के सिर पर चन्द्रकलायुक्त मोर-मुकुट शोभा दे रहा है। अटपटी पाग टेढ़ी रखी है जिसमें मोतियों की लड़ियाँ लटक रही हैं। माथे पर केसर का तिलक है जिसकी दोनों ओर काली-काली टेढ़ी, बल खायी हुई पेंचदार अलकें झूम खा रही हैं। कानों में कुंडल झलक रहे हैं जिसकी झलमल ज्योति कपोलों पर पड़ रही है, नासिका अत्यन्त सुन्दर है और दाँतों की द्युति दाड़िम के समान है। नेत्र रतनारे, मदभरे, लाल-लाल और विशाल हैं। उन पर टेढ़ी भवें विचित्र शोभा दे रही हैं। सुन्दर ग्रीवा पर तीन रेखाएँ पड़ी हैं। गले में वैजयन्ती-माला है। कटितट पर करधनी सुशोभित है और उसमें छोटी-छोटी घूंघरें लगी हैं। पैरों में नुपूर का रसीला शब्द मन को सहज ही मोह लेता है। पीताम्बर धारण किए हुए वह मोहिनी मूरत कालिन्दी के तट पर कदम्ब के नीचे अपने मधुर अधरों पर रखकर मन्द-मन्द मादक स्वर से मुरली बजा रही है। टेढ़ी चितवन और मन्द मुसकान प्राणों को हर लेने वाली है। और उसके रोम-रोम से छलकते हुए सौन्दर्य-मधु को पान करने के लिए मन-प्राण में अजीब बेबसी भर जाती है। प्रेम ही भगवान् की सत्ता है, प्रेम ही भगवान् का स्वरूप है, प्रेम ही उनका रंग है, प्रेम ही उनका रूप। प्रेम से ही वे पकड़े जाते है और उन्हें पकड़कर प्रेमी को एकमात्र प्रेम की ही जलन वरदान में प्राप्त होती है। वहीं भक्त और भगवान् का मन प्रेम में एकाकार हो जाता है। प्रेमी सारा संसार

ढूंढ आता है, उसे अपने परम प्रेमास्पद हरि के सिवा 'अपना' और कोई दीख ही नहीं पड़ता। इसी से वह कह सकता है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई॥
भगत देखि राजी भई जगत देखि रोई।
अँसुवन-जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि बोई॥
अब तो बात फैलि पड़ी जाणैं सब कोई।
मीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई॥

प्रेम-पात्र पर उत्सर्ग होकर संसार की ओर देखने के लिए क्या धरा है और फिर 'होनी होय सो होई' की क्या चिन्ता ? जो कुछ होगा, हो रहा है अथवा हुआ है, सभी श्रीकृष्णार्पण हो चुका। सूरदासजी कहते हैं—

अब हमरे जिय बैठ्यो यह पद 'होनी होउ सो होऊ'।
मिट गयो मान परेखो ऊधो हृदय हतो सो होऊ॥

'होनी होय सो होई' कहकर संसार को ललकारने वाली अपने उपास्य देव में अनन्य निष्ठा धन्य है!

और प्रेम-साधक की इच्छा क्या है ?

म्हाने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल चाकर राखो जी॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दरसण पासूँ।
वृन्दावन की कुंज गलिन में गोविन्दलीला गासूँ॥

० ० ०

ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच-बिच राखूँ वारी।
साँवरिया के दरसण पाऊँ पहिर कुसुंभी सारी॥[1]

वस्तुतः 'साहचर्य' का सुख सबसे बड़ा सुख है और जिस किसी प्रकार सेवा करने और उस परम रूप की शोभा निरखते रहने का आनन्द ही

---

१. रवीन्द्र के 'Gardener' की भी कुछ ऐसी ही इच्छा है—

Servant—Make me the gardener of your flower garden.
Queen—What folly is this ?
Servant—I will give up my other work × × × ×
Do not send me to distant courts, do not bid me undertake new conquests, but make me the gardener of your flower-garden.
Queen—What will your duties be ?

सर्वोच्च परम आनन्द है। यह भाव प्राय: सभी सन्त-भक्त-प्रेमी कवियों ने प्रकट किया है। एक ग्रामीण नायिका के 'साहचर्य'-सुख का उल्लासपूर्ण वर्णन देखिये—

आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन्ह।
पिय के हाथ घइलवा भरि-भरि दीन्ह ॥

तथा

टूट खाट घर टपकत खटियो टूट।
पिय के हाथ उसिसवा सुख की लूट ॥

'म्हाने चाकर राखो जी' में 'चाकर' शब्द से पाठक यह न समझ बैठें कि मीरा की उपासना आरम्भ में दास्य-भाव की ही है। दास्य में संभ्रम और गौरव का भाव मुख्य होता है। दास्य रति में भगवान् का अनन्त ऐश्वर्य सामने होता है, मुक्ति सिद्धि उसकी दासी हैं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसके एक इशारे पर बनते और मिटते हैं, परन्तु मधुर रस की साधना में छोटे-बड़े का सवाल नहीं उठता, वहाँ मधुर भाव की इतनी तीव्र अनुभूति होती है कि ऐश्वर्य की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। मीरा का यहाँ 'चाकरी में दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची' से यह स्पष्ट है कि वह दर्शन और स्मरण की भूखी-प्यासी है, वह इसी बहाने 'साहचर्य' की सुखाभिलाषिणी है। जैसे मधु-कोष में अमृतरूपी मधु संचित रहता है, उसी प्रकार प्रेम के हृदय में विरह का निवास है। विरह ही प्रेम का प्राण है। मीरा के प्रेम में प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में विरह-ही-विरह है। हृदय के भीतर बसनेवाली उस 'ना ना की मधुर मूरत' को मीरा स्पष्ट देख रही है, पर अंग से अंग लगा

Servant—The service of your idle days. I will keep fresh the grassy path where you walk in the morning. I will swing you in a swing among the branches of the 'Sapta Parna' when the early evening moon will struggle to kiss your skirt through the leaves. × × × × ×

Queen—What will you have for your reward ?

Servant—To be allowed to tinge the soles of your feet and kiss away the speck of dust that chance to linger there. To be allowed to hold your little fists like tender lotus buds and slip flower-chains over your wrists.

Queen—Your prayers are granted, my servant, you will be the gardener of my flower-garden.

कर, हृदय से हृदय मिलाकर मिल नहीं पाती—यही उसके दुःख का कारण है। विरह का रस पाकर ही प्रेम का पौधा उगता, पनपता और लहलहाता है।

सर्वात्मसमर्पण कर चुकने पर भी, हृदय को, अपने-आपको देवता के चरणों में अशेषतः चढ़ा चुकने पर भी, और हृदय उस 'निर्मोही' के चरणों में लोट-पोट होकर भी तृप्त नहीं हो पाता—

आली रे मोरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बीच आन अड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखों जीवन मूल जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी॥

लोग 'बिगड़ी' कहें या 'बनी'—प्रेम का गहरा नशा भीतर व्याप्त होता जा रहा है, सारी सुध-बुध खो गई है; अपने तन-मन का भी भान नहीं है।

भक्तवर सूरदासजी अपनी 'विवशता' यों प्रकट करते हैं—

अब तो प्रकट भई जग जानी।
वा मोहन सी प्रीति निरन्तर नाहिं रहेगी छानी।
कहाँ करों सुन्दर मूरत इन नैनन माँझ समानी॥
निकसत नाहिं बहुत पचि हारी रोम-रोम उरझानी।
अब कैसे निरवार जात है मिले दूध ज्यों पानी।
'सूरदास' प्रभु अन्तरजामी ग्वालिन मन की जानी॥

इस प्रेम के फन्दे से निकलना असम्भव है। वह सुन्दर मूर्ति रोम-रोम में उलझ गई है, निकाले नहीं निकलती। प्रेम के कच्चे धागे में बाँधकर 'वह' अपनी मनमानी कर रहा है।

उधर भक्त प्रभु से मिलने की व्याकुलता में मग्न रहता है, इधर हृदय के सभी कल्मष धुलते जाते हैं। अपनी ओर जब कभी ध्यान जाता है, अपनी त्रुटियों का जब कभी स्मरण हो आता है तो हृदय ग्लानि से भर जाता है। यह 'आत्मग्लानि' ही भक्तों का भूषण है। 'मैं मैली पिउ उजरा, मिलणा कैसे होय' का भाव प्रायः सभी निर्गुण सन्तों एवं सगुण भक्तों में रहा है। कबीर, दादू, जायसी, सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त और निर्गुण सन्तों ने इस शुद्ध सात्विक आत्मग्लानि में हृदय को डुबाकर पवित्र किया है।

आत्म-निरीक्षण का यह पथ परम पावन है। मीराबाई में ऐसे वचन के बस दो-एक ही पद हैं। मीरा को अपनी ओर, अपनी त्रुटियों अपराधों की ओर, सर्वात्म-श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, देखने का न अवकाश ही है और न आवश्यकता ही। प्रेमोन्माद के प्रखर प्रवाह में अपनी ओर देखने का समय ही कहाँ? फिर भी—

यहि बिधि भक्ति कैसे होय,
मन की मैल हिये ते न छूटी, दिया तिलक सिर धोय ॥
काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चांडाल ।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ॥

इस प्रकार, इस पद में 'मेरो मन हरिजू हठ न तजै', 'कौन जतन बिनती करिये' तथा 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' का भाव पूर्ण रूप से सन्निहित है ।

मीरा ने अपने प्रभु को विरद का एक बार स्मरण दिलाया है—

हरि ! तुम हरो जन की भीर ।
द्रौपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि धर्यो आप शरीर ।
हरिनकस्यप मार लीन्हों धर्यो नाहिन धीर ॥
बूड़ते गजराज को कियो बाहर नीर ।
दासि मीरा लाल गिरधर दुख जहाँ तहँ पीर ॥

इसी प्रकार शरण की याद एक बार दिलायी गई है—

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज ।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज ॥
भवसागर संसार अपरबल, जामें तुम ही जहाज ।
निरधाराँ आधार जगत-गुरु, तुम बिनु होय अकाज ॥
जुग-जुग भीर हरि भगतन की, दीनी मोक्ष समाज ।
मीरा सरण गही चरणन की, लाज राखो महाराज ॥

भक्त को अपनी दीनता और प्रभु की दीनवत्सलता को बार-बार स्मरण करने से सान्त्वना मिलती है । परन्तु प्रेमी को अपनी दीनता का ध्यान भी नहीं होता । क्यों हो ? प्रेम में तो दोनों को ही गरज है और, सच तो यह है कि प्रेम में भला कौन है प्रेमी और कौन है प्रेमास्पद, इसका निर्णय भी कैसे हो ? इसमें तो स्वयं भगवान् ही प्रेमी भी है और वही है प्रेमास्पद । एक सीमा के बाद यह प्रेमी और प्रेमास्पद का द्वैत विलीन हो जाता है और आनन्दोल्लास मात्र के लिए दो का एक में अथवा एक का दो में क्रीड़ाविलास हुआ करता है । और वह प्रेमिका जब प्राणाधिका मीरा के समान 'अंगीकृत' हो चुकी हो तो फिर अपनी ओर क्यों देखे ? पति-पत्नी के प्रेम-भरे मधुर सम्बन्ध में दैन्य के लिए स्थान ही कहाँ है ? हिन्दू नारी अपना सर्वस्व पति के चरणों में निवेदित कर पति के 'सर्वस्व' की अधिकारिणी हो जाती है । अब उसे दैन्य क्यों हो ? पति के चरणों की दासी वह है यह सच है, परन्तु पति के अधरामृत की भी तो अधिकारिणी है । और वह पति अपने प्रेम की प्यास, अपने

हृदय की तपन को बुझाने के लिए अपनी सहधर्मिणी के सामने एक दीन भिक्षुक की तरह जब खड़ा हो, 'देहि में पदपल्लवमुदारम्' की याचना कर रहा हो, तब उस पत्नी के हृदय में अपने प्रति दैन्य का भाव क्यों और कैसे आए ? प्रेम की रस-पूर्ति में दोनों ही समानतः साझी हैं, एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। इसी मनोविश्लेषण के आधार पर देखने से पता चल जाता है कि मीरा में दैन्य के पद कम क्यों हैं। कम क्या हैं, हैं ही नहीं। मीरा और कृष्ण का मिलन प्रति पल, प्रति क्षण हो रहा है। संसार की प्रत्येक वस्तु में, जगत् के सभी व्यापारों में दोनों का महामिलन हो रहा है। एक दूसरे के बिना व्याकुल है। जिस प्रकार पति का प्रेम, उसका सौन्दर्य तथा उसका आनन्द पत्नी को ही पाकर निखरता है, उसी प्रकार पत्नी का रूप-लावण्य भी पति को ही पाकर खिलता है। पति पत्नी के बिना और पत्नी पति के बिना अपूर्ण हैं। इधर से 'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' है तो उधर से 'प्रियेसु सौभाग्य-फला हि चारुता' है। मिलन की, मिलकर मिल जाने की व्याकुलता दोनों के ही हृदयों में समान है।

कसमसाहट, छटपटी दोनों ही ओर है। परस्पर की इस मधुर व्याकुलता को रामकृष्ण परमहंस ने तीन प्रकार से व्यक्त किया है—(१) गाय और बछड़े का सम्बन्ध, (२) बन्दरिया और उसके बच्चे का सम्बन्ध और (३) बिल्ली और उसके बच्चे का सम्बन्ध।

(१) स्तन-पान करने की जितनी तीव्र लालसा बछड़े के हृदय में होती है, उतनी ही गाय के हृदय में पिलाने की भी। बछड़ा पिये बिना नहीं रह सकता, गाय पिलाये बिना। कहा तो यों जाता है कि अपने प्यारे वत्स को अपने स्तन से सटाते ही माता का हृदय दूध बनकर तरलित हो जाता है।

(२) बन्दरिया चाहती है कि उसका बच्चा कष्टों में न पड़े, इस हेतु वह बच्चे को अपने पेट में सटाकर ढोने के लिए भी तैयार है यदि बच्चा उसके पेट में सट जाए, अपनी ओर से तनिक भी शरणोन्मुख हो जाए।

(३) बिल्ली अपने बच्चे को कष्ट की सम्भावना-मात्र से ही अपने दाँतों को उसकी गर्दन में चुभाकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आती है। बच्चा अपनी ओर से प्रयास करे या न करे इसकी ओर वह नहीं देखती।

इसमें पहले में ब्रह्म और आत्मा की पारस्परिक उत्कण्ठा, दूसरे में आत्मा की प्रथम चेष्टा तथा तीसरे में ब्रह्म की एकमात्र चेष्टा व्यंग्य है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्गुण सन्तों ने पहली भावना तथा सगुण भक्तों ने दूसरी तथा तीसरी भावना को अपने भीतर प्रतिष्ठापित किया है। मीरा की भावना तीसरे प्रकार की थी—अर्थात् उसका दृढ़ विश्वास था कि उसकी सारी सार-सँभार 'भगत वछल गोपाल' पर है और उसे 'वह' 'भीर'

में रहने नहीं दे सकता ।

हरि तुम हरो जन की भीर !
द्रौपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ।

इसी को भक्तवर सूरदासजी यों व्यक्त करते हैं—

लज्जा मेरी राखो श्याम हरी ।
कीनी कठिन दुःशासन मोसे गहि केशों पकरी ।।
आगे सभा दुष्ट दुर्योधन चाहत नगन करी ।
पाँचों पाण्डव सब बल हारे तिन सो कुछ ना सरी ।।
भीष्म द्रोण विदुर भये विस्मय तिन सब मौन धरी ।
अब नहिं मात पिता सुत बाँधव, एक टेक तुम्हरी ।।

यह दृढ़ विश्वास ही भक्तों का सहारा है । इसी विश्वास पर वे अपनी 'पाथर बोझी नाव' तूफ़ान होते हुए भी 'मँझधार' में डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं । जब पतवार प्रभु के हाथों में है तो तूफ़ान और लहरों का क्या भय ?

और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूं लोक मँझार ।
आप बिना मोहि कुछ न सोहावै निरख्यो सब संसार ।।

प्रेम में डूबा हुआ हृदय संसार में चारों ओर दृष्टि दौड़ा आता है, परन्तु अपने प्रेम-पात्र-जैसाउसे कहीं कुछ भी दीखता ही नहीं ।

प्रेमी भगवान् के हाथ बिक जाता है और वह सर्वथा उसी का होकर जीता है—

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ।।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ ।
रैण दिना वाके संग खेलूं, ज्यूं त्यूं वाहि रिझाऊँ ।।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ ।
मेरी उण की प्रीत पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ ।।
जित बैठावे तितही बैठूं, बेचे तो बिक जाऊँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ ।।

उसी परम प्रियतम के रंग में रची हुई निरन्तर उन्हीं के गुण गा-गाकर मस्त हो रही है और उनकी 'रसीली भगति' का रस पीकर छकी हुई है—

मैं तो साँवरे के रंग राची ।
साजि सिंगार बाँधि पग घुंघरू लोक-लाज तजि नाची ।
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब कांची ।
मीरा श्री गिरिधरन लालसूं भगति रसीली जाँची ।।

इस 'रसीली भगति' का मुख्य लक्षण है अखण्ड स्मरण—

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो करूँरी ।
तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरूँरी ॥
जहँ जहँ पाँव धरूँ धरती पर, तहँ तहँ निरत करूँरी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरणाँ लिपट परूँरी ॥

'अनहद', 'सुन्न महल', 'साहब', 'सुरत' का प्रभाव भी मीरा पर पड़े बिना न रहा । 'नाथ पंथ' का प्रभाव संयुक्त प्रान्त से एक प्रकार से लोप हो चला था, परन्तु राजस्थान में वह खूब फैला । उधर उत्तर-पश्चिम से सिन्ध प्रान्त से जो सूफी हवा आ रही थी उसमें हठयोग के स्थूल रूप भी प्रचुर परिमाण मे विद्यमान थे । कबीर-पंथ में तो आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानुसंधान, कुंडलिनी-जागरण, षटकर्म आदि हठयोग की क्रियाएँ पीछे एक प्रकार से आधारभूत होकर चलीं । सगुण भक्तों को उस ओर देखने की आवश्यकता न पड़ी । उनका 'सुन्य महल' सदैव प्रीतम की प्रेम-मूर्ति से भरा था । सूफियों ने भी इसे गौण रूप में ही अपनाया । पर उसमें रसायन का अजीबोगरीब सम्मिश्रण देखकर विस्मय होता है । मीरा में 'नाथ-पंथ' की, जो राजस्थान में खूब फैला था, एक हलकी लहर मिलती है—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ ।
इन नैनन मोरा साहब बसता डरती पलक न लाऊँ री ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ री ॥

एक और स्थान पर मीरा के ऐसे ही भाव मिलते हैं—

बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे ।
बिनु सुर राग छतीसूँ गावै रोम रोम रंग सार रे ॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल बरसत रंग अपार रे ।

उपर्युक्त दोनों पद निर्गुण राग में हैं और 'मीरा की शब्दावली' में संगृहीत हैं । पता नहीं कहाँ तक ये मीरा के स्वरचित हैं । यदि इन्हें मीरा का मान भी लिया जाए तो यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें मीरा का प्रेम-प्रवण हृदय प्रतिध्वनित नहीं होता, इसमें युग-प्रवाह की एक हलकी लहर है जो सिन्ध से राजस्थान में सीधे प्रवाहित हो रही थी । मीरा के यहाँ सब प्रकार के साधुओं और फकीरों का सीधा प्रवेश था । कहीं किसी के लिए कुछ भी रोक-टोक थी ही नहीं । मीरा सबकी सुनती थी, पर उसका हृदय, उसका रोम-रोम प्राणाधार श्रीकृष्ण के रूप-रंग में डूबा हुआ था । निर्गुणियों में

'नाम' की साधना थी ही और योगियों के 'करिश्मे' जनसाधारण को चक्कर में डालने के लिए काफ़ी थे। इन पदों से यही पता चलता है कि मीरा ने अनहद आदि की बातें सुन ली थीं और उसके 'त्रिकुटी महल' में जो 'झरोखा' था वहाँ से भी वह श्यामसुन्दर की ही झाँकी लगा रही थी ; उसी रूप-रस का गान कर रही थी और इसी से वह कहती है—

इन नैनन मेरा साजन बसता डरती पलक न लाऊँ री।

विरह-वेदना

रवीन्द्र ने एक स्थान पर कहा है—'केवल अतीत या वर्तमान में ही नहीं, प्रत्येक मनुष्य के बीच में अतल-स्पर्श विरह है। हम लोग जिससे मिलना चाहते हैं वह अपने मानस-सरोवर के अगम्य तीर पर निवास कर रहा है। वहाँ केवल कल्पना पहुँच सकती है। सशरीर वहाँ उपस्थित होने का कोई मार्ग ही नहीं है। तुम कहाँ और हम कहाँ? बीच में जो अनन्त विद्यमान है उसे कौन पार कर सकता है? अनन्त के केन्द्र में वर्तमान उस प्रियतम अविनश्वर मनुष्य का कौन साक्षात्कार कर सकता है? आज केवल भाषाभाव में, आभास-इंगित में, भूल-भ्रान्ति में, आलोक-अन्धकार में, देह-मन में और जन्म-मृत्यु के द्रुतगामी धारावेग में उसकी कुछ-कुछ वायु स्पंदित होती है। यदि तुम्हारे निकट से दक्षिण पवन मेरे पास पहुँचे तो वही मेरे लिए बड़ा भारी सौभाग्य है। इससे अधिक इस विरह-लोक में और क्या आशा की जा सकती है?'

मिलन और विरह के बीच प्रेम का पहाड़ी सोता स्वच्छन्द गति से बहता चला जाता है। मिलन का रस हल्का और विरह का गाढ़ा होता है। मिलन में प्रेम का प्रवाह कुछ मन्द पड़ जाता है, परन्तु विरह में वही तीव्र हो जाता है। मिलन का सुख क्षणिक एवं अस्थिर है, विरह का दुःख (इसे 'दुःख' ही कहा जाय?) स्थायी एवं स्थिर होता है। मिलन हमारे जीवन की सतह को छूता है, परन्तु विरह हमारे अन्तस् के सभी तारों को झंकृत कर देता है।

मिलन अंत है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृति गति है और सुषुप्ति मिलन है॥

वस्तुतः सुख की अपेक्षा दुःख का प्रभाव हमारे हृदय पर अधिक काल तक रहता है। सुख में हम उतराते और दुःख में डूब जाते हैं; सुख में हम अपने से बाहर परन्तु दुःख में अपने भीतर चले जाते हैं। सुख हमें हलका और दुःख गम्भीर बना देता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी किसी कविता में कहा है कि मेरे भीतर कोई विरहिणी नारी है जो अपने दुःख का, विरह-वेदना का, गीत सुनाया करती है। प्रत्येक सच्चे कलाकार के भीतर एक तड़पता हुआ विरह-विह्वल नारी-हृदय होता है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है। अधरों पर की क्षणिक मुसकान के भीतर से वेदना झाँक रही है, एक क्षण के लिए मिलकर जो हम अनन्त काल के लिए विरहाग्नि में झुलसने के लिए छोड़ दिये गए हैं,

सुख की इस अस्थिर छाया के भीतर दुःख का जो बड़वानल अँगड़ाइयाँ ले रहा है वही जीवन का सच्चा रूप-रस है, कला का मूल प्राण है। इसी विरह-विदग्ध जीवन का रेखा-चित्र काव्य की परमोत्कृष्ट व्यंजना है। यहीं शोक 'श्लोक' बन जाता है।

चण्डीदास की राधा का यह क्रन्दन जीव-जीव के हृदय का क्रन्दन है—

सुखेर लागियाए घर बाँधिनु
अनले पुड़िया गेल
अमिय सागरे सिनान करिते
सकलि गरल भेल

हिन्दी-साहित्य में विरह के दो सर्वोत्कृष्ट कवि हुए—जायसी और घनानन्द। जायसी समस्त चराचर को उस परम प्रेम में व्याकुल देखते हैं—

उन बानन्ह अस को जो न मरा
बेधि रहा सगरो संसारा

और उनका सबसे बड़ा रोना भी यही है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

राम के विरह में सीता का कलपना तथा कृष्ण के लिए गोपियों का तड़पना अवश्य ही मर्मस्पर्शी और हृदय के तन्तुओं को आन्दोलित कर देने वाला है। सीता के विरह में वेदना का जो उभार है वह गोपियों के विरह से अधिक संयत एवं लोकमर्यादा के अन्दर है। 'कोमल चित कृपालु रघुराई सो केहि हेतु घरी निठुराई' में कितनी मर्मस्पर्शिनी भाव-व्यंजना है! यहाँ, इस चौपाई में, एक ओर तो 'कोमल चित्त', दूसरी ओर 'निठुराई', अतएव कवि ने एक गम्भीर व्यंग्य द्वारा सीता के मर्माहत प्राणों की विकलता का संकेत मात्र कर दिया है। सूर की गोपियाँ तो प्रकृति के हास-विलास में अपने विरह का ही चित्र देखती हैं। हरे-भरे मधुवन पर सात्विक 'खीझ' की उनकी कैसी सुन्दर उक्ति है—

मधुवन तुम कत रहत हरे?
विरह-वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?

सूर का विरह-वर्णन गोस्वामीजी के विरह-वर्णन से अधिक व्यापक है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर है जायसी का विरह-वर्णन। इन विरह-वर्णनों में इन कवियों ने अपने हृदय में अनुभव किये हुए दिव्य विरह का थोड़ा-बहुत संकेत किया है। 'कथाच्छलेन' अपनी विरह-कहानी कही है। परन्तु विरह के ऊपर कहानी की चादर पड़ी हुई है। जायसी की चादर औरों की अपेक्षा बहुत ही झीनी है, जिसके भीतर से विरह में तड़पते हुए प्रेमोन्मादपूर्ण भावुक कवि के

विरह-विधुर हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है।

मीरा का विरह-वर्णन, विरह-वर्णन के लिए नहीं है। 'प्रेम लपटे अटपटे' छन्दों में अल्हड़ प्रेम-योगिनी मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हलका किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेम में घायल और घुलते हुए साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का एक उधार लिया हुआ दुःख नहीं है। मीरा अपने ही विरह को, अपने भोले-भाले गीले शब्दों में सुना रही है, उसके हाथ में न गोपियाँ हैं, न सीता, न शकुन्तला, न दमयन्ती, न पद्मावती और न नागमती। मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम। उसमें प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिन्ता ही है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस मुग्धा स्त्री के विरह के समान है जिसका पति एक क्षण स्वप्न में मिलकर, अधरों पर चुम्बन का दाग़ छोड़कर सदा के लिए कभी भी न लौटने के लिए परदेश चला गया हो तथा जिसे अपनी प्रियतमा की सुध लेने की भी सुध नहीं है। जब-जब मेघ घिर आते हैं और रिमझिम बूँदें बरसने लगती हैं तब-तब साजन की सुध हरी हो आती है, ताज़ी हो आती है और हृदय डावाँडोल हो उठता है। फागुन में जब-जब सखियाँ धमाचौकड़ी मचाने लगती हैं, रंगरलियाँ करने लगती हैं, और प्रीतम से मिलने की तैयारी करने लगती हैं, उस समय मीरा के हृदय में अपने 'परदेशी' के लिए एक गहरी व्यथा उभर आती है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है; उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व-समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट जीवन्त उदाहरण है। शब्दों में उस दुःख को नापा नहीं जा सकता, वह केवल अनुभवगम्य है। मीरा के अधिकांश गीत विरह-वेदनात्मक ही हैं। मीरा के विरह-पदों में उसका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

मीरा की विरह-दशा की उद्दीप्ति तीन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुई है। स्वप्न में एक क्षण के लिए मिलकर 'वह' सदा के लिए चला गया और कभी लौटने की कौन कहे, सुध लेने की भी उसने कृपा न की। मीरा के विरह का प्रधान स्वरूप यही है। सावन-भादों के महीने प्रोषित्-पतिकाओं के लिए बड़े ही दाहक तथा विरहोत्तेजक होते हैं। मेघों का गरजना, लरजना, बिजली का कौंधना हृदय को कँपा देता है। मिलन की लालसा उस समय अत्यन्त तीव्र हो जाती है, 'हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै !' उस समय का एकान्त बहुत ही खलता है और प्राणों की विकटतम पीड़ा को बुरी तरह छेड़-कर, उकसाकर, कुरेदकर वह विरहिणी को बेबस और लाचार कर देता है।

मधुमास में—माघ-फागुन के महीने में पति का परदेस रहना तो और भी दुखदायी होता है, विशेषतः जब मलयानिल के झकोर हृदय के तार-तार को

रेशे-रेशे को झकझोर रहे हों और पास की सखियाँ केलि-क्रीड़ा में मदमस्त हों। दूसरों का उल्लास हमारे विषाद को अत्यधिक तीव्र कर देता है। इन्हीं तीन अवस्थाओं में मीरा की विरह-व्यंजना हुई है।

विरहिणी को पति का प्रवास इसलिए अधिक खलता है कि उसकी हम-जोली सखियाँ अपने-अपने पति के साथ रास-रंग में मस्त हैं और वह इस प्रकार अकेले करवट बदलकर, तड़प-तड़पकर रात काट रही है। दिन में तो मन ज्यों-त्यों बहल भी जाता है परन्तु रात तो बस क़यामत की होती है, काटे नहीं कटती—

मैं बिरहिण बैठी जागूँ जगत सब सोवै री आली।
बिरहिन बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।।
इक बिरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै।
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलिके बिछुड़ न पावै।।

मीरा को ऐसा अनुभव हो रहा है कि वह परम प्रियतम 'नेह' लगाकर, हृदय में प्रेम की बाती जलाकर ठीक मिलन-बेला में विरह-समुद्र में छोड़ गया है—

प्रभुजी थे कहा गयो नेहड़ी लगाय।
छोड़ गया विस्वास संघाती प्रेम की बाती बराय।।
विरह-समँद में छोड़ गया हो, नेह की नाव चलाय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम बिन रह्यो न जाय।।

आम की डाल पर, इस विरह की अवस्था में एक कोयल बोलती है और मीरा की सारी वेदना उमड़ आती है—

आँबा की डार कोयल इक बोलै,
मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी।

क्षण-भर के लिए उससे मिलकर मीरा सदा के लिए उससे बिछुड़ गई है। उस मिलन के क्षण में भी वह न भर आँख देख सकी, न उससे जी खोल-कर बातें ही कर सकी—

पाट न खोल्या मुखाँ न बोल्या, साँझ भई परभात।
अबोलणाँ जुग बीतण लागो, तो काहे की कुसलात।।

और अब उसके बिना 'तरस तरस तन जाइ', निस-दिन उसकी बाट जोहती रहती है, दिन में चैन नहीं, रात में नींद नहीं। रात उसके बिना सूनी सेज पर सिसकते-सिसकते बीतती है, काटे नहीं कटती—

खिण मंदिर खिण आंगणे रे खिण खिण ठाढ़ी होइ।
घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री म्हारी विथा न बूझै कोइ।।

पर यह भूल न जाना चाहिए कि प्रेम की यह 'पीर' आनन्दमूलक है एवं आनन्द-विधायक भी है। प्रेमी इसमें से निकलना नहीं चाहता। अश्रुधारा की तह में आनन्द की रेखाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं। विरह में आनन्द लुप्त नहीं हो जाता, केवल 'आवृत' रहता है। मिलन की जो उत्सुकता है, जो मंगलाशा है वह आनन्दमय है और स्वयं प्रेम का बहुत ही निखरा हुआ भाव है।

हृदय की विकलता बढ़ जाती है, 'प्रतीक्षा' तीव्र हो उठती है—

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री।
तलफत तलफत कल ना परत है बिरह बान उर लागी री।।
निस दिन पंथ निहारूँ पिव को पलक न पल भर लागी री।
पीव पीव मैं रटूँ रात-दिन दूजी सुधि बुधि भागी री।।
बिरह भुवंग मेरो डस्यो है कलेजा लहरि हलाहल जागी री।
मेरी आरति मेटि गोसाईं आइ मिलौ मोहि सागी री।
'मीरा' व्याकुल अति अकुलाणी पिया की उमँग अति लागी री।

'विरह भुवंगम' से डसे हुए हृदय की 'कामना' भी तो देखिए। वह तो बस एक बार अपने 'प्राणरमण' को भर आँख देखना ही चाहता है—

पिया म्हारे नैना आगे रह्यो जी।
नैणा आगे रह्यो जी म्हाने भूल मत जाज्यो जी।

मीरा 'परदेशी प्रीतम' को पाती लिखने बैठती है पर लिख नहीं पाती—

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिखही न जाई।
कलम धरत मेरो तन-मन काँपत, हिरदो रहो घर्राई।
बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै झर्राई।
किस बिधि चरण कँवल हौं गहिहौं सबही अंग थर्राई।।

शरीर काँपने लगता है, हृदय घबराने लगता है, बात कहना चाहती है पर कह नहीं पाती। प्रियतम मिलेंगे भी तो वह उनके चरण-कमलों को कैसे गहेगी यह सोच-सोचकर उसके सारे अंग थरथरा उठते हैं।

सबसे बड़ी विपद् तो यह है कि पिय का 'देस' भी जाना हुआ नहीं है—न वहाँ पहुँचने का रास्ता ही मालूम है—यदि आगे बढ़ने को जी चाहता भी है तो फिसलन और निविड़ अंधकार—

गली तो चारों बन्द हुई हरि सूँ मिलूँ कैसे जाय!
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाय।

और प्रेमी की इस बेबसी का हाल कोई क्या जाने, कैसे समझे? घायल की गति कोई घायल ही जानता है अथवा वह जिसने तीर मारा हो। इस

'दर्दये इश्क़' की दवा भी तो बस दीदार ही है। कलेजे की करक को दूसरा भला कैसे समझेगा ?

हे री मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणे की जिन लाई होय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।।
मीरा के प्रभू पीर मिटैगी जब बैद साँवलिया होय।।

भावों को तीव्र करने के लिए तथा अपनी साधना को अटल करने के लिए भक्त लोग भिन्न-भिन्न भावनाओं एवं सम्बन्धों को सामने ला-लाकर भाव-मग्न हुआ करते हैं। मीरा ने अपने विरह की तीव्रता को मीन, चातक, चकोर, पपीहा द्वारा व्यक्त किया है। मछली का जीवन-आधार जल ही है, वह उसके बिना जी ही नहीं सकती—'जैसे जल के सोखे मीन क्या जीवें विचारें।' यही गति पपीहे और चकोर की भी है। उन्हें अपने प्राणधन के अतिरिक्त संसार की कोई भी वस्तु सुख पहुँचा नहीं सकती, तृप्त कर नहीं सकती। मछली, पपीहा और चकोर का प्रेम अनन्य और एकांगी है। जल को मछली के जीने-मरने का खयाल नहीं है। चन्द्रमा को क्या पता कि उसके विरह में चकोर पर कैसी बीत रही है। स्वाति को पपीहे के सुख-दुःख की सुध कहाँ है ? उसी प्रकार उस निर्मोही साँवरे को मीरा की क्या खबर ?

जायसी की भावुकता, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बहुत ही गहरी एवं व्यापक है और उसके लिए प्रकृति के नाना रूप एवं विलास दर्पण मात्र हैं। 'बारहमासे' और 'षड्ऋतु' के वर्णन में प्रकृति के साथ कवि का कितना तादात्म्य झलकता है, अपने अन्तस् के प्रतिविम्ब को प्रकृति में निरखकर जायसी ने कितनी सुन्दर भाव-व्यंजना की है—

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि के डार।।

तथा

पहल पहल तन रूई झाँपै, हहरि हहरि अधिकौ हि ये काँपै।

सूरदासजी का विरह-वर्णन जायसी के समान गम्भीर भले ही न हो परन्तु व्यापक कम नहीं है। पपीहे आदि को गोपियों ने खूब सुनाया है—

हौं तो मोहन के विरह जरी रे! तू कत जारत ?
रे पापी तू पंखि पपीहा! पिउ पिउ पिउ अधि रात पुकारत।

नागमती का रोना सुनकर तो घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों की नींद हराम हो गई है—

तू फिर फिर दाहै सब पाँखी,
केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।

मीरा पपीहे को उपालम्भ देती है—

रे पपइआ प्यारे कब को बैर चितारयो
मैं सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयो।
दध्या ऊपर लूण लगायो हियड़े करवत सारयो।

विरह से तो हृदय यों ही जला हुआ है उस पर पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ' से जले पर और नमक छिड़क रहा है। विरह की अग्नि में जलते हुए हृदय की 'खीझ' देखिए—

पपइया रे पिव की बाणी न बोल।
सुणि पावे जो बिरहिणि रे थारो राखे ली पाँख मरोड़।
चोंच कटाउँ पपइया रे ऊपरि ताकर लूण॥

वही पपीहा 'मिलन' में सुखद हो जाता है, उसकी बोली मीठी लगती है—

थारा सबद सुहावणा रे जो पिव मेला आज।
चोंच मढ़ाउँ थारी सोवनी रे तू सिरताज॥

भक्तवर सूरदासजी ने भी तो 'बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारे' द्वारा, मिलन के सुखद समय में प्रतिकूल का अनुकूल हो जाना माना है और पपीहे को हृदय से आशीर्वाद दिया है। अस्तु—

साजन के बिना एक पल भी जीना कठिन ही नहीं, असम्भव है—

सजन सुध ज्यों जानै त्यों लीजै।
तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै॥
दिवस न भूख रैन नहिं निंदिया यों तनु पल-पल छीजै।
पल-पल भीतर पंथ निहारूँ दरसण म्हाँने दीजै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलि बिछुरन नहिं दीजै॥

कबीरदास भी अपनी विरह-वेदना कुछ ऐसे ही व्यक्त करते हैं—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया तड़प-तड़प के भोर किया।
तन मन मोर रहट अस डोलै सूनि सेज पर जनम छिया॥
नैन थकित भये पंथ न सूझै साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भई साधो हरो पीर दुःख जोर किया॥

तुलसी ने गाया है—

व्याकुल विरह दिवानो, झड़ै नित नैनन पानो।
हरदम पीर दिल की खटकै सुधि बुधि बदन हिरानी॥

नाड़ी बैद बिथा नहिं जानै, क्यों औखद दे आनी।
हिय में दाग जिगर के अन्दर क्या कहि दरद बखानी॥
तुलसी रोग रोगिया बूझै, जिसको पीर पिरानी॥

दादू ने किस उल्लास के साथ अपनी सूनी सेज पर साजन का आवाहन किया है !—

बल्हा सेज हमारी रे तूँ आव, हौं वारी रे, दासी तुम्हारी रे।
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुन्दर सेज सँवारूँ रे, जियरा तुम पर वारूँ रे॥
तेरा अंगना पेखौं रे, तेरा मुखड़ा देखौं रे, तब जीवन लेखौं रे।
मिलि सुखड़ा दीजे रे, यह लाहा लीजे रे, तुम देखै जीजे रे।
तेरे प्रेम का माती रे, तेरे रंगड़े राती रे, दादू वारणे जाती रे॥

प्रकृति का जो अनुपम उल्लासपूर्ण शृंगार है वह 'प्रीतम' के आगमन की तैयारी में है—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।
उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामिणि छोड़ी लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्दु मिलण कै काज॥

सावन-भादों की रात विरहिणियों के लिए मरणान्तक होती है—सूरदास जी ने भी 'पिया बिनु साँपिनि कारी रात' द्वारा वेदना की तीव्रता दिखाई है। रिमझिम बूंदें बरस रही हैं, इधर मीरा रो रही है—

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी।
जित जाऊँ तित पानिहिं पानी हुई सब भोम हरी।
जा का पिव परदेस बसत है भीजै बार खरी।

यह सुहावना सावन पिया के बिना आग की वर्षा करता दीखता है—

मतवारो बादल आयो रे हरि के संदेसो कछु नहिं लायो रे
फूँके काली नाग बिरह की जारी मीरा हरि मन भायो रे

इन्हीं बूँदों से मिलने के समय मीरा धीरे-धीरे बरसने का निहोरा करती है—

मेहा बरसबी करे आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्हीं नान्हीं बूंदें मेघ घन बरसे सूखे सरवर भरे रे॥
बहुत दिना पर प्रीतम पाए बिछुरन को मोहि डरु रे।
मीरा कहे अति नेह जुड़ायो मैं लियो पुरबलो वर रे॥

'पुरवलो वर' के विषय में पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि मीरा पूर्व-जन्म में श्रीकृष्ण की सखी है।

सावन-भादों मे मिलन की उत्सुक वासना होती है, उससे कहीं बढ़कर फागुन में होती है। सारी वसुन्धरा वसन्ती साड़ी पहनकर अपूर्व साज सजाती है और सर्वत्र मिलन का एक अपूर्व वातावरण फैला रहता है। चित्त 'किसी' से मिलने के लिए उत्क्षिप्त हो जाता है, रोम-रोम में मिलन की लालसा जगकर अँगड़ाई लेने लगती है और बेचारे हृदय की अजीब हालत हो जाती है। ऐसे मधुमय समय में जब सभी सखियाँ सोलहों शृंगार सजाकर अपने 'प्रीतम' से मिल रही हैं मीरा का घायल हृदय छटपटा उठता है, उसे 'तालाबेली' लग रही है—

किण संग खेलूँ होरी पिया तजि गये हैं अकेली।
बहुत दिन बीते अजहूँ नहिं आये लग रही तालाबेली।
स्याम बिना जिवड़ो मुरझावै जैसे जल बिन बेली॥

तथा

होली पिया बिनु मोहि न भावै घर अंगणा न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूँ हेली पिय परदेस रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै सुसक सुसक जिय जावै॥

इस प्रकार सावन और फागुन में प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के उद्दीपन में मीरा का प्रेम-विह्वल हृदय विरह के अन्तिम छोर पर पहुँच जाता है और उसके हृदय में भिनी हुई 'हूक' विराट वड़वानल का रूप धारण कर लेती है।

अपने प्राणरमण श्री गिरधारीलाल के बिना मीरा का हृदय रो रहा है। उसका जीवन-धारण ही उसके लिए असह्य हो जाता है। प्रतीक्षा में बैठी मीरा यह आस लगाये हुए है कि अब कोई आकर कह जाए कि तुम्हारे प्राणेश्वर आ रहे हैं—

कोई कहियौ रे प्रभु आवन की।
आवन की मन भावन की॥
आप न आवै लिख नहिं भेजै, बाण पड़ी ललचावन की।
ए दोउ नैन कह्यौ नहिं मानै, नदिया बहै जैसे सावन की॥
कहा करूँ कछु नहिं बस मेरो पाँख नहिं उड़ि जावन की।
मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की॥

कवियों का दुःख बहुधा उधार लिया हुआ होता है। फिर भी वे उसमें अपने हृदय का रस घोलकर उसको अपना बना लेते हैं और पाठकों को रुला तक देते हैं। वे उस परिस्थिति में, जिसमें निर्वासिता सीता, उपेक्षिता शकुन्तला तथा तिरस्कृता पार्वती, विरह-विधुरा पद्मावती एवं नागमती रहती हैं, डालकर अपने को तन्मय, तल्लीन कर देते हैं और इसी हेतु पाठकों पर भी प्रभाव

डालने में सफल होते हैं। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में मनुष्य को कौन कहे, 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'—पत्थर की शिला भी रोने लगती है, वज्र का हृदय टूक-टूक हो जाता है। हाँ, इसमें कवि की सफलता अवश्य समझी जानी चाहिए और वस्तुतः कवि-कर्म है भी यही। मीरा के हाथ में न गोपियाँ ही थीं, न नागमती; न सीता ही थी, न पार्वती ही। मीरा की बात ही दूसरी है। उसका विरही हृदय अपने प्राणनाथ के साक्षात्कार के लिए व्याकुल होकर तड़प रहा है। उसे दुनिया की ओर देखने की न आवश्यकता ही है और न अवकाश ही। हिन्दी साहित्य क्या, विश्व के किसी भी साहित्य में सर्वस्व आत्मसमर्पण का वह दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य, जो मीरा के गीतों में व्यक्त हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। गीतों में उसके हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। उसका 'दर्द-दिवाना दिल' उसके भीतर से स्पष्टतः उन गीतों में लिपटा हुआ प्रतिबिम्बित हो रहा है। मीरा गाती है, क्योंकि वह विरह से बेचैन है। मीरा का दुःख कवि का दुःख नहीं है, वह एक सच्चे प्रेमी का निजी दुःख है। कवि का दुःख प्रायः उधार लिया हुआ होता है, प्रेमी का दुःख सर्वथा अपना होता है, स्वसंवेद्य।

रहस्योन्मुख भावना

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति

श्रुति के इस वचन के अनुसार परमात्मा रस-रूप हैं और उसी को प्राप्त कर मनुष्य सुखी हो सकता है। इसका एक और भी अर्थ है और वह यह कि परमात्मा रसस्वरूप होते हुए भी रस का पिपासु है और उसे यह रस जहाँ मिलता है वह प्रसन्न होता है। उस आनन्दस्वरूप परमात्मा में ही यह समस्त चर-अचर निकला है, उसी में स्थित है और उसी में लीन हो जाता है—'आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दे प्रयन्त्यभिसंविशंति'। अतएव यह सब-कुछ उसी 'एक' का 'चिद्विलास' है। वह अकेले अपने-आप में 'रमण' नहीं कर सकता था, इसी से उस 'एक' से यह 'अनेक' हुआ; कहना तो यों चाहिए कि उसी एक में यह अनेक हुआ—

आत्मैवेदमग्र आसीत्······स वै नैव रेमे।

तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इमवात्मानं द्विधापातयत्।

परमात्मा की प्राप्ति के लिए हमारे हृदय की जो सहज उत्कण्ठा है वह अकारण नहीं है। उसका मूल कारण यह है कि हम जिसमें से निकले हैं उसी में पुनः समा जाना चाहते हैं, अपने मूल स्रोत में लीन होकर एकाकार हो जाना चाहते हैं। परमात्मा और आत्मा का यह अमृतोपम द्वैत केवल आनन्द-विलास के लिए था और इसकी 'समरसता' का आस्वादन सख्य और मधुर दोनों भावों द्वारा किया जा सकता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनः॥

परन्तु सख्य भाव में वह समरसता पूरी-पूरी नहीं ही पाई, द्वैत पूरा-पूरा अद्वैत नहीं हो पाया, दूरी कुछ-न-कुछ बनी ही रही, चाहे वह सुहृद् हो, चाहे सखा या प्रिय नरम सखा। इसीलिए हृदय की भूख-प्यास पूरी तरह बुझ सके (या और अधिकाधिक धधक जाए?) इसीलिए दाम्पत्य रति का मधुर या उज्ज्वल रस ही सर्वोपरि माना गया, जिसमें आत्मा-परमात्मा की 'प्रणयिनी' होकर अन्तर और बाहर की सारी संज्ञाओं से शून्य होकर सर्वांगता तल्लीन हो जाए। इसीलिए श्रुति कहती है—

'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्य किंचन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्माना संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नान्तरम् (बृ० ४-३-२१) उपमन्त्रयते स हिंकारो क्षपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते।

यही है आत्मरति, आत्मक्रीड़ा, आत्ममिथुन, आत्मानन्द। आत्मा और परमात्मा के इस मधुर सम्बन्ध की जहाँ भी संकेततः विवृति होती है उसी को 'रहस्यवाद' कहा जाता है।

मीरा का प्रेम, जैसा हम पहले कह आये हैं, 'माधुर्य भाव' का है, जिसमें भगवान् की प्रियतम के रूप में उपासना की जाती है। भक्ति प्रेम में लय हो जाती है और भक्त परमात्मा को अपना पति मानकर उसके चरणों में अपने को निछावर कर देता है। पत्नी पति की इच्छा में अपनी इच्छा, पति के सुख में अपना सुख और पति के प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है। क्षणमात्र के विस्मरण से वह परम व्याकुल हो जाती है—'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता'। हिन्दी में इस रहस्यवाद का पूर्ण विकास सूफी कवियों में ही हुआ, जहाँ भगवान् की प्रियतमा के रूप में उपासना की जाती है। कबीर में भी यत्र-तत्र जो उत्कृष्ट रहस्यवाद मिलता है वह माधुर्य भाव से ओतप्रोत है। सूफी सन्तों ने अपने परम भावुक हृदय के विस्तार में 'परम रूप' की 'परछाँही' समस्त चर-अचर में, अणु-अणु में, देखी और उसमें अपनी निजी सत्ता को खो दिया।

देखेउँ परम हंस परिछाँही,
नयन जोति सो बिछुरत नाँही।

सूफियों ने समस्त चराचर में बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता को उसी परम रूप में संबद्ध देखा और सभी 'बुत' में 'जल्वए खुदा' का साक्षात्कार किया। उनका समाज मूर्तिपूजा अथवा किसी भी प्रतीकोपासना के विरुद्ध था। फिर भी, एकेश्वरवाद के उस सुदृढ़ बन्धन के भीतर से विशुद्ध अद्वैतवाद बहुत ही निखरे हुए रूप में प्रकट हुआ और हल्लाज मंसूर 'हक हक अनल हक, हक हक अनल हक' कहते-कहते फाँसी पर लटक गया।[१] सूफियों के अद्वैतवाद और शंकर के मायावाद में मूलतः भेद यह है कि सूफियों की भावना प्रेम-मूलक, अनुभूति-प्रसूत थी और वे अपनी निजी सत्ता को उस परम सत्ता में, जो समस्त चराचर को बेधती हुई चली गई है, लय कर देते थे। वेदान्त का अद्वैत ज्ञान-मूलक अथच चिन्तन-प्रसूत है, सूफियों का अद्वैत प्रेम मूलक अतएव भावना-प्रसूत है।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कबीर की दृष्टि जायसी की भाँति व्यापक न थी और न इतनी रसग्राहिणी ही थी। 'हरि मोर पिउ मैं

१. देखिये निकल्सन का 'Mystics of Islam', पृ० १३६।

हरि की बहुरिया' में बहुत ही सुन्दर भाव-व्यंजना है, पर कबीर व्यक्त उपासना के परम विरोधी थे और निर्गुण सन्तों ने अवतार का घोर विरोध भी किया। इस हेतु यद्यपि इनमें परम भाव की झलक, व्यक्त और अव्यक्त रूप में, सर्वदा विद्यमान है, फिर भी आश्रय एवं आवलम्न की ठीक-ठीक व्यवस्था न होने के कारण भक्ति-रस की पूर्णतः निष्पत्ति न हो पाई। कबीर का लक्ष्य हृदय बेधने का न रहा। वे मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति जगाकर हमें 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का संदेशमात्र देकर सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने झकझोरकर हमें जगा ही दिया।

'सुधार' का मर्ज़ उन्हें बुरी तरह लगा रहा। सचमुच समाज उस समय इतना जर्जर और पाषण्डोपासक हो भी गया था कि अवश्य ही कबीरा जैसे झाड़-फटकार वाले निर्भय 'सुधारक' की आवश्यकता थी। परन्तु नारियल की तरह, इस कठोरता के अन्दर कबीर का हृदय रस से लबालब भरा था। मस्तिष्क में ज्ञान का प्रखर प्रकाश, हृदय में भक्ति और प्रेम का अमृत सरोवर—यह है कबीर का सही रूप। जो लोग 'झाड़-फटकार' से ही भाग खड़े हुए उन्हें कबीर के हृदय का अमृत रस नसीब नहीं हुआ—

भींजै चुनरिया प्रेमरस बूँदन।
आरत साज के चली है सुहागिन पिय अपने को ढूँढ़न।

मीरा अपने हृदय के अन्दर बसने वाले 'पिया' के प्रेम में इतनी पगी हुई है कि वह 'उन' के साथ 'झिरमिट' खेलने जाती है और वहाँ 'वह' उसकी 'गाँती' खोलकर उसे हृदय से लगा लेता है। यदि 'वह' कहीं परदेश हो तो पाती भी भेजी जाए पर जो हृदय के हृदय में बस रहा है, उसे क्या लिखना? उसके पास क्या आना क्या जाना? मीरा की यह सर्वथा एकान्त प्रणयरति है, प्राणों का प्राणेश्वर के साथ रमण है (आत्मा-परमात्मा की चर्चा से यहाँ रसभंग हो जाएगा; यह जैसा है उसे उसी रूप में ग्रहण कीजिए)। भगवान् के साथ भक्त के इस एकान्त प्रणय-सम्बन्ध में कहीं किसी प्रकार का छिपाव नहीं रहता, कोई वस्तु अदेय नहीं रह जाती। भागवद्विषयक राग में किसी प्रकार की सीमा या बन्धन है ही नहीं।

मीरा न तो कबीर की भाँति ज्ञानी ही थी, न जायसी की तरह कवि ही। वह एकमात्र प्रेम की पुजारिन थी। मीरा की प्रेमानुभूति जायसी की भाँति व्यापक भले ही न हो, परन्तु गहरी कम न थी। सावन के रिमझिम में जब मेघ घिर आते हैं, आँगन में पानी-ही-पानी हो जाता है, बिजली कड़कने लगती है और फुहियाँ बरसने लगती हैं; उस समय उस 'न मिलनेवाले' के लिए, उस 'ना, ना की मधुर मूर्ति' के लिए हृदय में बेकली का भयंकर दावानल धायँ-धायँ करने लगता है। लू से तपी हुई पृथ्वी पर बूँदें बरसाकर 'उस' ने

आर्द्रता एवं शीलता का संचार कर दिया है। हरियाली उग आई है परन्तु विरहिणी के अन्तस् का ताप, हृदय की व्यथा ज्यों-की-त्यों है, बल्कि और भी उभर आई है—

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी।
काली पीली घटा ऊमड़ी, बरसी एक घरी॥
जित जाऊँ तित पाणी पाणी हुई भोम हरी।
जाका पिव परदेस बसत है भीजूँ बाहर खरी॥

दादुर, मोर, पपीहे की बोली उद्दीपन विभाव है और हृदय में इस कारण कसक उठती है; ऐसा भान होने लगता है कि स्वयं 'महाराज' ही आ रहे हैं। मीरा अपने महल पर चढ़कर 'उन' के आगमन की तीव्र प्रतीक्षा करने लगती है। मोर और पपीहे की बोली से हृदय में जो 'उत्सुकता' जग उठी है उसमें पिया के आने की आवाज़ स्पष्टतः सुन पड़ती है—

सुनि हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैलाँ चढ़ँ चढ़ जोऊँ मेरी सजनी कब आवै महाराज॥

सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा में साज सजा रही है। इस महामिलन के मंगल-सूचक कोयल, मोर और पपीहा अपनी तान छेड़े हुए हैं। चारों ओर रिमझिम बूँदें बरस रही हैं; दामिनी भी अपनी लज्जा छोड़कर अपने प्राणेश घनश्याम से मिल रही है। अपने पति से मिलने के लिए पृथ्वी ने भी नई हरी साड़ी पहन ली है। ऐसे समय जब सारा चराचर मिलन के रस में सराबोर हो रहा है मीरा को प्राणवल्लभ का वियोग बहुत ही खल रहा है। उसे यह आशा दृढ़ हो जाती है कि हृदयधन के अब दर्शन हुए ही चाहते हैं—प्रेम की इसी वर्षा में कबीर भी भीग रहे हैं—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भींगी आतमा, हरी भरी बनराइ॥

उस 'निष्ठुर' के लिए सारी रात 'जगकर विहान' किया, फिर भी 'वह' न लौटा—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण विहानी हो।
बिन देख्या कल नांहि परत जिय, ऐसी ठानी हो॥
अंगि-अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर-वेदन बिरह की वह पीड़ न जानी हो॥
ज्यों चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो।
'मीरा' व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसरानी हो॥

उस विरहिणी मीरा की 'प्रतीक्षा' और भी तीव्र हो जाती है। 'उस' की

स्मृति में वेदना का आनन्द घुला है। प्रसाद के शब्दों मे—

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुःख दोनों ही ऐसे,
चंद्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुज में जैसे

मधुमास मे जबकि सर्वत्र आनन्द लहलहा रहा है, लतावल्लरियाँ फूलों के भार से झुक गई है, अमराइयों में से मंजरी की महँ-महँ आकर हृदय की कली को खिला जाती है और मलयानिल के झोंके से सर्वत्र उन्माद उमड़ा फिरता है, एक अनिर्वचनीय आनन्द चर-अचर के प्राण-प्राण मे भर जाता है, मानो 'किसी' के साथ मिलने की, किसी का अंग-संग प्राप्त करने की आकांक्षा से समस्त चित्र उत्क्षिप्त हो उठता है। प्रेमिका की चित्त-कलियाँ 'किसी' के संकेत से विकसित हो उठती है, 'कोई' मानो उसका बिलकुल अपना-सा है जिसे पाने के लिए चित्त उन्मत्त-सा हो उठता है, ऐसे समय में मीरा के हृदय का 'सूनापन' और भी बढ़ जाता है।

'सूनो गाँव देश सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी बिरहिन पिव बिन डोलै तज गई पिव पियारी॥
देस बिदेस संदेस न पहुँचै हो अंदेसा भारी।
गिणता गिणता घिस गई रेखा अंगरिया की सारी॥

बुल्ला साहब ने भी इसी प्रकार गाया है—

देखो पिया काली सो पै भारी।
सुन्नि सेज भयावन लागी मरौं विरह की जारी॥
प्रेम प्रीति वह रीति चरज संगु पल छिन नाहिं बिसारी।
चितवत पंथ अंत नहिं पायो, जन बुल्ला बलिहारी॥

ऐसा जान पड़ता है कि मानो एक क्षण के लिए मिलकर मीरा सदा के लिए अपने प्राणाधार से बिछुड़ गई है। एक बार, बस एक बार, कभी मीरा के हृदय ने उस 'निर्मोही' के आलिंगन का, अधरों ने उसके चुम्बन का रस पाया है, उस 'एक क्षण' की स्मृति ही मीरा की वेदना को उत्तप्त और उसके विरह को उद्दीप्त किए रखती है। मिलन तो दूर रहा, अब तो क्षणमात्र दर्शन भी दुर्लभ है—

गली तो चारों बन्द हुई मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय।
ऊँची-नीची राह रपटीली, पावँ नहीं ठहराय॥
ऊँचा-नीचा महल पिया का मो पै चढ्या न जाय।
पिया दूर पंथ म्हारो झीणो सुरत झकोला खाय॥

एक बार प्रेम का आस्वादन कराकर 'वह' चला गया और हृदय को

बिरह की आँच में भस्म होते देखकर भी उसे दया नहीं आती ?

मीन जल के बिछुरे तन, तलफि के मरि जाय ।

प्रेमी की स्थिति का अवलम्ब, जीवन का एकमात्र आधार उसका प्रेम ही है, उसके बिना मीरा का जीवन ही असम्भव है, मछली पानी के बाहर कैसे जी सकती है ? कबीर कहते हैं—

आइ न सकौं तुझ पै, सकूँ न तोहि बुलाइ ।
जियरा यौं ही लेहुँगे, बिरह तपाइ तपाइ ।।

तथा

आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाय ।

विरह का यह दुःख (इसे 'दुःख' भी तो नहीं कह सकते) दुनिया नहीं समझ पाती— 'घायल की गति घायल जानै, या जिहि पीर लगाई हो ।' कबीर भी यही अनुभव करते हैं—

चोट सताणी बिरह की सब तन जर-जर होय ।
मारणहारा जाणि है, कि जिहि लागी होय ।।

जायसी की भाँति मीरा में भी बारहमासे का एक वर्णन मिलता है परन्तु उसमें न तो जायसी की भाँति व्यापकता ही है, न हृदय की उतनी निगूढ़ अनुभूतिमूलक भावना ही । वह वर्णन बहुत ही चलता हो गया है । प्रकृति के इस अनुपम साज-शृंगार के भीतर मीरा के दिन 'काग उड़ाते कब तक बीतेंगे' इसी का बार-बार संकेत है । मीरा की दृष्टि प्रकृति की सुषमाओं पर बहुत ही कम गई है, जो गई भी वह केवल हृदय की वेदना को उभारने वाली वस्तुओं एवं दृश्यों पर ही । स्त्रियों का हृदय, अब भी गाँवों में देखा जाता है, अपनी भाव-प्रवणता में प्रकृति की सभी लीलाओं में पूर्णतः रम जाता है । परन्तु यह रमना कवियों का रमना न होकर प्रेमिकाओं का अपने प्रोषित पति के आगमन एवं मिलन के उद्दीपन रूप में मिलना होता है । पति के नाते ही सब-कुछ सुहावना लगता है । जाँत के गीतों में अब भी वही सहज आनन्द छलका पड़ता है ।

मीरा के गीतों में, जैसा हम दिखाते आए है, स्थान-स्थान पर योगियों की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है । सगुण भक्ति के साथ योग का यह बेमेल मिश्रण विचित्र और अटपटा-सा लगता है । ऐसा लगता है कि ध्यान की प्रगाढ़ावस्था में मीरा ने उस आनन्दपूर्ण अवस्था का अवश्य ही अनुभव किया था जिसे योगी लोग लय या 'उन्मनी' अवस्था कहते हैं । यही 'फ़ना' की भी अवस्था है । यह सच है कि योग की कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही मीरा ने ये गीत लिखे होंगे, क्योंकि उसमें योगियों की सम्पूर्ण साधना-पद्धति का सुव्यवस्थित रूप नहीं मिलता और न इसमें मूलाधार,

स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा—इन छः चक्रों के भेदन द्वारा उद्बुद्ध कुंडलिनी शक्ति के प्रवाह को ब्रह्मरंध्र या सहस्रार में प्रवेश करने की रहस्यमयी कृच्छ्, साधना का कुछ भी ज्ञान झलकता है। हाँ, अलबत्त, उस परम आनन्दमयी अवस्था का वर्णन मिलता है जिसे योगी सहजावस्था या सहज समाधि की अवस्था कहते हैं।

मीरा का वह 'अगम देश' बहुत ही मोहक है, जहाँ 'भरा प्रेम का हौज हंसा केलि करै'। उस 'सुन्न महल' की, जहाँ 'प्रीतम की अटारी' बिछी हुई है, एक झाँकी लीजिये—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली॥
बाजूबंद कडूला सोहै माँग सेंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली।
सेज सुखमणाँ मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी॥

तथा

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री॥

इस 'सुन्न महल' में साजन की सेज पर पौढ़ने के लिए मीरा पाँवों में घुंघरू बाँधकर, माँग में सिंदूर लगाकर, आँखों में अंजन सार कर तथा हाथ में आरती का थाल लेकर नव-वधू के वेश में प्रवेश करती है—

या तन का दिवना करौं मनसा करौं बाती हो।
तेल भरावौं प्रेम का बारों सारी राती हो॥

रोम-रोम में मिलन की उत्कण्ठा जग रही है—

बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।
बिन सुर राग छतीसूं गावे रोम-रोम रंग सार रे॥

फिर तो सभी कुछ, सारे कर्म, सभी व्यापार श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, साधना का अविच्छिन्न, अक्षुण्ण प्रवाह चलता रहता है—

जहँ जहँ पावँ धरूँ धरणी पर तहँ-तहँ निरत करूँ री।

कबीर की 'सहज समाधि' से इसे मिलाइए—

जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोंवो तब करों दंडवत पूजों और न देवा॥
कहों सो नाम सुनों सो सुमिरन खाँव पियों सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखों दूजा॥
आँख न मूंदों, कान न रूंधों तनिक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहचानों हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारों॥

इसमें स्वामी शंकराचार्य की 'मानस-पूजा' का वह श्लोक सहज ही समाया हुआ है—

आत्मा त्व गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारपदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वां गिराः,
यत् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।।

कहीं-कहीं अद्वैत की बहुत सुन्दर व्यंजना है—

तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा ।

यह भूल न जाना चाहिए कि यह भावाद्वैत की आनन्दावस्था है जिसमें भक्त और भगवान् का पूर्ण मिलन है । उपनिषदों के 'तस्यैव भासा सर्वमिद विभाति' आदि वचनों का भी कुछ आभास उपर्युक्त पद से मिलता है, साथ ही-साथ रैदासजी का 'प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग-अंग बास समानी'—वाला पद भी स्मरण हो आता है । 'जित देखूं तित पानीहि पानी' से तो कबीर के निम्नलिखित पद का भाव बहुत मिलता-जुलता है—

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।।

तथा

नयनन की कर कोठरी,
पुतरी पलंग बिछाय ।
पलकन की चिक डारिके,
पिय को लीन्ह रिझाय ।।

'इच्छा' भी तो केवल भर-आँख देखने की ही है—

म्हाने चाकर राखो जी ।
चाकर रहसूं बाग लगासूं नित उठ दरसण पासूं ।

'साहचर्य' की इस उत्कट इच्छा के साथ दृढ़ 'विश्वास' भी है—

मीरा के प्रभु गहिर गभीरा हृदय धरो जो धीरा ।
आधी रात प्रभु दरसण दैहैं प्रेम नदी के तीरा ।।

जो रात-दिन हमारे भीतर बस रहा है 'उसे' खोजने बाहर क्यों जाएँ ?

जाका पिव परदेस बसत है लिख-लिख भेजत पाती ।
मेरा पीय मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती न जाती ।।[1]

---

१. कवीन्द्र रवीन्द्र की 'साधना' में कितना अधिक भाव-साम्य है—

'Where can I meet Thee unless in this my home made Thine. Where can I join Thee unless in this my work trans-

कबीर के शब्दों में—

प्रीतम को पतिया लिखूँ जो कहुँ होय विदेस।
तन में मन में नैन में ताकौ कहा सन्देश॥

मीरा का प्रेम व्यापक (extensive) न होकर तीव्र (intensive) ही है; उसके प्रेम का मिलन और विरह पति के लिए पत्नी के हृदय का प्रेममय मिलन और विरह है। इस मधुर दाम्पत्य रति में मीरा डूब गई।

---

formed into Thy work. If I leave my home, I shall not reach Thine. If I cease my work, can never join thee in Thy work. For thou dwellest in me and I in Thee. Thou without me or I without Thee are nothing.'

मीरा और अन्य प्रेमी कवि

मुक्तक और प्रबन्ध के प्रतिबन्ध को हटाकर काव्य की स्वच्छ, मधुर आत्मा के दर्शन करनेवाले रसज्ञ समालोचक 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द', 'रसात्मक वाक्य' आदि सभी काव्य-परिभाषाओं में अव्याप्ति-दोष पाते हैं। जो हमारे मनोरोगों को उत्तेजित एवं अनुरंजित कर भावयोग द्वारा हमारे हृदय को अपने रंग में रंग सके वही सच्चा काव्य है। काव्य हृदय के निर्भर से निकलकर हृदय के सागर में प्रवेश कर जाता है। यहाँ साधन और साध्य दोनों ही हृदय है। रस काव्य की आत्मा है—इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए यदि देखा जाए तो मीरा संसार के कुछ इने-गिने कवियों में आ जाती है और उन सभी में मीरा का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

जिस किसी कवि से मीरा की तुलना करना मीरा के दिव्य प्रेम-काव्य का अनादर करना है। मीरा का काव्य हृदय की निगूढ़ वेदना से प्रसूत है। मीरा विरह की गायिका है और इसमें रंचमात्र भी शंका के लिए स्थान नहीं है कि अपने क्षेत्र में, उस क्षेत्र को आज के समालोचक बहुत ही सीमित या संकुचित क्यों न कहें, मीरा सर्वश्रेष्ठ है।

हिन्दी-कवियों में मीरा के सबसे निकट आने वाले बस दो-तीन ही हैं—वे हैं जायसी, घनानन्द और महादेवी। जायसी और मीरा की 'परम भावना' सर्वथा एक ही है। सूफियों का 'मार्फत', वैष्णवों का 'आत्म-निवेदन' एक ही है। सूफियों में भी, यदि इस्लाम के पर्दे को हटाकर देखा जाय तो, प्रतीकोपासना, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही सही, विद्यमान थी। उन्होंने भी परमात्मा को प्रियतम माना और वैष्णव धर्म के माधुर्य भाव में भी परमात्मा को पति माना गया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि नौ विभेद सूफियों में भी शरीअत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि भिन्न नामों से विद्यमान हैं। दोनों में अन्तःकरण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को ही प्रधानता दी जाती है। दोनों ने परमात्मा की सत्ता का सार प्रेम ही माना है। उनका 'हलूल' और हमारा 'वासुदेवः सर्वमिति' एक ही है। आत्म-समर्पण को ही दोनों ने स्वीकार किया है। 'ख़ुदा के नूर को हुस्ने बुताँ के परदे में' देखने वाले 'सर्वभूतमयं हरिं' तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' से सिद्धान्ततः कोई अन्तर

नहीं। जायसी कहते हैं—

पिउ से कहेउ सँदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग॥

मीरा कहती है—

काटि कलेजा मैं धरूँ रे कौआ तू ले जाय।
ज्यां देसाँ म्हारो पीव बसत रे वे देखत तू खाय॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान सम्पत्ति है, जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त हो नहीं सकता और न उसके हृदय की आँखें ही खुल सकती हैं। जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा का आभास अनेक रूपों में मिलने लगता है। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। यह भाव प्रेममार्गी सूफी कवियों में, सब के सब में, समान रूप से पाया जाता है। जायसी अपने समय के एक सिद्ध फकीर थे और इनका 'पद्मावत' प्रेम-गाथा की परम्परा में सबसे प्रसिद्ध, प्रौढ़ और सरस कृति है।

जायसी और मीरा दोनों के काव्य का विषय है 'प्रेम की पीर'। पर मीरा का प्रेम अपने ही भीतर घुलने वाला है, जायसी का प्रेम विश्व को अपने रंग में घुलानेवाला। जिस पथ से 'प्रीतम' का आगमन होगा उसे मीरा और जायसी दोनों ने पलकों से बुहारा है। जायसी और मीरा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है; मीरा में प्रेम-पात्र का मनोहारी रूप और उसकी रसासक्ति कुछ विशेष परिलक्षित हो रही है, जायसी में अत्यन्त सूक्ष्म।

अन्य प्रेममार्गी सूफी कवियों की तरह जायसी ने भी अपनी पूरी कथा कह लेने के बाद उसे अन्योक्ति या रूपक द्वारा साधक की कठिनाइयों, साधना-पथ के विवरण और अन्त में मिलन-सिद्धि का संकेत कर दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सूआ जेह पंथ देखावा बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू माया अलाउदीं सुलतानू॥

पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को लोकोत्तर सौन्दर्य और आनन्द की भावना में मग्न करने वाला है—

सरवर तीर पदुमिनी आई, खोंपा छोर केस मुकलाइ।
ससिमुख अंग मलयगिरि बासा, नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥
ओनइ घटा परी जग छाँहा, ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा, मेघ घटा महँ चंद देखावा॥

पद्मिनी का रूप वर्णन करते समय कवि उसकी वरुणी के बाण से सारे संसार को बिंधा देख रहा है और उसी की विरह-वेदना में सारी सृष्टि व्याकुल तड़प रही है—'बेधि रहा सगरौ संसारा'। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा और जायसी विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम—वह सर्वथा अन्तर्मुखी है, अपने ही भीतर घुलने-घुलाने वाला है। 'बारहमासे' में मीरा की दृष्टि विरह में जलते-तपते बाह्य पदार्थों पर गई है अवश्य, पर उन पर दृष्टि ठहरी नहीं, वह पुनः अपने अन्दर लौट आती है। मीरा के काव्य में प्राकृतिक वर्णन नहीं हैं, मानव-प्रकृति के नाना रूप और विलास की अभिव्यंजना उसमें नहीं मिलती—मीरा का सारा काव्य एक 'क्षण' की एक घटना के प्रभाव में डूब गया है—और वह घटना है मिलकर, क्षण-भर के लिए मिलकर, चिरकाल के लिए बिछुड़ जाने की। जायसी अपने विरह में समस्त प्रकृति को रंग डालते हैं, परन्तु मीरा को अपने से बाहर देखने का अवकाश ही कहाँ है ?—मीरा का काव्य एक 'भुक्तभोगी' की विरह-व्यथा से ओत-प्रोत है। जायसी में कथा-विस्तार के अन्दर विरह की धारा प्रवाहित होती चलती है; समतल पर गंगा की धारा की तरह। पर मीरा में तो विरह का प्रखर प्रवाह गोमुख से फूट पड़ने वाली गंगा की अजस्र-प्रखरतम धारा की भाँति उद्दाम वेग से बहती और बहाती चल रही है। मीरा में लोकाचार, पता नहीं कहाँ स्वतः बह गया। जायसी तथा मीरा—इन दोनों के ही काव्य में भगवान् के विरह में जीवात्मा की तड़पन का बड़ा ही सजीव वर्णन है। मीरा का भावविन्यास पूर्णतः 'आत्मगत' है जायसी का लोक-व्याप्त। परन्तु दोनों की ही प्रेम-साधना लोक-बाह्य थी, उसमें लोकशास्त्र का विचार न था; प्रेम के प्रखर प्रवाह में लोक और वेद बह गए, लोकलाज और कुलकानि बिसर गई, पथ-अपथ का डर छूट गया। अनन्य प्रेम और अवधिहीन विरह है मीरा और जायसी के काव्य का प्राण।

मधुर भाव की उपासना में, आत्मगत विरह-वेदना की निश्छल विवृति में कबीर मीरा के बहुत ही निकट आते हैं। कबीर और मीरा—इन दोनों के काव्य का आधार है—इनका सर्वथा निजी अनुभव। प्रेम के क्षेत्र में साकार और निराकार का बखेड़ा खड़ा नहीं हो सकता। प्रेम के सामने साकार इतना व्यापक हो जाता है कि वह प्रायः निराकार ही हो जाता है और निराकार इतना प्रगाढ़ और मूर्तिमान हो उठता है कि वह साकार हो जाता है। सर इक़बाल ने इस विषय पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में अपने 'हृदय की बात' कही है—

कभी ऐ हकीकते मुन्तजर

नजर आ लिबासे मजाज में।

कि हजारों सिज्दे तड़प रहे हैं
मेरी जबीने नयाज में ।।
मैं जो सर बसिज्दा हुआ कभी
तो हरम से आने लगी सदा ।
तेरा दिल तो है सनम आशना
तुझे क्या मिलेगा नमाज में ।।

हाँ, तो, कबीर के काव्य में नाथ-पंथ, सूफी मतवाद तथा वैष्णव धर्म का अपूर्व और विलक्षण सम्मिश्रण मिलता है, पर मुख्यतः उनकी साधना वैष्णव धर्म की ही है। मीरा में भी, नाममात्र का ही सही, नाथ-पंथ और सूफी साधना का प्रभाव स्पष्ट है, हालाँकि वह सब-का-सब वैष्णव धर्म की मधुर रति में सराबोर है। कबीर के काव्य पर से बाहर का कठोर छिलका छिछोह दिया जाए तो उसके भीतर से कबीर के कोमल एवं भावुक हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनी जा सकती है। अधिकांश व्यक्ति कबीर के काव्य की बाहरी रुक्षता और ऊबड़-खाबड़ ढंग को देखकर भाग खड़े होते हैं और उन्हें नितान्त निराशा ही हाथ आती है। अस्तु, कबीर और मीरा दोनों का काव्य आत्मगत (Personal या Subjectiee) है। भगवान् के साथ मिलन का आनन्दोल्लास तथा भगवान् के विरह में तड़पने का जहाँ वर्णन है वहाँ मीरा और कबीर एक हैं, सर्वथा एक हैं। यह सच है कि मिलन की घड़ी में जहाँ कबीर का आनन्द छलक पड़ा है वहाँ मीरा की सजीली अभिव्यक्ति लज्जा की चादर ओढ़े हुए मूक-सी रह जाती है। कबीर के काव्य में पुरुष स्पष्ट है—मिलन में भी, विरह में भी। मीरा में वेदना की विवृति तो पूरी-पूरी मिलती है परन्तु मिलन के क्षण में मीरा एक सती-साध्वी पत्नी की तरह चुपचाप आनन्द के रस में छकी हुई है, अधरों पर मन्द-मन्द मुसकान, आँखों में आनन्दोल्लास की हल्की लहर, अंग-अंग में प्राणप्रिय से मिलन की सिहरन—पर यह सब अपने-आप में ही खोई-खोई, अपने में ही समायी हुई है।

'सांई का प्रेम संत का सौदा नहीं है, वह मुफ्त की बातों से नहीं मिलता। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता है'—इसे मीरा और कबीर दोनों स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि यहाँ वही प्रवेश कर सकता है जो सिर उतारकर धरती पर रख दे। कायर की दाल यहाँ नहीं गलने की। बातूनी इश्क़ बेकार है। पतिव्रता स्त्री ही भक्त की तुलना में आ सकती है। कबीर और मीरा इन दोनों का प्रेम एक सच्ची पतिव्रता का प्रेम है और दोनों की ही यह समान प्रार्थना है—

नैना अंतर आव तूं नैन झाँपि तोहि लेउं।
ना मैं देखौं और को ना तोहि देखन देउं ।।

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मोर।।

मेरे एक मित्र अन्तिम पद के 'क्या लागै है मोर' को 'मन हरखत है मोर' कहा करते हैं और कहते हैं कि 'क्या लागै है मोर में थोड़ी-सी उदासीनता है।

मीरा ने अपने को भगवान् की चेरी, जनम-जनम की दासी आदि कहा है। कबीर तो अपने को 'राम की कुतिया' कहते हैं, नाम 'मुतिया' है। गले में राम की जेवड़ी पड़ी हुई है। 'वह' जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाती है। भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, जो दे दे वही खा लेना उत्तम है। मीरा भी यही कहती है—

रैण दिणा वाकै संग खेलूं ज्यूं-त्यूं वाहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
जित बैठावै तितही बैठूं बेचै तो बिक जाऊँ।

आत्मसमर्पण का आनन्द और उसका निराला सौन्दर्य मीरा और कबीर के काव्य में ओतप्रोत है। प्रेम की विभिन्न दशाओं की गहरी अनुभूति इन दोनों को है। अपने-आप पर प्रेम की चोट खाकर, प्रेम के बाण से बिंधकर हृदय में उस तीर को छिपाये ये दोनों दीवाने पागल की तरह, घायल की तरह घूमते फिरे और इनकी व्यथा को कोई क्या बूझे ?

मन परतीति न प्रेमरस, ना इस तन में ढंग।
ना जाणौं उस पीव सूँ कैसी रहसी रंग।

मीरा कहती है—मैं जाण्यों नहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री।
आये मेरे सजना, फिर गये अंगना, मैं अभागण ही सोइ री।।

मीरा और कबीर इसी अंदेसे में हैं कि उनका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाए। ये साँईं के प्रेम की चोट खाये हुए, भीतर-बाहर उसके रंग में रंगे हुए हैं। प्रेम की भूख से व्याकुल वह प्रियतम प्रेम-भिखारी साँईं राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है। जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं, वे लोग इस रंग की लीला को अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते हैं। उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है जैसे प्रियतम ने एक छेड़खानी करके ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीर को वेध डालती है। इसकी कोई औषध नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया। एक बार चोट लगने पर अपने को सँभाल रखना कठिन है। साँईं के इस रंग का चोट खाया हुआ मनुष्य घायल की हालत में पागल-सा घूमता फिरता है और उसकी व्यथा को

कि हजारों सिज्दे तड़प रहे हैं
मेरी जबीने नयाज में ।।
मैं जो सर बसिज्दा हुआ कभी
तो हरम से आने लगी सदा ।
तेरा दिल तो है सनम आशना
तुझे क्या मिलेगा नमाज में ।।

हाँ, तो, कबीर के काव्य में नाथ-पंथ, सूफी मतवाद तथा वैष्णव धर्म का अपूर्व और विलक्षण सम्मिश्रण मिलता है, पर मुख्यतः उनकी साधना वैष्णव धर्म की ही है। मीरा में भी, नाममात्र का ही सही, नाथ-पंथ और सूफी साधना का प्रभाव स्पष्ट है, हालाँकि वह सब-का-सब वैष्णव धर्म की मधुर रति में सराबोर है। कबीर के काव्य पर से बाहर का कठोर छिलका छिछोह दिया जाए तो उसके भीतर से कबीर के कोमल एवं भावुक हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनी जा सकती है। अधिकांश व्यक्ति कबीर के काव्य की बाहरी रुक्षता और ऊबड़-खाबड़ ढंग को देखकर भाग खड़े होते हैं और उन्हें नितान्त निराशा ही हाथ आती है। अस्तु, कबीर और मीरा दोनों का काव्य आत्मगत (Personal या Subjectie) है। भगवान् के साथ मिलन का आनन्दोल्लास तथा भगवान् के विरह में तड़पने का जहाँ वर्णन है वहाँ मीरा और कबीर एक हैं, सर्वथा एक हैं। यह सच है कि मिलन की घड़ी में जहाँ कबीर का आनन्द छलक पड़ा है वहाँ मीरा की सजीली अभिव्यक्ति लज्जा की चादर ओढ़े हुए मूक-सी रह जाती है। कबीर के काव्य में पुरुष स्पष्ट है—मिलन में भी, विरह में भी। मीरा में वेदना की विवृति तो पूरी-पूरी मिलती है परन्तु मिलन के क्षण में मीरा एक सती-साध्वी पत्नी की तरह चुपचाप आनन्द के रस में छकी हुई है, अधरों पर मन्द-मन्द मुसकान, आँखों में आनन्दोल्लास की हल्की लहर, अंग-अंग में प्राणप्रिय से मिलन की सिहरन—पर यह सब अपने-आप में ही खोई-खोई, अपने में ही समायी हुई है।

'सांई का प्रेम सेंत का सौदा नहीं है, वह मुफ्त की बातों से नहीं मिलता। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता है'—इसे मीरा और कबीर दोनों स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि यहाँ वही प्रवेश कर सकता है जो सिर उतारकर धरती पर रख दे। कायर की दाल यहाँ नहीं गलने की। बातूनी इश्क़ बेकार है। पतिव्रता स्त्री ही भक्त की तुलना में आ सकती है। कबीर और मीरा इन दोनों का प्रेम एक सच्ची पतिव्रता का प्रेम है और दोनों की ही यह समान प्रार्थना है—

नैना अंतर आव तूं नैन झांपि तोहि लेउं।
ना मैं देखौं और को ना तोहि देखन देउं।।

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मोर॥

मेरे एक मित्र अन्तिम पद के 'क्या लागै है मोर' को 'मन हरखत है मोर' कहा करते हैं और कहते हैं कि 'क्या लागै है मोर में थोड़ी-सी उदासीनता है।

मीरा ने अपने को भगवान् की चेरी, जनम-जनम की दासी आदि कहा है। कबीर तो अपने को 'राम की कुतिया' कहते हैं, नाम 'मुतिया' है। गले में राम की जेवड़ी पड़ी हुई है। 'वह' जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाती है। भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, जो दे दे वही खा लेना उत्तम है। मीरा भी यही कहती है—

रैण दिणा वाके संग खेलूं ज्यूं-त्यूं वाहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोई पहिरूं जो दे सोई खाऊँ।
जित बैठावै तितही बैठूं बेचै तो बिक जाऊँ।

आत्मसमर्पण का आनन्द और उसका निराला सौन्दर्य मीरा और कबीर के काव्य में ओतप्रोत है। प्रेम की विभिन्न दशाओं की गहरी अनुभूति इन दोनों को है। अपने-आप पर प्रेम की चोट खाकर, प्रेम के बाण से बिंधकर हृदय में उस तीर को छिपाये ये दोनों दीवाने पागल की तरह, घायल की तरह घूमते फिरे और इनकी व्यथा को कोई क्या बूझे ?

मन परतीति न प्रेमरस, ना इस तन में ढंग।
ना जाणौं उस पीव सूं कैसी रहसी रंग।

मीरा कहती है—मैं जाण्यों नहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री।
आये मेरे सजना, फिर गये अंगना, मैं अभागण ही सोइ री॥

मीरा और कबीर इसी अंदेसे में हैं कि उनका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाए। ये साँईं के प्रेम की चोट खाये हुए, भीतर-बाहर उसके रंग में रंगे हुए हैं। प्रेम की भूख से व्याकुल वह प्रियतम प्रेम-भिखारी साँईं राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है। जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं, वे लोग इस रंग की लीला को अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते हैं। उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है जैसे प्रियतम ने एक छेड़खानी करके ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीर को वेध डालती है। इसकी कोई औषध नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया। एक बार चोट लगने पर अपने को सँभाल रखना कठिन है। साँईं के इस रंग का चोट खाया हुआ मनुष्य घायल की हालत में पागल-सा घूमता फिरता है और उसकी व्यथा को

कोई समझ नहीं सकता—विरह में बजती हुई प्राणों की बाँसुरी को या तो साँई सुनता है या अपना चित्त—

सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावै चित्त।
और न कोई सुनि सकै कै सांई कै चित्त।।

कबीर और मीरा दोनों को उस परम प्रियतम ने सोने में अपने मिलन का सुख देकर, उनके अतल प्राणों में अपने स्पर्श की गुदगुदी से उन्हें जगा दिया है—

सूतल रहलूँ मैं नींद भरि हो, पिया दिहलें जगाय।
चरन-कँवल के अंजन हो नैना लेलूँ लगाय।।

दोनों ने अपने शरीर के दीपक में प्रेम की बाती जलाई है और उसी के प्रकाश में वे अपने प्रेमी प्रियतम का सुन्दर सलोना रूप देखते रहे हैं और निरख-निरखकर, प्रेम का प्याला पी-पीकर 'बौराय' गए हैं। प्रेम का प्याला पिलाकर वह प्रेमी विरह की अग्नि धधका देता है और फिर तन, मन, धन की बाजी लगती है। भक्त के तो दोनों हाथ लड्डू हैं।

हारी तो पिय की भई रे, जीती तो पिय मोर रे।

हिन्दी-साहित्य में विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए घनानन्द। निश्चय ही विश्व-साहित्य में घनानन्द के समान विरह का कवि पाना कठिन है। घनानन्द का एक-एक शब्द विरह के रस से सराबोर है। कलापक्ष तो मीरा की अपेक्षा सुव्यवस्थित है ही, भावपक्ष भी मीरा से किसी भाँति घटकर नहीं है। घनानन्द प्रेम की चोट खाये हुए थे और वही चोट इनके जीवन में एक दिव्य परिवर्तन का कारण हुआ, मजाज़ी से हकीकी की ओर बहा ले जाने में समर्थ हुआ—यह सर्वविदित है। घनानन्द के काव्य में एक विलक्षण विवशता, निरुपायता, यहाँ से वहाँ तक मिलती है, ऐसा मानो किसी अल्हड़ मृगी को खूँटे में बाँधकर कोई उस पर तीर पर तीर चलाए जा रहा हो और वह चुपचाप सब-कुछ सह रही हो—

मेरोई जीव जो मारतु मोहि तौ प्यारे कहा तुम सौं कहनौ है।
आँखिन हूँ यहि बानि तजी, कछु ऐसोई भोगनि कौ लहनौ है।।
आस तिहारिय ही घनआनन्द कैसे उदास भये रहनौ है।
जानि के होत इते पै अजान जो, तो बिन पावक ही दहनौ है।।
जीव की बात जनाइए क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरन मारिकै पीर न पावत एक सों मानत रोइबो रागौ।।
ऐसो बनी 'घनआनन्द' आन जू आन न सूझत सो किन त्यागौ।।
प्रान मरैंगे मरैंगे बिथा पै, अमोही सो काहू को मोह न लागौ।।

मेघों से यह कातर प्रार्थना कि ज़रा मेरी पीर को तो परसो, मेरे आँसुओं को लेकर उस 'बिसासी' सुजान के आँगन में बरसो; पवन से यह याचना कि उस निर्मोही के पाँयन की नेक धूरि ला दे कि मैं उनका अपनी आँखों में अंजन कर लूं—कितनी गहरी कसक और प्यार-भरी लालसा का द्योतक है! यह विरह बाहर से प्रशान्त है, गम्भीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछलकर भागना ही है। उनके वियोग में मूक वेदना की अत्यन्त आतुर परन्तु साथ ही परम गम्भीर पुकार है। एक बार अपनाकर, रस पिलाकर, आशा को बढ़ाकर अब यों मँझधार में छोड़ रहे हो—यह तुम्हारी कैसी रीति है ?

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिरि नेह को तोरिए जू ।
निरधार अधार दे धार मँझार, दई गहि बह न बोरिए जू ।।
घन आनन्द आपके चातक कों, गुन बाँधि कै मोह न छोरिए जू ।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै, आस बिसास में यों बिष घोरिए जू ।।

वह 'बैरिन बाँसुरिया', जो कभी बजी थी, आज भी उसका स्वर गूंज रहा है और बिना बजे भी वह बजा करती है और प्रेमी के प्राणों के साथ खेला करती है—

घन आनन्द तीखियै ताननि सों सरसे सुर साजिबोई-सी करै ।
कितते यह बैरिनि बाँसुरिया बिन बाजेई बाजिबोई-सी करै ।।

मीरा के साथ महादेवी की तुलना आजकल बहुत प्रचलित है। परन्तु प्राय: आलोचक यह भूल जाते हैं कि मीरा मध्यकाल की एक भक्त है और महादेवी आधुनिक काल की एक कवि। महादेवी विरह की पुजारिन हैं और विरह में ही चिर हैं। उन्होंने उस प्रियतम को, जिसके विरह में जलती हैं, देखा नहीं है; केवल उसकी पदध्वनि पहचानी हुई है—

मैंने देखा उसे नहीं, पदध्वनि है केवल पहचानी ।
मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है ।।

'किसी' का 'सुकुमार सपना' पलकों में पाल रही है और आज उसकी मीठी-मीठी याद में नयन, जाने क्यों, भर-भर आते हैं। हरसिंगार के फूलों का झरना और आँखों से आसुओं का चुपचाप गिरना परस्पर कितना समान है!—

पुलक-पुलक कर सिहर-सिहर तन
आज नयन आते क्यों भर-भर ?
सकुच सलज खिलती शेफाली
अलस मौलश्री डाली - डाली
बुनते नव प्रवाल कुंजों में
रजत श्याम तारों से जाली

शिथिल मधुपवन गिन गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर-झर
आज नयन आते क्यों भर-भर ?

यह 'अमर सुहाग भरी' और 'प्रिय के अनन्त अनुराग भरी' मिलन-मन्दिर में प्रिय से मिलने और मिलकर मिल जाने की कितनी मधुर अभिलाषा लिये हुए है !—

मिलन मंदिर में उठा दूँ सुमुख सजल गुंठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं ॥

प्रिय के पथ में अभिसार के लिए रूप का शृङ्गार देखिए—

शृङ्गार कर ले री सजनि
तू स्वप्न सुमनों से सजा तन
विरह का उपहार ले
अगणित युगों की प्यास का
अब नयन अंजन सार ले
अज्ञात पथ है, दूर प्रिय
जल, भींगती मधु की रजनि !

मन में वह 'निर्मम' छिपा हुआ है पर संसार उस 'अन्तर्वासी' से मिलने नहीं देता, इधर-उधर भटकाता रहता है—

घूँघट पट से झाँक दिखाने
अरुणा के आरक्त कपोल,
जिसकी चाह तुम्हें है उसने
छिड़की तुझ पर लाली घोल।
ये मंथर सी लोल हिलोरें
फैला अपने अंचल-छोर
कह जातीं 'उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर'।
यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार
तुम मन में हो छिपे
मुझे भटकाता है सारा संसार।

मीरा की तरह ही महादेवी अपने में और उसमें कोई भेद नहीं मानतीं—

सिंधु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचि-विलास ?
क्षुद्र हैं मेरे बुदबुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि, तुम्हीं में नाश।

तथा

तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या ?
तेरा अधर-विचुंबित प्याला
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला
तेरा मानस ही मधुशाला
फिर पूछूं क्यों मेरे साक़ी
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

उस प्यारे को पत्र भी लिखा जाए, संदेशा भी भेजा जाए यदि वह कहीं परदेश में हो, परन्तु जो तन में, मन में, नयन में रम रहा है उसे क्या पत्र और कौन-सा संदेश ? मीरा में कई पद इस भाव के हैं। महादेवी कहती हैं—

अलि कहाँ संदेश भेजूँ ?
मैं किसे संदेश भेजूँ ?
नयन पथ से स्वप्न में मिल
प्यास में घुल साध में खिल
प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूं ?

यह सारा जीवन 'उस' के आगमन की आशा और प्रतीक्षा में, चिर जागरण, चिर विरह, फिर भी आशा के कारण चिर मिलन के मधु में मुग्ध है—

जो न प्रिय पहचान पाती
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत्-सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक-राग गाती ?
चाँदनी के बादलों में स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों ?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस रात बिखेरते क्यों ?
सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती ?
कल्प-युग व्यापी विरह को एक सिहरन में सँभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि दीप वाले,
क्यों किसी के आगमन के
शकुन स्पन्दन में मनाती ?

मेघपथ में चिह्न विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय पद
जो न उनकी चाप का मैं जानती संदेश उन्मद
किस लिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?
जो न प्रिय पहचान पाती।

इतनी मीठी पहचान या 'चिन्हारी' के बाद फिर क्या पूजा और क्या अर्चा ? अब तो सारा जीवन, एक-एक श्वास-प्रश्वास अर्चना में स्वयं लीन है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे ॥
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे ॥
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन के जलकण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चंदन रे ॥
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे ॥
धूम बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे ॥

मीरा की तरह महादेवी की भी शिकायत है—

पथ में बिखरा शूल बुला जाते क्यों दूर अकेले

परन्तु इस 'आँख-मिचौनी' के खेल में—खोजना, पाना और फिर खो देना, फिर खोजना और खोजते ही रहना, इसमें क्या कम आनन्द है, कम माधुर्य है ? यह 'दूरी' क्या कम मधुर है ? पर मन जो नहीं मानता !

रंगमय है देव दूरी, छू तुम्हें रह जायगी
यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी
दूर रह कर खेलना पर, मन न मेरा मानता है।

हम-तुम मिल जाएँ तो फिर यह लीला कैसे चलेगी, यह चित्रमय हमारी-तुम्हारी परस्पर की प्रणय-क्रीड़ा, यह आनन्द के लिए अधूरी ही रह जाएगी, इसलिए यह 'दूरी' ही बनी रहे और अपने भीतर 'एकमेक' होने की साध यह छिपाये रहे तभी तो दोनों की लालसा लहराती चलेगी—

विरह का युग मिलन का पल
मधुर जैसे दो पलक चल
एकता इनका तिमिर, दूरी खिलाती रूप शतदल !

इसीलिए चिर सुहागिनी मीरा की तरह महादेवी सोल्लास स्वीकार करती हैं—

सखि ! मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !

जीवन की एक झलक

'I go with a perpetual heartache;
None can see God or Goddess and live"
—Coventry Patmore.

चार सौ वर्ष से ऊपर हुए, प्रभु ने पृथ्वी पर प्रेम की एक पुतली भेजी थी। वह आई, प्रभु के प्रेम में छकी हुई, प्रभु के आलिगन में डूबी हुई, प्रभु के रूप में भूली हुई वह आई। प्रभु के नूपुरों की रुनझुन में अपने हृदय की गति मिलाकर, प्रभु की मुरली में अपने प्राण ढालकर, प्रभु के पीताम्बर पर अपने को निछावर कर, प्रभु की मन्द-मन्द मुसकान पर अपना सब-कुछ दे डालकर, प्रभु के चरणों के नीचे अपना हृदय बिछाकर वह अल्हड़ योगिनी पैरों में घुंघरू और हाथ में करताल लेकर नाच उठी और प्रेम के आनन्द में विभोर होकर गा उठी —

सुनि हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैलाँ चढ़-चढ़ जोऊँ मेरी सजनी कब आवें महाराज॥

इतने दिन हो गए, आज भी यह गीत स्पष्टतः भीतर गूँज रहा है, मानो अभी कल की बात हो। ऐसा प्रतीत होता है, इन आँखों ने वह प्रेमोन्मत्त नृत्य देखा है, इन कानों ने वह दिव्य मंगल-संगीत सुना है। सन्ध्या का समय है, मीरा आरती कर चुकी है। सामने श्रीगिरधरलालजी की दिव्य मूर्ति विराज रही है। कमरे के द्वार बन्द हैं और भीतर सारा स्थान तेज से जगमगा रहा है, दिव्य गन्ध से भर रहा है। मीरा अपने प्राणाधार के सामने नाच रही है। आँसुओं की धारा बह रही है—भीतर-बाहर सर्वत्र प्रभु का सुखद सुशीतल स्पर्श और उस स्पर्श की मादक मधुर सिहरन रोम-रोम को प्रेम मे डुबोए हुए है—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं गिरधर रँग राती।
पचरंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
झिरमिट माँही मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।

'खोल मिली तन गाती!' निरावरण होकर, अवगुण्ठन हटाकर प्राणाधार से मिली, अपने प्राणों के प्राण, हृदय के सर्वस्व से मिली और मिलकर

उसी में मिल गई, एक हो गई, तल्लीन हो गई। यह बात तो पीछे जाकर खुली जब—

आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों प्रेम नदी के तीरा।

The beloved took me to His arm.

And I laid my bosom bare and clasped Him tight,

Ah ! I clasped Him to my bosom.

संसार को इस मिलन और इस विरह का क्या पता ? यह तो कुछ पगलों के लिए—प्रभु-प्रेम के दीवानों के लिए ही है। ऐसे दीवाने कितने हुए ? संसार में चैतन्य और मीरा, मंसूर और ईसा कितने हुए ?

मीरा मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म सं० १५७३ में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था। ये आरम्भ से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थीं। बचपन में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और इसलिए इनके पालन-पोषण का भार इनके दादा राव दूदाजी पर पड़ा। दूदाजी परम वैष्णव थे। मीरा के संस्कार बचपन से ही कृष्ण-प्रेम से ओत-प्रोत थे। बहुत बचपन में ही मीरा ठाकुरजी की पूजा के लिए पुष्प चुनती, माला बनाती और बड़े ही प्रेम से ठाकुरजी को पहनाती। भगवान् का शृङ्गार कर वह अपनी तुतली बोली में जाने क्या-क्या गुनगुनाती। प्रातःकाल नींद खुलते ही ठाकुरजी ! बस, ठाकुरजी के सिवा न कुछ कहना, न कुछ सुनना। दादाजी जब भगवान् की षोड़शोपचार पूजा करते तब मीरा एकटक देखा करती।

बचपन की ही एक घटना है—मीरा के घर एक साधु आये। उनकी पूजा में श्री गिरधरलालजी की मूर्ति थी। मीरा को वह मूर्ति ऐसी लगी, मानो वह उसके जन्म-जन्म का साथी हो। उसे पाने के लिए मीरा का हृदय मचला, पर वह साधु मूर्ति क्यों देने लगे ! मीरा को उस मूर्ति के बिना कल कैसे पड़ती ! उसने खाना-पीना छोड़ दिया और छटपटाने लगी। साधु ने स्वप्न में देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अल्हड़ बालिका के पास पहुँचा आने का आदेश कर रहे हैं। भोर होते ही वह साधु मीरा को मूर्ति दे आया। अब मीरा की प्रसन्नता का क्या पूछना ! आनन्दोल्लास में वह फूली-फूली फिरती।

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है—मीरा के गाँव में एक बारात आई। लड़कियों को बचपन में अपने भावी पति को जानने की बड़ी ही सरलतापूर्ण उत्कण्ठा रहती है। मीरा ने बड़ी सरलता से अपनी माता से पूछा—"माँ ! मेरा विवाह किससे होगा ?" बच्ची के प्रश्न पर हँसती हुई माँ ने कहा—

"गिरधारीलालजी से" और सामने की मूर्ति की ओर संकेत किया। मीरा के मन में यह बात बैठ गई कि गिरधरलालजी ही वास्तव में हमारे पति हैं।

अठारह वर्ष की अवस्था में मीरा का विवाह मेवाड़ के इतिहास-प्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा साँगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराजजी के साथ हुआ। मीरा अपनी ससुराल में भी अपने इष्टदेव की मूर्ति लेती आई। मीरा का दाम्पत्य जीवन बड़ा ही आनन्दपूर्ण था। ऐसी सती-साध्वी नारी अपने पतिदेव की सेवा न करेगी, तो कौन करेगी ? मीरा बड़े आदर और विनय के साथ पति की परिचर्या में रहती और साथ ही विनयपूर्वक प्रभु की उपासना भी किया करती। प्रभु जिसे अपनाते हैं उसके सारे अन्य बन्धनों और सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जब तक जीव संसार में किसी का भी आसरा-भरोसा रखता है तब तक वह प्रभु के आश्रय से वंचित ही रहता है। हम सर्वथा प्रभु के हो जाएँ, इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि संसार में भिन्न-भिन्न सम्बन्धों को लेकर जो हमारा अनुराग है वह सिमटकर प्रभु में केन्द्रीभूत हो जाए, घनीभूत हो जाए। जो प्रेम प्रभु के चरणों में निर्माल्य हो चुका है, उसमें साझीदार संसार का कोई भी प्राणी कैसे होगा ? मीरा का दाम्पत्य जीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे। अब तो मीरा की जीवन-धारा एकबारगी पलट गई। संसार के सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्त-भाव से श्रीगिरधरलाल जी की सेवा में रहने लगी।

लोक-लाज और कुल की मर्यादा को अलग कर मीरा अपने प्राणाराध्य की साधना में अहर्निश लगी रहती। प्रेम की प्रखर अजस्र धारा में लोक-लाज कैसे टिक सकती ? मीरा को तो कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है। उसके यहाँ अब बराबर साधुओं की भीड़ लगी रहती। भगवत्-चर्चा के सिवा अब उसे करना ही क्या रह गया ! श्रीगिरधर गोपालजी की मूर्ति के सामने मीरा नाचा करती और सन्तों की मण्डली जमी रहती। घरवालों को भला यह बात कैसे पसन्द आती ! राणा साँगा की मृत्यु हो चुकी थी और इस समय मीरा के देवर विक्रमाजीत सिंहासन पर थे। उनसे मीरा की ये 'हरकतें' देखी न गईं। उन्होंने मीरा को मार डालने की कई तदबीरें सोचीं, परन्तु जिसकी रक्षा स्वयं परमात्मा कर रहा है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है ! विष का प्याला भेजा। मीरा उसे अपने प्राणप्यारे का 'चरणामृत' समझकर पी गई। विष भी अमृत हो गया ! जिसके अनुकूल स्वयं प्रभु है, उसके लिए प्रतिकूल क्या हो ? पिटारी में साँप भेजा गया। मीरा उसे खोलती है तो देखती है कि शालग्रामजी की मूर्ति है। मीरा ने उसे छाती से चिपका लिया—प्रेमाश्रुओं से नहला दिया !

सखी मेरो कानूड़ो कलेजे की कोर ।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै कुंडल की झकझोर ।

बृन्दाबन की कुंज गलिन में नाचत नन्दकिसोर ।।

परीक्षा की इति यहीं तक नहीं थी । मीरा प्रतिदिन अधिकाधिक खुलकर साधु-महात्माओं में रहने लगी और रात-दिन हरि-चर्चा तथा कीर्तन के सिवा उसे कुछ सुहाता ही न था । मीरा ने यह निश्चय कर लिया कि जितने क्षण शरीर में प्राण रहेंगे, उतने क्षण हरि-गुणगान में ही बीतेंगे । प्राण छूट जाएँ, भले ही छूट जाएँ, कीर्तन कैसे छूटता ! सास ने बहुत मना किया, बहुत समझाया-बुझाया; परन्तु यहाँ तो अन्दर-ही-अन्दर प्रेम की भट्ठी धधक रही थी ।

मीरा की एक ननद थी ऊदा । उसने भी मीरा को 'राह पर लाने' की बहुत चेष्टा की, परन्तु मीरा का मन तो मोहन के चरणों में बिक चुका था । ऊदा से अपनी हार सही न गई । उसने एक षड्यंत्र रचा । विक्रमाजीत से जाकर उसने कहा कि मीरा आधी रात को द्वार बन्द कर और दीपक जलाकर किसी पुरुष से प्रेमालाप करती है । वह पुरुष नित्य मीरा के पास आधी रात को पैरों की चाप छिपाए धीरे-धीरे आता है । उसने राणा से यह भी कहा कि यदि उसे विश्वास न हो, तो स्वयं आकर देख ले । राणा के क्रोध का अब क्या ठिकाना ! चेहरा तमतमा उठा । बस, अभी मीरा का सिर धड़ से अलग करने के लिए वह तलवार लेकर दौड़े ।

भादों के कृष्णपक्ष की आधी रात है । मेघ झमाझम बरस रहा है और बिजली कड़क रही है—परन्तु उस मेघ से भी अधिक बरस रही हैं वियोगिनी मीरा की दो करुणा-विगलित आँखें; उस बिजली से भी अधिक कड़क रहा है उसका दर्दभरा दिल—साँवरे के विरह में तड़पता हुआ पागल विह्वल हृदय ! संसार सुख की नींद सो रहा है, परन्तु वियोगिनी की आँखों में नींद कहाँ, विश्राम कहाँ, शान्ति कहाँ ! मीरा ने श्री गिरधरलालजी की मूर्ति के पास दीपक जला दिया है और अगर की सुगन्धि से सारा कमरा गमगमा रहा है । मीरा ने पहले हृदयेश्वर के मस्तक पर रोली लगाई और फिर वही प्रसाद अपने सिर-आँखों से लगाया, उसी से अपनी माँग भर ली । आज वह नववधू के रूप में सजी हुई है । वह एकटक अपने प्राणाधार को देख रही है । देखते-देखते क्या देखती है कि उस मूर्ति में से उसके हृदयेश्वर निकलते हैं, मन्द-मन्द मुसकाते हुए, मीरा का आलिंगन करने के लिए आगे बढ़ते हैं—मीरा प्रेम के इस अवहनीय भार को कैसे सँभाल पाती ! मिलन की सुखधारा में बह चली । मीरा ने मिलने के लिए अपने मस्तक को आगे बढ़ाया; परन्तु संज्ञाहीन होकर वह गिर पड़ी, प्रभु के चरणों में गिर पड़ी । उसके संज्ञाहीन प्राणों ने अपने भीतर देवता के परम शीतल अथच मधुर-मधुर स्पर्श का अनुभव किया । वह कोमल, पावन, दिव्य स्पर्श ! ! वह प्रगाढ़ मधुमय प्रणयालिगन !

'वह' आया तो प्राण मिलन-सुख के भार को सह न सके और अब जब प्राणों में सज्ञा लौट आई है तो उसका ही पता नहीं। आँखें खुलीं। मीरा के प्राण अब भी स्पर्श के आनन्द में बेसुध थे। आँसुओं में सनी हुई वेदना-विगलित वाणी कुछ अस्पष्ट, कुछ अस्फुट स्वयं निकल रही थी···आह! एक क्षण और ठहर जाते! कई जन्मों से तुम्हें ढूंढती आ रही हूँ। प्राणों का दीप जला-कर संसार का कोना-कोना छान आई। तुम्हारा पता किसी ने नहीं बताया। आज बड़ी दया की। ओह! वह छवि!

निपट बंकट छवि अटके
मेरे नेना निपट बंकट छवि अटके
देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंवरस अटके॥
टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी, गिरधर नागर नट के॥

आह! भर-आँख अभी तो देख भी नहीं पाई थी। कहाँ छिप गए? कहाँ खिसक गए? तुम्हारा वह मन्द-मन्द मुसकाना···वे बड़ी-बड़ी पागल बनाने वाली आँखें, वह केसर-तिलक, लहराती हुई अलकावली और उस पर तिरछा-बाँका मोर-मुकुट! आह! यदि ऐसे ही छिपना था तो छिपे ही रहते! इस प्रकार तरसाकर प्राणों को तड़पाने की यह कौन-सी विधि सोच रखी है! जीवनधन! आओ, मैं तुम्हें प्राणों के भीतर छिपा लूं—

मैं अपने सेयाँ संग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाँची॥

अचानक दरवाजे फट पड़े और राणा विक्रमाजीत नंगी तलवार लिये, क्रोध में तमतमाए भीतर घुस आए। उन्होंने देखा कि श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति के सामने मीरा हाथ जोड़े अर्द्धमूर्च्छित दशा में बैठी हुई है और आँखों से आँसुओं की धारा चल रही है। उसने क्रोध में पागल होकर मीरा का हाथ खींचा और क्रोधस्फीत शब्दों में कहा—"कहाँ है तेरा प्रेमी जिसके साथ तू रातों जागा करती है? अभी मैं उसका सिर धड़ से अलग किए देता हूँ।" मीरा भावमग्न हो रही थी। उसने अँगुली से श्री गिरधरलालजी की मूर्ति की ओर संकेत किया। परन्तु राणा के लिए तो वह बस एक पत्थर की मूर्ति थी। क्रोध में मनुष्य शैतान हो जाता है। उसे उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता। विक्रमाजीत को मीरा की बातों का विश्वास नहीं हुआ। उसने फिर सिंह की तरह गजरते हुए कहा—"अभी ठीक-ठीक बता, तू किससे बात कर रही थी? नहीं तो आज तेरे ही रक्त से इस तलवार की प्यास बुझाऊँगा।" मीरा डरती क्यों? जिसे परमात्मा का बल प्राप्त है संसार उसका बाल भी

बाँका नहीं कर सकता। मीरा ने दृढ़तापूर्वक कहा—"सच मानो, यही है मेरा चितचोर प्राणधन। इसी के चरणों में मैंने अपने को निछावर कर दिया है···अभी देखो, देखो, खड़े-खड़े मुसकरा रहा है। एक क्षण भी तो नहीं हुआ वह आया था। अहा! वह रूप! उसने मुझे अपने आलिंगनपाश में बाँधने के लिए ज्यों ही बाँहें बढ़ाईं, त्यों ही मैं अभागिनी···उफ्!! मत पूछो! उस अपरूप रूप को देखते ही मेरी आँखें झप गईं—मैं संज्ञाहीन होकर गिर पड़ी। वह धीरे-धीरे मुरली बजाकर मेरे प्राणों में गा रहा था। अहा! वह शीतल स्पर्श! वह जगत् का स्वामी अनादि काल से चित्त चुराता आया है और यही उसकी बान पड़ गई है। उसने प्रेमस्वरूपा गोपियों का हृदय चुराया। इतने से ही उसका जी न भरा। वे जब स्नान कर रही थीं, उसने उनके वस्त्र भी चुरा लिये। मैं तो अपने प्राण उसके हाथों सौंप चुकी। वह भला इसे क्यों लौटाने लगा! देखो, देखो, वह अपनी शरारत पर स्वयं मुसकरा रहा है। देखो, देखो, वह सलोनी साँवरी सूरत देखो! प्राण, मेरे पागल प्राण! आओ, आओ, आवरण हटाकर आओ! संसार में मेरा तुम्हारे सिवा और है ही कौन? आओ, प्राण! मुझे अपने में डुबा लो, एक कर लो!"—

श्री गिरधर आगे नाचूंगी।
नाच-नाच पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूँगी॥
लोक-लाज कुल की मरजादा यामें एक न राखूँगी।
पिय के पलंगा जा पौढूँगी मीरा हरिरंग राचूँगी॥

गाते-गाते मीरा मूर्च्छित हो गई। विक्रमाजीत किंकर्तव्य विमूढ़ हो गए। ऊदा और अन्य लड़कियाँ जो कमरे में आई थीं, मीरा के इस दिव्य प्रेम को देखकर अवाक हो गईं। ऊदा मीरा के चरणों में गिरकर रोने लगी। अपने किए पर उसे बड़ी ग्लानि हुई।

मीरा की भक्ति-सुरभि दिग्-दिगन्तर में फैलने लगी और लोग उसके दर्शनों के लिए स्थान-स्थान से आने लगे। राजमहल में बराबर साधु-सन्तों की भीड़ देखकर विक्रमाजीत से सहा नहीं गया। मीरा को राजपाट और लोक-लाज से क्या करना था? वह सब-कुछ छोड़-छाड़कर वृन्दावन चली। वृन्दावन पहुँचकर मीरा का बस एक ही काम था—मन्दिरों में प्रभु की मूर्ति के सामने पैरों में घुंघरू बाँधकर और हाथ में करताल लेकर कीर्तन करना। प्रेम की इस पुतली को जो भी देखता, वही श्रद्धा और भक्ति से सिर झुका लेता। वृन्दावन में पहुँचकर मीरा को ऐसा लगा मानो वह अपने 'घर' आ गई है। वहाँ के एक-एक वृक्ष, लता, पत्ते से उसका पूर्व परिचय था। वृन्दावन तो उसके 'जन्म-जन्म के साथी' का देश था, ब्रज की माधुरी पर मुग्ध होकर मीरा ने अपने प्रेम-भरे उद्गार प्रकट किए—

या ब्रज में कछु देखो री टोना ।।
ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना ।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी 'ले लेहु री कोई श्याम सलोना' ।।
वृन्दावन की कुंजगलिन में आँख लगाय गयो मनमोहना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुन्दर स्याम सुघर रस लोना ।।

वृन्दावन में मीरा के आनन्द का पारावार उमड़ आया । मीरा पैरों में घुंघरू बाँधे, हाथ में करताल ले और माँग में सिंदूर भरकर श्रीहरि की आरती के लिए चली । उस प्रेमदीवानी अल्हड़ तपस्विनी ने देखा, सामने प्रभु की त्रिभुवन-मोहिनी मूर्ति मुसकरा रही है, वही मोरमुकुट, वही मुरली और वही पीताम्बर ! मीरा ने आरती की थाली में से रोली उठाई और प्यारे के मस्तक पर लगाने ही जा रही थी कि आँखें प्रेम से मुंद गईं, उनमें प्रेमाश्रु भर आए । वह देखती है कि आँसुओं की गंगा-यमुना में भी प्राणेश्वर की मूर्ति केलि कर रही है । हाथ की रोली हाथ में ही लिये रही—बड़ी विचित्र दशा है । आँखें बन्द करती है तो हृदय के मन्दिर में हृदयघन विराज रहा है । आँखें खोलती है तो आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाएँ—सर्वत्र गोपाल-ही-गोपाल है । जगी-ठगी-सी विमुग्ध खड़ी है, कुछ कहते नहीं बनता । कैसे आलिङ्गन करे, कैसे रोली लगाये !

कपूर का दीपक लेकर वह आरती करने चलती है—कठिनाई से एक बार वह दीपक का थाल घुमा पाती है कि उसकी दृष्टि प्रभु के मोर-मुकुट पर अटक जाती है; दीपक का थाल लिये वह विमूढ़-सी खड़ी रहती है । प्रार्थना का दिव्य मधुर प्रवाह चल रहा है । वाणी गद्गद् है, नेत्र अश्रुपूर्ण, हृदय हरि-मय, प्राण-प्राण में, रोम-रोम में श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण । समस्त विश्व केवल कृष्णरूप हो रहा है । कृष्ण के सिवा कुछ है ही नहीं—मीरा स्वयं कृष्ण हो रही है । उसे अपनी आँखों पर सहसा विश्वास नहीं होता । ऐसा भासता है मानो वह स्वप्नलोक में विचर रही है । प्रीतम के मिलन का जो आनन्द है वह शब्दों में लिखा नहीं जा सकता । कोई कहना चाहे भी तो कैसे कहे ?

आधी रात हो रही है और मीरा की आरती का उपक्रम समाप्त नहीं हुआ । कभी वह आँसुओं से प्रीतम के पाँव पखारती है, कभी श्रीगिरधरलाल जी की मूर्ति को छाती से लगाकर उनकी आँखों पर अपने अधरों को रख देती है । कभी उनके चरणों को ज़ोर से अपने हृदय में बाँध लेती है और कभी उपालम्भ के मीठे ताने सुनाती है—

स्याम म्हांसो ऐंडो डोले हो ।
औरन सूं खेले धमार म्हासों मुखहूं न बोले हो ।

वह प्रेम क्या जो अघाना जाने; वह भक्ति क्या जो समस्त विश्व को अपने प्रभु में लय न कर दे; वह साधना क्या जो संसार के इस सघन पटल को हटाकर अपने प्राणेश्वर को प्रतिपल अखण्ड रूप से न देखे! वह भक्त क्या, जो सर्वत्र और सर्वदा केवल अपने उपास्य देव को न देखे? बीच का पर्दा हटा देने पर रह ही क्या जाता है! संसार कहता है मैं बना रहूँगा; भक्त कहता है, 'मैं तुम्हें मिटाकर ही छोड़ूँगा,' और जीत भी भक्त की ही होती है। कितनी सुन्दरता से भक्त इस संसार को मिटाता है! वह संसार से द्वन्द्व नहीं छेड़ता, वह जगत् से लड़ने नहीं जाता। वह तो अपने भीतर प्रवेश कर, अपने अन्तर का पट हटाकर अपने 'प्रीतम' की झाँकी पा लेता है। वह झाँकी उसकी अपनी आँखों में, उसके रोम-रोम में उतर आती है, अब वह इन आँखों से जो कुछ देखता है सब केवल कृष्ण-ही-कृष्ण होता है। यह संसार उसके सम्मुख 'संसार' नहीं रह जाता। यह तो प्रभु का मङ्गलमय परम मनोहर दिव्य विग्रह हो जाता है। जगत् जब सर्वत्र प्रभुमय हो गया, तो इसका अपना आकर्षण, अपना सम्मोहन कैसा? इसीलिए कहा जाता है कि भक्त के सामने संसार का जादू नहीं चलता।

आधी रात हो रही है और मीरा पूजा में संलग्न है। बाहर का द्वार बन्द है। दीपक जल रहा है। साँवरे की मूर्ति सामने विहँस रही है। नव-वधू की भाँति मीरा ने लाल रेशमी साड़ी पहन ली है और माँग में सिंदूर भर लिया है। हाथों में करताल है और पैरों में घुँघरू। प्रेम-विभोर होकर मीरा नाच रही है—

मीरा नाची रे,
पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गयी दासी रे।।

संकीर्तन की इस धुन में समस्त विश्व लय हो रहा है। मीरा के घुंघरू और करताल माधव के नूपुर और मुरली में मिलकर एक अपूर्व मादक संगीत की सृष्टि कर रहे हैं। मीरा नाच रही है और इस पगली भक्तिन के साथ श्यामसुन्दर भी नाच रहे हैं। मीरा की बन्द आँखें हरि के रूप-रस का पान कर रही हैं, हृदय कृष्ण के चरणों में लोट रहा है। प्राणों की झंकार नूपुर की रुनझुन में लय हो रही है। रोम-रोम से हरि-हरि!! इस समय संसार नहीं है। इस विराट रास में केवल कृष्ण-ही-कृष्ण हैं। फिर इसमें 'लोग कहें बिगड़ी' की क्या चिंता? अपने प्राणाधार से क्या लज्जा, क्या दुराव, क्या पर्दा? उससे क्या छिपाना जो हृदय का अधीश्वर है, प्राणों का पति है, जीवन का सर्वस्व है? वहाँ तो सर्वशून्य होकर, निरावरण होकर हृदय का पुष्प सर्वतो-भावेन प्रभु के चरणों में समर्पित करना होता है। जो हृदय के भीतर बस रहा

है उससे क्या छिपाया जाए ! श्रीकृष्णार्पण इसी को कहते हैं। ढाई अक्षर प्रेम का यही है।

प्रेम की चोट बड़ी करारी होती है। वही इसे जानता है जिसका हृदय प्रेम के वाणों से बिंधा हो। शब्दों में इसका वर्णन कोई करना भी चाहे तो क्या करे ! आशा और प्रतीक्षा—प्रेमियों के हिस्से ये ही पड़ी हैं। मिलन की आशा और प्राणाधार की प्रतीक्षा ! कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमाधार पूर्णतया पकड़ में आ गया; परन्तु प्रेमास्पद की लुका-छिपी ! आह ! कितनी आकर्षक, कितनी मधुर है ! श्यामसुन्दर पर मीरा की लुभाई हुई दृष्टि जाती है—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रोम-रोम नख-सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी घर आपणे री मोहन निकसे आय।
बदन चन्द परकासत हेली मन्द-मन्द मुसकाय॥

मैं अपने आँगन में खड़ी थी। सामने से श्यामसुन्दर निकले। आँखें हठात् उन पर जा पड़ीं, रोम-रोम उन्हें निहारने लगा। वह छवि हृदय को कितनी शीतल, कितनी मधुर प्रतीत होती है। हृदय में अमृत झरने लगा। उनके मुखचन्द की द्युति और मन्द-मन्द मुस्कान हृदय में बरबस घर किये लेती हैं। मीरा अपने भीतर यह दृढ़तापूर्वक अनुभव करती है कि उसने गिरधरलालजी को पूरी तरह अपना लिया है, उन्हें मोल ले लिया है, वे अब मीरा के हृदय-देश में बन्दी हैं—

माई री मैं तो गोविन्दो लीनो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लीनो री बजन्ता ढोल॥

मैंने डंके की चोट गोविन्द को मोल ले लिया। लोग चाहे जो कहें, मैंने तो उन्हे रूबरू देख लिया, अपना लिया—अपने हृदय के अन्दर कैद कर लिया ! मीरा की आँखों में, हृदय में, प्राण में, रोम-रोम में उस त्रिभुवन सुन्दर की मोहिनी मूर्ति बसी हुई है।

ऐसे प्रीतम को एक बार पाकर फिर कैसे छोड़ा जाए ? आओ, इन्हें बाँध रखें और नैनों से इनका रूप-रस पीते रहें। जितने क्षण प्राण रहें, श्यामसुन्दर को सामने देखते रहें। इन्हे देखकर ही हम जियें। यदि उन्हें आँखों से ओझल ही होना है, तो अच्छा है कि हमारे प्राण न रहें, हम न जियें। प्रीतम जिस वेश को धारण करने से मिले, वही करना उचित है। वही वास्तव में बड़भागिन है जिसका हृदय मनमोहन पर निछावर हो चुका है।

In my eyes, in my heart
Thou art O Beloved
So much Thou art and so always,
That whatever I see looming in the distance
I think it is Thou coming to me.

प्रभु को भक्त जितना ही अधिक पकड़ता जाता है, उतनी ही दृढ़ता उसमें आती जाती है और उतने ही अन्य भाव से वह प्रभु का और प्रभु उसके होते जाते हैं। हृदय की बहुत ऊँची अनन्यशरणागति ही मीरा से कहला रही है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई॥
तात मात भ्रात बन्धु आपनो न कोई॥

एक बार भी यदि वह मूर्ति हृदय में उतर आई और हृदय उसके रंग में रंग गया, तो फिर क्या कहना! आँसुओं के जल से सींची हुई प्रेम की लता जब फैल उठी, तो उसमें फिर आनन्द के फल आने लगे। आनन्द के सिवा रह ही क्या गया! अब तो एक क्षण के लिए भी 'उसे' छोड़ते नहीं बनता—

पिया म्हारे नैणाँ आगे रहज्यो जी।
नैणाँ आगे रहज्यो जी, म्हाँने भूल मत जाज्यो जी॥

विरह ही प्रेम का प्राण है। मिलन में प्रेम सो जाता है, विरह में जगा रहता है। विरह में सारी सृष्टि प्रेमपात्र की प्रतिमूर्ति बन जाती है। सब-कुछ उसी 'एक' का सन्देश लाने वाला बन जाता है। मीरा का विरह अपने ढंग का अकेला ही है। अपने प्राणवल्लभ के लिए हृदय में अनुभव की हुई टीस को प्रेम-लपेटे-अटपटे छन्दों में गाकर अल्हड़ प्रेमसाधिका मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हल्का किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेम-विह्वल साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का दुःख नहीं। इसी से पहले कह आया हूँ कि मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है। मीरा का दुःख तो एक अथक कहानी है, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व-समर्पण का एक दिव्य एवं मनोहारी संगीत है। शब्दों से उस दुःख को नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

मैं बिरहिण बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।
बिरहिण बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै॥
एक बिरहिण हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै।

तारा गिण गिण रैंण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलके बिछुड़ न पावै ।।

अपनी दुर्बलता और प्रेम-पथ की कठिनाइयों की ओर जब ध्यान जाता है, तो कभी-कभी जी घबरा उठता है और निराशा-सी हो जाती है—

गली तो चारों बन्द हुई हरी सूँ मिलूँ कैसे जाय ।
ऊँची-नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय ।

इस निराशा में तो बस, प्रभु की दया का ही एकमात्र भरोसा है । वही दया कर उबारे तो उबरने की कुछ आशा है, नहीं तो .....!

सजन सुध ज्यों जानों त्यों लीजै ।
तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै ।
दिवस न भूख रैन नहिं निंदिया यों तन पल-पल छीजै ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहीं दीजै ।

इन आँखों को भला कौन मनाए, हृदय को कौन समझाए ? एक क्षण भी श्यामसुन्दर के बिना जीवन धारण किए रहना असम्भव है । ये प्राण तो हाय-हाय कर प्राणरमण के लिए तड़प रहे हैं—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी ।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी ।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी ।।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी ।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी ।।

लोग बिगड़ी कहें अथवा बनी, जो कुछ भी कहें, इससे मीरा का क्या बनता-बिगड़ता है ? वह तो गिरधर गोपाल के हाथों बेमोल बिक चुकी है । उसी की मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई है । कृष्ण ही उसका जीवन, कृष्ण ही उसका यौवन, कृष्ण ही उसका स्वर्ग, कृष्ण ही उसका अपवर्ग है । कृष्ण के सिवा उसके लिए लोक-परलोक कुछ है ही नहीं ।

विरह की इस तीव्र वेदना के साथ मिलन की उत्सुक प्रतीक्षा तथा आकुल उत्कण्ठा भी बनी हुई है । प्रेम में विरह और मिलन लिपटे सोते हैं । रात का समय है । पानी बरस रहा है । मेघों ने श्रीकृष्ण को मीरा के घर में रोक रखा है । वे अब बाहर जाते भी तो कैसे ? मीरा के घर में गिरधरलालजी बन्दी हैं । मीरा अपने 'प्राण' को पाकर परमानन्द में बेसुध है; वह भावावेश में गा उठती है—

नन्दनन्दन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई ।
इत घन लरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई ।।

उमड़घुमड़ चहुँ दिस से आया पवन चलै पुरवाई ।।
दादुर मोर पपीहा बोले कोयल सबद सुणाई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चित लाई ।।

वृन्दावन में बहुत समय तक रहकर मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्री रणछोड़जी की मूर्ति के सामने कीर्त्तन किया करती । भक्तों की वही अपार भीड़ और मीरा का वही प्रेमोन्मत्त नृत्य और कीर्त्तन !! मीरा जब हाथ में करताल लेकर नाचने लगती, उस समय समस्त प्रकृति रास के आनन्द में उन्मत्त होकर थिरकने लगती । मीरा तो कृष्ण की प्राणप्रिया सखी थी, चिरसंगिनी सहेली थी—उसके प्रेमरस का पान करने के लिए वह प्रेम-भिखारी हरि स्वयं आते और मीरा के साथ-साथ समस्त भक्तमण्डली कृष्णमिलन के रस में, प्रभु के मधुर आलिंगन-रस में शराबोर हो जाती ।

आज मीरा का प्रयाण-दिवस है । आज प्रभु की यह प्रेम-पुतली अपनी आनन्द-लीला संवरण कर हरि में एकाकार होने वाली है । आखिर यह द्वैत, यह अन्तर वह कब तक सहन करती ! आज रणछोड़जी का मन्दिर विशेष रूप से सजाया गया है । एक अपूर्व गम्भीरता का साम्राज्य है । मीरा प्रेमानन्द में बेसुध है । आज उसकी तपस्या पूरी होने वाली है । आज उसने पुनः नववधू का वेश धारण किया है । लाल रेशमी साड़ी पहन ली है । माँग में सिंदूर भर लिया है । पैरों में घुँघरू बाँध लिया है । आज मीरा की जो प्रेम-सेज सजी है, उसकी सुन्दरता का क्या कहना ! आज तो पिया की सेज पर जाकर मीरा अपने प्राणेश्वर के साथ पौढ़ेगी ! प्रीतम की अटारी पर आज मीरा सुख से सोएगी—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुण सेज बिछी ।
पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ।
बाजूबन्द कडूला सोहै माँग सिंदूर भरी ।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली ।
सेज सुखमणा मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी ।।

आज रणछोड़जी के मन्दिर की एक अपूर्व छटा है । मीरा सज-धजकर आज महामिलन की तैयारी में आई । आज उसके स्वर में एक दिव्य मादकता है । आज वह गाती है और धीरे-धीरे अपने को हरि में खोती जाती है । वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है और लोग उसके चरणों को चूमने लगते हैं । सारा मन्दिर अचानक तेजोमय हो जाता है । मीरा उठती है और रणछोड़जी की मूर्ति अपना हृदय खोलकर उसे अपने हृदय के अन्दर ले लेती है । मीरा माधव में मिलकर एक हो जाती है । भक्तमण्डली निर्निमेष दृष्टि से

यह सब देखती रह जाती है । मीरा सदा के लिए हमारी स्थूल आँखों से ओझल होकर हमारे हृदय-देश की अधीश्वरी हो जाती है ।

तत्त्वतः जो राधा है वही मीरा है । वह 'सनातन नारी' का प्रतीक है । इसीलिए अब भी अन्तर्देश की रानी (The queen of the dark chamber) का एक ही स्वर है—

सुरतवर्धनं शोकनाशनम्
स्वस्तिवेणना सुष्ठुचुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर ! नस्तेऽधरामृतम् ।

उपसंहार

हमने संक्षेप में देख लिया कि भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रति में सबसे अधिक की परितुष्टि एवं संतृप्ति श्रीकृष्ण में ही विशेष रूप से होती है। मधुर रति, जो सर्वोपरि है, केवल श्रीकृष्ण में ही परितृप्त होती है। अन्य उपास्य देवों में शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य के उपकरण हैं, परन्तु श्रीकृष्ण में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—पाँचों पूर्णतः प्रस्फुटित हुए हैं। कृष्ण में सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, लावण्य एवं मोहकता के सम्पूर्ण उपादान प्रस्तुत हैं। भगवान् राम के लिए हमारे हृदय में दास्य से होता हुआ कठिनाई से सख्य-भाव प्रतिष्ठापित हो सकता है। परन्तु श्रीकृष्ण में हम शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य से होते हुए मधुर भाव तक पहुँच जाते हैं और उन्हें अपना प्राण-वल्लभ 'पति' मानकर उनकी अनन्त भुवन-मोहिनी छवि पर पत्नी भाव से अपने को समर्पित कर सकते हैं। इसके लिए श्रीकृष्ण-भक्ति में क्षेत्र खुला हुआ है।

हम पहले ही सनत्कुमार तंत्र का वह श्लोक उद्धृत कर चुके हैं जिसमें साधक सिद्धदेह या भावदेह से गोपी-भाव या व्रज भाव में अपने को परम रूपवती, यौवनसम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में भावना करता है। इस भावदेह में तनिक भी संभोग की वासना नहीं है। इसमें केवल सेवावासना है। जो शृङ्गार लोक में निन्दित माना जाता है वही भगवान् के साथ सम्बन्धित होने से परम दिव्य हो जाता है—वह स्वयं भगवान् का स्वरूप है, स्वयं आत्मा का धर्म है। वह इन्द्रियातीत है; धर्म-अर्थ-काम मोक्ष—इस चतुर्वर्ग से परे है, अतएव पंचम पुरुषार्थ है।

बृहदारण्यक उपनिषद् का 'स एकाकी न रमते, सद्वितीयमैच्छत्···यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इमवात्मानंद्विधापातयत्' से स्पष्ट है कि प्रेम की प्यास उधर ही थी और उसकी परितृप्ति के लिए, उसी प्रणय-लीला के लिए यह सारा पसारा हुआ। इसीलिए मैं ऊपर कह आया हूँ कि मधुर रति ही आत्मा का निज धर्म है, सहज स्थिति है। क्षेमराज ने एक बहुत प्राचीन उद्धरण इस सम्बन्ध का दिया है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनः।

इस दाम्पत्य रति में भी स्वकीया की अपेक्षा परकीया का भाव श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि स्वकीया में तो मिलन में कोई कठिनाई या विघ्नबाधा नहीं होती। प्रेम बाधा पाकर ही खिलता है और तभी इसमें 'दुस्त्यज स्वजन-आर्यपथ' का परित्याग कर श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वात्म समर्पण का सौन्दर्य निखर आता है। स्मरण रहे यह प्रेम 'सर्वथा कामगंधहीन' होता है, काम की गन्ध भी इसमें नहीं होती।

वैष्णव-धर्म के कान्त भाव से भक्ति करनेवालों का मुख्य रूप से यही सिद्धान्त है। पूर्ण आनन्द-दायक आकर्षण सत्तायुक्त चिद्घनस्वरूप परम तत्त्व का नाम श्रीकृष्ण है। इस परम तत्त्व की ओर आकृष्ट चित्कण-स्वरूप जीव समुदाय की जो आकर्षण-क्रिया है उसीका नाम भक्ति है।[1] इसी भक्ति की परिभाषा श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-रसामृत सिंधु' में इस प्रकार दी है—

अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् एक श्यामसुन्दर के अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक एवं पारलौकिक विषयों की अभिलाषा से शून्य होकर, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत रहकर श्रीकृष्ण के अनुकूल उसकी सेवा करना उत्तमा भक्ति है। 'नारद-सूत्र' में भी इसी परम भक्ति का स्वरूप गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाली, अविच्छिन्न अत्यन्त सूक्ष्म, और अनुभवरूप बतलाया गया है। परम भक्ति की सीमा का छोर 'प्रेम' में विलय हो जाता है। सब-कुछ श्रीकृष्णमय, सर्वं खल्विदं श्रीकृष्णः। उस स्थिति को प्राप्त कर भक्त की संज्ञा प्रेमी की हो जाती है और भक्ति की परिणति प्रेम में हो जाती है। उस समय प्रेमी सब-कुछ में श्रीकृष्ण को ही सुनता है, श्रीकृष्ण ही बोलता है और श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करता है। कृष्ण के अंग-अंग से छलकते हुए मधु को पीकर वह उन्मत्त हो उठता है। इस रस में रूप-माधुर्य के आधारभूत श्रीकृष्ण ही एकमात्र विषयालम्बन हैं और व्रजांगनाएँ आश्रयालम्वन हैं। इसमें वंशीध्वनि, वसन्त ऋतु, कोकिला-स्वर, नव जलधर और केकीकंठ इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं और कटाक्ष, हास्य, नृत्य आदि अनुभव हैं।

रसनिष्ठ साधक अपने ही अंदर सारी लीला देखते हैं; व्रजमण्डल, वंशी-

---

१. कर्षति आत्मसात्करोति आनन्दत्वेन परिणमयति मनो भक्तानां इति यावत् स कृष्णः। गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षण वर्द्धमानं अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपं। तत्प्राप्य तदेव शृणोति तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति' —नारद-सूत्र।

वट, यमुनापुलिन, राधारानी, श्रीकृष्ण आदि अपने ही अन्दर वे देखते हैं—

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोही में बसत सदा
जमुना तरंग श्याम रंग अबलीन की।
चहुँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजन अलीन की॥
बंशीवट-तट नटनागर नटत मो में
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की॥
तनक-तनक ता में खनक चुरीन की॥

कान्त रति में पत्नी पति की सहचरी भी है, अनुचरी भी। सेज पर पति के परम प्रेम की रसास्वादिनी भी है, चरण चापनेवाली दासी भी। वह पति के अधरामृत की भी अधिकारिणी है और चरणामृत की भी। उसका समर्पण सर्वांगीण है। वह अपने को अपना सब-कुछ देकर परम प्रियतम को पूरा-पूरा पा लेती है—'ये यथा मांप्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्हम्।' उसमें वह किसी प्रकार के प्रयास का अनुभव नहीं करती। समुद्र की अथाह जल-राशि में जाकर, जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम और रूप को लय कर देती हैं, अपने प्रवाह एवं लहर को अपने प्राणवल्लभ की अनन्त जल-राशि में डुबो देती हैं, उसी प्रकार पत्नी भी पति की प्रीति में अपनी प्रीति को लय कर देती है। पत्नी के सभी भावों की पूर्ण परितृप्ति पति में हो जाती है। सम्मान, अति आदर, प्रीति, विरह, तदीयता आदि के भाव पूर्णतः परितुष्ट होते हैं जिसे शांडिल्य ने अपने सूत्रों में विशद विवेचन के साथ प्रकट किया है[1]।

इसी परम-भावनापूर्ण भक्ति को ही 'सा त्वस्मिन् (कस्मै) परम प्रेम रूपा' कहा है। शांडिल्य ने स्पष्टतः कहा है कि ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही 'प्रेम' है। इस बात को प्रकट करने की आवश्यकता न रह गई कि इस परम प्रेम-स्वरूपा भक्ति में कैवल्य मोक्ष आदि की ओर कभी ध्यान भी नहीं जाता। वह 'रात-दिन चोखे-चोखे, बसिया समाई देखें' अपने अन्तस् में 'उसके' पावन, मधुर, शीतल, सुखद विद्युत्-स्पर्श का अनुभव करता है। इस आत्म-समर्पण के आनन्द के सम्मुख मोक्ष का आकर्षण कैसा ?—

'यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्ष-साम्राज्य लक्ष्मीः।'

---

१. सम्मान, बहुमान प्रीति विरहेतर विचिकित्सा महिमाख्याति तदर्थ प्राण स्थान तदीयता, सर्वत्र तद्भावाप्रातिकूल्यादीनि न स्मरणेभ्योः वाहुल्यात्। सा परानुरक्तिरीश्वरे—शांडिल्य सूत्र।

परन्तु शाश्वत प्रेम की यह अनुभूति विरह में उद्दीप्त एवं जागृत रहती है। मिलन इसके आनन्द को हलका और सतही कर देता है। विरह के झीने पट से छन-छनकर आती हुई मिलन की सुषमा को हमारा हृदय प्रत्यक्ष अनुभव करता है। महामिलन की उत्सुकता और विरह की वेदना दोनों हमारे हृदय में लिपटे सोते हैं—बड़ी विचित्र स्थिति है—

बाहिरे विष ज्वाला हय, भितरे आनन्दमय
कृष्ण-प्रेमार अद्भुत चरितामृत।
एर प्रेमार आस्वादन तप्त इक्षुचर्बण
मुख ज्वले ना पाय त्यजन॥
एई प्रेमार मने, तार विक्रम सेई जाने
विषामृते एकत्र मिलन।

बाहर तो विष की ज्वाला है और भीतर आनन्दमय है। यह आस्वादन तो गरम गन्ना चूसने की भाँति है। मुख जलता है परन्तु छोड़ने का जी नहीं चाहता। जिसके हृदय में यह प्रेम होता है वही उसका महत्त्व जानता है। इसमें विष और अमृत का अपूर्व मिलन है।

जायसी ने भी कहा है कि विरह की आग में जलते-तपते रहते भी बाहर आने को जी नहीं चाहता—

लागिऊ जरै, जरै जस भारू,
फिरि फिरि भूँजेसि तजिऊँ न बारू।

वह मुझे विरह की आग में जला रहा है, फिर भी यह यंत्रणा इतनी सुखद है कि बार-बार इसी में हृदय लौट पड़ता है, विमुक्त होना नहीं चाहता। प्रेम की यह चिरजाग्रत ज्वाला जो विरह की धुँधुआती अग्नि से प्रकट होकर गगनचुम्बी लपटों में बल उठती है, भक्तों के प्रेमदीवाने हृदय का मुख्य आधार एवं अवलम्ब है। यह न जाग्रति ही है न सुषुप्ति ही, न सुख ही है न दुःख ही। अपनी एक निराली अवस्था है जिसका कोई नाम नहीं। स्वप्न में बस एक बार मीरा ने अपने अधरों पर 'उसके' चुम्बन का स्पर्श अनुभव किया था, फिर जब वह उस दिव्य स्पर्श-सुख से जगी तो 'वह' छलिया गायब।

सोवत ही पलका में मैं तो पलक लगी पल में पीव आए।
मैं जो उठी प्रभु आदर दैण कूँ जाग परी पिव ढूँढ़ न पाए।
और सखी पिव सोइ गमाये, मैं जू सखी पिव जागि गमाए।

'प्रसाद' जी के शब्दों में मीरा की बस एक ही 'शिकायत' है—

दुख क्या था तुम को मेरा जो सुख लेकर क्यों भागे।
सोते में चुंबन लेकर जब रोम तनिक-सा जागे।'

प्रेमी अभी अपने प्राणवल्लभ से मिलने ही वाला था, स्वप्न में 'उस' के चुम्बन को प्रेमी ने अपने अधरों पर अनुभव भी कर लिया था, आँखें खोलकर, एक बार, बस एक बार अपनी भुजलताओं में बाँधने ही चला था कि वह 'छलिया' खिसक गया और उस अल्हड़ पागल प्रणय को जीवनपर्यन्त, अनन्त काल के लिए विरह के हाथ सौंपकर 'अदृश्य' में अन्तर्धान हो गया। यह अनन्त विरह ही, उस 'न मिलनेवाले' से मिलने की उत्सुकता ही, जीवन का यह सम्पूर्ण अनुराग ही, जो एकोन्मुख होकर प्राण-वल्लभ के लिए तड़प रहा है, घुट रहा है, मीरा के दर्दभरे आर्द्र गीतों का प्राण है। विरह की एक-एक सिहरन में, एक-एक आह में, जीवन की अतृप्त आकांक्षा, प्राणों की अधूरी लालसा अपने समर्पण की अन्तिम घड़ियों में निर्वाण पाती हुई भी एक विचित्र आभा, एक अपूर्व ज्योति का आलोक इस वसुन्धरा में छिटका जाती है। दीपक की लौ पर शलभ के जलते समय एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है। वंशी की तान पर मुग्ध मृग अपनी मृत्यु में भी अमरत्व पाप्त कर लेता है। कमल में बंद भ्रमर के प्राण जब घुटने लगते हैं उस समय भी उसका प्रणय-संगीत छिड़ा रहता है, आनन्द-प्रवाह चलता रहता है। मृत्यु प्रेम के स्रोत को बाँध नहीं सकती, रोक नहीं सकती। प्रेम परमात्मा की भाँति अजर है।

काव्य और प्रेम दोनों नारी-हृदय की सम्पत्ति हैं। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुतः नारी का हृदय ही है। प्रेम एवं काव्य-संवेदन अनुभूति के अंगज हैं। नारी-हृदय संवेदनशील, भाव-प्रवण होता है। नारी पुरुष की अपेक्षा, स्वभावतः, जन्मतः विशेष कोमल-हृदय होती है। वह प्रेम की वेदना को पूरी तरह अनुभव कर सकती है। वह प्रेम में तिल-तिलकर जलना जानती है। पुरुष का चिन्तनशील ज्ञानाश्रित जीवन प्रेम एवं काव्य की तह में पूर्णतः प्रवेश नहीं कर पाता। पुरुष विजय का भूखा होता है, नारी समर्पण की। पुरुष लूटना चाहता है, स्त्री लुट जाना। पुरुष में जिगीषा है, स्त्री में बलिदान। नारी-हृदय पुरुष से अधिक सुसंस्कृत, सभ्य, कोमल, भाव-प्रवण, संवेदनशील एवं अनुभूतिशील होता है। इसी हेतु व्यक्ति का 'स्त्रीत्व' ही कविता और प्रेम का अधिकारी है। प्रत्येक पुरुष में स्त्री और प्रत्येक स्त्री में पुरुष रहता है। पुरुष का हृदय जब आर्द्र और भावुक होता है उस समय वह प्रेम एवं कविता का आस्वादन करता है और उस समय वह 'स्त्री' रहता है।

इस प्रकार मीरा का हृदय इस परम प्रेम की आनन्दानुभूति के लिए सर्वथा उपयुक्त था। वह नारी थी ही, साथ ही प्रेम की आराधना करनेवाली

भाव-प्रवण सनातन नारी; वह नारी जो युग-युग से, जन्म-जन्मान्तर से परम पुरुष के प्रेमालिंगन का सुख पा 'उसे' सर्वथा अपनाने के लिए व्याकुल जलती चली आ रही है। वह कभी भी पूरी तरह 'उसे' पा सकेगी, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यहाँ तो खोजना और खोजते ही जाना, खोज में ही खो जाना, इस पथ के पथिकों का एकमात्र पाथेय है। संसार के सभी बन्धन स्वयं ही कट जाते हैं। वस्तुतः यह तो प्रवृत्ति का मार्ग है, सचमुच 'खाला का घर' है। इस प्रवृत्ति-पथ में 'सब जग सियाराममय' हो जाता है। सारे नाते 'सर्वभूतमय हरि' से ओतप्रोत हो जाते हैं। सब-कुछ 'प्रीतम' का संदेश-वाहक, सभी-कुछ 'पिय' का संकेत लिये हुए। वह पहचानी हुई 'पग-ध्वनि' बराबर सुनाई पड़ती है और साधक कह देता है—'चाहे तुम न मिलो पर तेरी आहट मिलती रहे सदा'। यहाँ सभी मनोराग श्रीकृष्णोन्मुख हो जाते हैं। इसीलिए यहाँ असाधन ही परम साधन है।

हाँ, तो मीरा के लिए, केवल मीरा के लिए ही इस 'परम भाव' का मार्ग राजपथ-सा खुला रहा; न कोई बाधा थी न व्यवधान। मीरा ने सच्चे हृदय से 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई' कहा। 'तुम बिन मेरो और न कोई' कहकर मीरा अपने गिरधर गोपाल के चरणों में गिरी और उसके ही हृदय ने 'पिया बिना रह्योई न जाय' की तीव्र वेदना को पूरी तरह अनुभव किया। हृदय की इसी मूल प्रेरणा से ही 'साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक-लाज तजि नाची'। फिर भी इस अल्हड़ प्रेम-तपस्विनी का रोना 'प्रिय बिना सूनो छै जी म्हारो देश' आजीवन बना ही रहा। इसीको 'मानव के हृदय पर परमात्मा का चुम्बन' 'Divine kiss on human breast' कहते हैं। मीरा के गीत गीत के लिए नहीं हैं। वह गाती है क्योंकि गाये बिना उसे रहा नहीं जाता। इन गीतों में वेदना का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। इन गीतों में बहते हुए प्रेम के स्वच्छ सोते में एक बार अवगाहन कर लेने वाले प्रेम के अमृत का पान कर कुछ पागल-से हो जाते हैं। उस प्रेम के मधुर आकर्षण के सम्मुख कुल-कानि या लोक-लाज की क्या हस्ती?

मीरा की तुलना किससे की जाए? जायसी कथाच्छलेन, अपने रहस्योन्मुख प्रेम पर कहानी की एक झीनी चादर डालकर अपने 'प्रेम की पीर' को प्रकट कर रहे हैं। सूर के हाथ में गोपियाँ हैं। भवभूति के हाथ में सीता है, कालिदास के हाथ में शकुन्तला है, भग्नमनोरथा सती है। मीरा का किसी कवि से मिलान करना मीरा के परम प्रेम का अनादर करना है। मीरा कवि के रूप में, गायक के रूप में हमारे सम्मुख नहीं आती, श्रीकृष्ण की परम साध्वी अन्तरंगिनी सखी के रूप में, प्राणप्रिया हृदयेश्वरी के रूप में आती है।

मीरा की तुलना केवल राधा से ही की जा सकती है, केवल राधा से।

परन्तु राधा ने तो रास का रस पाया था। उसे तो श्यामसुन्दर का आलिंगन एवं परिरंभण का अमृत मिला था। राधा को तो नटनागर के चले जाने पर उद्धव के भी दर्शन हुए। परन्तु मीरा ? इस परम तपस्विनी अल्हड़ साधिका के अधरों पर स्वप्न में उस 'निठुर' ने अपने एक चुम्बन की मधुधार ढाली थी। चुम्बन की उस अमर सिहरन और कसकीले दाग को ही मीरा ने परम विभूति मानकर, उसको पावन 'प्रसाद' मानकर अपने जीवन को प्रेम के पारावार में घुला दिया, लय कर दिया। स्वप्न के बाद जो जागृति आई उसमें अवधिहीन, अनन्त विरह की दारुण अथच मधुर ज्वाला हृदय में आमरण धधकती रही। उसमें मनुष्य की निर्वासित आत्मा का अपने प्रभु से मिलने के लिए आकुल उच्छ्वास एवं अनन्त विरह का दिव्य संकेत है।

ग्रीस देश में ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में सैफो (Sapho) नाम की ऐसी ही प्रेम-पुजारिन हुई। इसी प्रकार सेन्ट टेरेसा (St. Teresa) प्रसिद्ध ईसाई भक्तिन हो गई है। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों में गोदा भी प्रेम की एक मधुमाती गायिका हो गई है। मीरा, गोदा, टेरेसा, सैफो और रबिया प्रेम-साधना के चिर-जागृत प्रदीप हैं, जिनकी प्रणय-ज्योति से भक्ति का पथ अब भी जगमगा रहा है।[1]

भारतवर्ष का अणु-अणु राधा और मीरा की प्रीति से रससिक्त है। अब भी भक्ति और प्रेम में अनन्यता तथा सर्वात्म श्रीकृष्णार्पण की जहाँ चर्चा होती है वहाँ बड़े ही उल्लास से मीरा का नाम लिया जाता है। मीरा प्रेमियों में शिरोमणि है। जीव-जीव के हृदय-वृन्दावन में पैरों में घुंघरू बाँधे, हाथ में करताल लिये प्रेम-विह्वल नारी अनादि-काल से व्याकुल गाती आ रही है—

हे री ! मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की किस विध मिलणा होय ?

प्रेम-साधना में शायद 'प्राप्ति' का कोई अर्थ नहीं। विरह के आनन्द के सम्मुख प्राप्ति में कौन सा आनन्द ? पाकर हम क्या करेंगे ? कहा रखेंगे ? हमारे भीतर मिलन की उत्कण्ठा बनी रहे, प्रेम की पीर बनी रहे, हमारी खोज चलती चले—इसके आगे फिर और चाहिये क्या ?

---

[1] The bride of the soul must be patiently waiting before the divine bridegroom can visit her—but light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts, and to be united with Him in His consoling and all absorbing embrace.

—*Eastern Light*

बनी रहे हिय मधुर वेदना
बहते रहें अश्रु-निर्भर।
व्याकुल प्राण सदा तेरे—
दर्शन हित बने रहें नटवर!
सदा खोजता जाऊँ मैं
पर तू अनन्त में मिलता जा।
आतुर आँखों से ओझल हो
झिलमिल सा तू हिलता जा।

० ० ०

यों छक कर इस खोज ढूँढ़ से
करने लगें कूच जब प्राण।
बिना प्रयास भाव - वैभव से
गूँज उठे हिय - तन्त्री - तान!
रिमझिम बजती पाँय पैंजनी
मुरली मधुर बजाते नाथ!
आ हिय आँगन लगो नाचने
हम भी नचैं तुम्हारे साथ!!

विनय

[१]

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।
तात मात भ्रात बन्धु अपना नहिं कोई ।
छोड़ दई कुल की कानि क्या करिहै कोई ।।
चुनरी के किये टूक ओढ़ लीन लोई ।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई ।।
अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेलि बोई ।
अब तो बेल फैल गई आनन्द फल होई ।।
दूध की मथनिया, बड़े प्रेम से बिलोई ।
माखन जब काढ़ि लियो छाछ पिये कोई ।।
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई ।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोहीं ।।

[२]

मेरे तो एक रामनाम दूसरो न कोई ।
दूसरो न कोई साधो सकल लोक जोई ।।
भाई छोड्या बन्धु छोड्या छोड्या सगा सोई ।
साध संग बैठ - बैठ लोकलाज खोई ।।

---

[१] इस पद में 'क्या करिहै कोई' तथा अगले पद में 'होनी हो सो होई' में मीरा ने कितनी निर्भीकता के साथ इस जगत् को ललकारा है । आँसुओं के जल से सींची हुई प्रेम-बेलि लहलहा उठी और उसकी सुगन्ध चारों ओर फैल गई है, अब इसे छिपाया भी जाए तो कैसे ? इन पदों में मीरा की अपूर्व निष्ठा एवं एकान्त आश्रय स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है ।

This love has affinity to honey which is sweet by itself makes other things sweet and flows of its own accord.

[२] प्रिय के नाम का आश्रय प्रेम-साधना का एक मुख्य आधार है । हाँ, इस नाम में कोई तर्क या मुक्तिलाभ आदि हेतु नहीं है। यह प्रिय का प्रेममय

भगत देख राजी हुइ जगत देख रोई।
भगत सदा सीस पर राम हृदय होई॥
दधि मथि घृत काढ़ि लियो डार दई छोई।
राणा विष का प्याला भेज्यो पीय मगन होई॥
अब तो बात फैल पड़ी जाणे सब कोई।
मीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई॥

[३]

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ।
झूठे धन्धों से मेरा फन्दा छुड़ाओ॥
लुटे ही लेत विवेक का डेरा।
बुधि बल यदपि करूँ बहुतेरा।
हाय - हाय कछु नहिं बस मेरा।
मरत हूँ दिवस प्रभु धाओ सबेरा॥
धर्म उपदेश नितप्रति सुनती हूँ।
मन कुचाल से भी डरती हूँ॥
सदा साधु - सेवा करती हूँ।
सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ॥
भक्ति मारग दासी को दिखलाओ।
मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ॥

स्मरण है, इसमें किसी प्रकार का 'हठयोग' नहीं है, यहाँ तो सम्बन्ध-स्थापना के बाद प्रिय के रूप का ध्यान और उनके मधुर नाम की स्फूर्ति हृदय के अन्तःपुर में स्वतः हुआ करती है।

[३] इस पद में खड़ी बोली का एक बहुत ही सुथरा रूप आता है। साधक जब प्रभु के पथ में चलता है तो उसे नाना प्रकार के विघ्नों और बटमारों का सामना करना पड़ता है और कई बार वह अब हारा तब हारा-सा हो जाता है। जगत् के प्रलोभन बहुत दूर तक चलते हैं और अपनी मोहिनी माया से साधक को पथभ्रष्ट कर देना चाहते हैं। ऐसी ही लाचारी के क्षण में साधक भगवान् को पुकार उठता है और उसे पुकारते ही भगवदीय शक्ति उसकी सहायता में लग जाती है।

There must be a total and sincere surrender, there must be an exclusive self-opening to the Divine power, there must be a constant integral choice of the Truth that is descending a constant and integral rejection of the falsehood of the mental, vital and physical powers and appearances that still rule the earth-nature.

— Mother

[४]

मन रे परसि हरि के चरण ।।
सुभग शीतल कँवल कोमल त्रिविध-ज्वाला हरण ।
जिण चरण प्रह्लाद परसे इन्द्र पदवी धरण ।।
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हे, राखि अपनी सरण ।
जिण चरण ब्रह्मांड भेंट्यो नखशिखाँ सीरी धरण ।।
जिण चरण प्रभु परसि लीने तरी गोतम धरण ।
जिण चरण कालीनाग नाथ्यो गोपीलीला करण ।।
जिण चरण गोबर्द्धन धार्यो गर्व मघवा हरण ।
दासि मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरण ।।

[५]

सुण लीजो विनती मोरी मैं सरण गही प्रभु तोरी ।।
तुम (तो) पतित अनेक उधारे भवसागर से तारे ।
मैं सबका तो नाम न जानूँ कोई कोई नाम उचारे ।।
अंबरीष सुदामा नामा तुम पहुचाये निज धामा ।

---

[4] "Ind Go's love no virtue is uplifting no voice is degrading. The generic impulses and desire bind man outwardly in social life and relationships but it is these which at the same time quicken contemplation. Hence the passionate soul alone can be a true mystic and for him love, truth and beauty reveal themselves in man's daily relationships and concrete experiences with fellow-men.

—*Theory and Art of Mysticism*, 238

भक्त पहले भगवान् के चरणामृत का ही पान करता है और फिर अधरामृत का अधिकारी होता है। भक्त की दृष्टि पहले भगवान् के चरणों पर ही जाती है और वह वहाँ अपने मन-प्राण का शीतल मधुर आश्रय पाकर कृतकृत्य हो जाता है। मीरा के मन में श्रीकृष्ण की मोहिनी मूर्ति उमँग आई है, मीरा ध्यान-नेत्रों से एकटक उन सुभग, शीतल, कमल-कोमल तथा त्रिविध तापों को मिटा देनेवाले प्यारे-प्यारे चरणों की शीतल-स्निग्ध आभा को देख रही है और मन से कह रही है कि रे मन ! हरि के इन चरणों का स्पर्श कर। सहज ही मीरा को गौतम-पत्नी अहल्या का स्मरण हो आता है—अभिशाप की ज्वाला में जलती हुई शिला प्रभु के चरणों का स्पर्श पाकर जी उठी। भगवान् के चरणों की महिमा इस पद में एक ही स्थान पर बड़े ही सजीले शब्दों में गायी गई है।

ध्रुव जी पाँच बरस को बालक तुम दरस दिये घनस्यामा ॥
धना भगत का खेत जमाया कबिरा का बैल चराया ।
सबरी का झूठा फल खाया तुम काज किये मनभाया ॥
सदना औ सेना नाई को तुम कीन्हा अपनाई ।
करमा की खिचड़ी खाई तुम गनिका पार लगाई ॥
मीरा प्रभु तुमरे रंग राती या जानत सब दुनियाई ॥

[६]

मैं तो थारी सरण परी रे रामा ज्यूँ तारे त्यूँ तार ।
अड़सठ तीरथ भ्रम भ्रम आया मन नहिं मानी हार ॥
या जग में कोई नहिं अपना सुणियो श्रवण मुरार ।
मीरा दासी राम भरोसे जम का फंदा निवार ।

[७]

बसो मेरे नैनन में नँदलाल ॥
मोहनि मूरति साँवरी सूरति नैणा बने बिसाल ।
अधर सुधा रस मुरली राजति उर बैजंती माल ॥
छुद्र घंटिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल ।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल ॥

[८]

थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ
मैं हाजिर नाजिर कदकी खड़ी ॥
साजनियाँ दुसमण होय बैठ्या
सबने लगूँ कड़ी ।

---

[7] "Finding her delight and Strength in Him the soul gains the vigour and confidence which enable her easily to abandon all other affections. It was necessary in her struggle with the attractive force of her sensual desires, not only to have this love for the Bridegroom, but also to be filled with a burning fervour full of anguish".

—*St. John of the Cross.*

[8] "When God loves a man, He endows him with a bounty like that of the sea, a sympathy like that of the sun and a humility like that of the earth. No suffering can be too great, no devotion too high for the piercing insight and burning faith of a true love."

—*Bayazid Bastami.*

तुम बिन साजन कोई नहीं है।
डिगी नाव मेरी समद अड़ी ॥
दिन नहिं चैन रैण नहिं निदरा
सूखूं खड़ी खड़ी ।
बाण बिरह का लग्या हिये में
भूलूं न एक घड़ी ॥
पत्थर की तो अहिल्या तारी
बन के बीच पड़ीं ।
कहा बोझ मीरा में कहिए
सौ पर एक पड़ी ॥

[९]

हरि तुम हरो जन की भीर ॥
द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि धर्यो आप सरीर ।
हरणाकुस मारि लीन्हौ धर्यो नाहिं न धीर ।
बूड़तो गजराज राख्यौ कियो बाहर नीर ॥
दासि मीरा लाल गिरधर चरण कँवल पै सीर ।[1]

[१०]

अब मैं सरण तिहारी जी मोहि राखौ कृपानिधान ।
अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान ॥

---

[9] When our lamp is lit we find the house of our being has many chambers and there an corridors there leading into the hearts of others and windows which open into eternity and we can hardly tell where our own being ends and another begins or if there is any end to our being. If we brood with love upon this myriad unity to let our mind pervade the whole wide world with heart of love we come more and more to permeate or to be pervaded by lives of others.

—George Russel

१. पाठान्तर 'दुख जहाँ तहँ पीर'—अर्थात् जब-जब भक्तों पर भीर पड़ती है तो भगवान् का हृदय पीड़ा से विकल हो जाता है और भक्त का दुःख भगवान् से देखा नहीं जाता। सूरदास का 'हौं भक्तन के भक्त हमारे' पद मिलाइये।

जल डूबत गजराज उबारे गणिका चढ़ी बिमान ।
और अधम तारे बहुतेरे, भाखत सन्त सुजान ॥
कुबजा नीच भीलणी तारी, जाणै सकल जहान ॥
कहँ लग कहूँ गिणत नहिं आवै थकि रहे वेद पुरान ।
मीरा दासी सरण तिहारी, सुनिये दोनों कान ॥

[११]

प्रभु जी मैं अरज करूँ छूँ मेरो बेड़ो लगाज्यो पार ॥
इण भव में मैं दुख बहु पायो संसा-सोग-निवार ।
अष्ट करम की तलब लगी है दूर करो दुख भार ॥
यों संसार सब बह्यो जात है लख चौरासी धार ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवागमन निवार ॥

[१२]

हरि बिन कूण गति मेरी ॥
तुम मेरे प्रतिकूल कहिये मैं रावरी चेरी ।
आदि अन्त निज नाँव तेरो हीया में फेरी ॥
बेरि-बेरि पुकारि कहूँ प्रभु आरति है तेरी ।
यौ संसार विकार-सागर बीच में घेरी ॥
नाव फाटी प्रभु पालि बाँधो बूड़त है बेरी ।
विरहणि पिव की बाट जोवै राखि ल्यौ नेरी ।
दासि मीरा राम रटन है मैं सरण हूँ तेरी ॥

[१३]

हमने सुणी छै हरि अधम उधारण ।
अधम उधारण सब जग तारण, हमने सुणी छै० ॥

---

[१२] राखि ल्यौ नेरी—भगवान् की सन्निधि ही भक्त का परम आनन्द है।

[१३] इस पद की अन्तिम दो पंक्तियों में 'बन्दी' शब्द का अर्थ बन्दिनी भी हो सकता है और बन्दा (भक्त, निजजन) का स्त्री-वाचक भी । मीरा अपने को प्रभु की 'बन्दिनी' मानती है, फिर भी दरसन में अबेर होते देख उसे सहसा गज, द्रौपदी, प्रह्लाद, अहल्या और सुदामा का स्मरण हो आता है जिनमें प्रभु की कृपा साक्षात् प्रकट हुई थी, फिर इनका नाम लेने के बाद मीरा अपने आप पूछती है—

मीरा के प्रभु मो बन्दी पर
एती अबेर भई केहि कारण ?

गज की अरजि गरजि उठि धाओ ।
संकट पड्यो तब कष्ट निवारण ॥
द्रुपदसुता को चीर बढ़ायो ।
दूसासन को मान मद मारण ।
प्रहलाद की प्रतग्या राखी,
हरणाकस नख उदर बिदारण ॥
रिखि पतनी पर किरपा किन्हीं,
बिप्र सुदामा की बिपति बिदारण ।
मीरा के प्रभु मो बंदी परि
एती अबेरि भई किण कारण ॥

[१४]

हरि मोरे जीवन प्रान अधार ।
और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूँ लोक मँझार ॥
आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरखाँ सब संसार ।
मीरा कहै मैं दासि रावरी दीज्यौ मती बिसार ॥

[१५]

रावलो बिड़द मोहिं रूठा लागे, पीड़ित पराये प्राण ।
सगो स्नेही मेरी और न कोई, बैरी सकल जहान ॥
ग्राह गह्यो गजराज उबारयो बूड़ न दियो छे जान ।
मीरा दासी अरज करत है नहिं जी सहारो आन ॥

[१६]

हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को ।
मोर मुकुट माथे तिलक बिराजै कुण्डल अलकाकारी को ।
अधर मधुर पर बंसी बजावै रीझ रिझावै राधा प्यारी को ।
यह छबि देख मगन भई मीरा मोहन गिरवरधारी को ।

---

[14] Prayer in this wide sense is the very soul and essence of religion for religion is an intercourse, a relation entered into by a soul in distress with' the mysterious power which it feels itself to depend. This intercourse with God is realized by prayer. Prayer is religion in act; that is, prayer is real religion. Wherever this prayer rises and stirs the soul we have living religion. *The Varieties of Religion Experiences, 464.*

[१६] 'रीझ रिझावै राधा प्यारी को'—आज सागर स्वयं नदी को रिझाने के लिए उमड़ पड़ा है। श्रीकृष्ण आज राधा के रूप पर मुग्ध होकर

[१७]

तनक हरि चितवौ हमरी ओर ।
हम चितवत तुम चितवत नाहीं दिल के बड़े कठोर ॥
मेरे आसा चितवनि तुमरी और न दूजी दोर ।
तुमसे हम कूँ एक हो जी हमसी लाख करोर ।
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ अरज करत भयो भोर ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी देस्यूँ प्राण अकोर ॥

[१८]

राम मोरी बाँहड़ली जी गहो ।
या भव सागर मँझधार में थें ही निभावण हो ।

उन्हें रिझा रहे हैं, मना रहे हैं। यह मनुहार-लीला भक्तों का प्राण है जिनमें स्वयं भगवान् अपनी सारी भगवत्ता छोड़कर भक्त के चरण में लौटते हैं और मनाते हैं। मालूम होता है, वृन्दावन आ जाने के बाद मीरा अपने को राधारानी से अलग न पा सकी, राधा-रूप हो गई, यह देख रही है कि प्यारे ने जो आज इतना सुन्दर शृंगार किया है वह केवल मुझे रिझाने के लिए ही, बलात् अपने प्यार का मधु पिलाने के लिए ही।

[17] She feels an extraordinary loneliness, finds no among companionship in any earthly creature; nor could she I believe those who dwell in heaven, since they are not her Beloved. Meanwhile all company is torture to her. She is like a person suspended in mid-air who can neither touch the earth, nor mount to heaven. She burns with a consuming thirst and cannot reach the water. And this is a thirst which cannot be borne, one which nothing will quench nor would she have it quenched with any other water than the one that is denied her.

—*St. Teresa*

[१८] सभी अवगुण गुण नहि कोई ।
क्यों करि कंत मिलावा होई ॥
ना मैं रूप न बंके नैणा ।
ना कुछ ढंग न मीठे वैणा ॥
सहज सिंगार कामिनि करि आवै ।
ता सुहागिनि जा कंत भावै ॥ —नानक

मन परतीत न प्रेम रस ना इस तन में ढंग ।
क्या जानूं उस पीवसूं कैसे रहसी रंग ॥ —कबीर

म्हां में औगण घणा छे ही प्रभुजी थें ही सहो तो सहो।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी लाज बिरद की वहो॥

[१९]

तुम सुणो दयाल म्हाँरी अरजी।
भवसागर में बही जात हूँ काढ़ो तो थाँरी मरजी।
इण संसार सगो नहिं कोई साँचा सगा रघुबर जी॥
मात पिता और कुटुम कबीलो सब मतलब के गरजी।
मीरा की प्रभु अरजी सुण लो चरण लगावो थाँरी मरजी॥

[२०]

मेरो मन बसिगो गिरधरलाल सों।
मोर मुकुट पीताम्बर हो गल वैजन्ती माल॥
गउवन के संग डोलत हो जसुमति को लाल।
कालिंदी के तीर हो कान्हा गउवाँ चराय॥
सीतल कदम की छहियाँ हो मुरली बजाय॥
जसुमति के दुवरवां हो ग्वालिन सब जाय।
बरजहु आपन दुलरवा हो हमसों अरुझाय॥
वृन्दावन क्रीड़ा करै हो गोपिन के साथ।
सुर नर मुनि मन मोहे हो ठाकुर जदुनाथ।
इन्द्र कोप घन बरखो मूसल जलधार॥
बूड़त ब्रज को राखे हो मोरे प्राण अधार॥
मीरा के प्रभु गिरधर हो सुनिये चित लाय।
तुम्हरे दरस की भूखी हो मोहि कछु न सुहाय॥

[२१]

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज॥
भवसागर संसार अपर बल जा में तुम हो जहाज।
निरधारां आधार जगत गुरु तुम बिन होय अकाज॥
जुग जुग भीर हरी भगतन की दीनी मोक्ष समाज।
मीरा सरण गही चरणन की लाज राखो महाराज॥

[२२]

म्हाँने चाकर राखो जी।
गिरधर लाल चाकर राखो जी॥

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।
बिंद्राबन की कुंज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ॥
चाकरी में दरसण पाऊँ सुमिरन पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातां सरसी॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला।
बिंद्राबन में धेनु चरावै, मोहन मुरली वाला॥
हरे-हरे नित बाग लगाऊँ, बिच-बिच राखूँ क्यारी।[1]
साँवरिया के दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारी॥
जोगी आया जोग करण कूँ, तप करणे संन्यासी।
हरी भजन कूँ साधू आया, बिंद्राबन के वासी॥
मीरा के प्रभु गहरि गंभीरा[2] हृदे रहो धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण दैहैं, [3]प्रेम-नदी के तीरा॥

[२३]

प्यारे दरसण दीज्यो आय
तुम बिन रह्योइ न जाय॥

---

१. पाठान्तर—ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच-बिच राखूँ बारी।

२. सदा।

३. यमुनाजी।

[२२] अपने जीवनधन के साहचर्य-सुख के लिए मीरा उनके बाग की मालिन बनने का अधिकार माँगती है जिसमें नित उठ दरसन का सुख मिला करे। यह दरसन ही उसकी मजूरी होगी, भगवान् का स्मरण उसकी खर्ची होगी और भाव भगति जागीर होगी। 'जोगी आया' आदि में योग और तप से भी बढ़कर भजन की महिमा बतायी गई है और साथ में वृन्दावनवास भी हो तो फिर क्या पूछना?

अन्त में मीरा अपने हृदय को ढाढस देती हुई समझाती है, रे हृदय, धैर्य रख, अपने प्रेम की बाती जलाये रख, आधी रात में जब चारों ओर सन्नाटा हो जाएगा तब प्रेमरूपी यमुना के तट पर प्राणाधार श्रीकृष्ण तुम्हें मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे।

[२३] 'क्यूं तरसावौ अन्तरजामी'—

"Think not that God will be always caressing. His children or shine upon their head or kindle their hearts as He does act the first. He does so only to lure us to Himself as the falconer lures the falcon with its gay hood..."

—*Taular*

जल बिन कमल चंद बिन रजनी
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी।
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन
बिरह कलेजो खाय ॥
दिवस न भूख नींद नहिं रैना,
मुख सूँ कहत न आवै बैना।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै
मिलकर तपन बुझाय ॥
क्यूँ तरसावो अन्तरजामी
आय मिलो किरपा कर स्वामी।
मीरा दासी जनम जनम की
पड़ी तुम्हारे पाय ॥

[२४]

पिया तेरे नाम लुभाणी हो।
नाम लेत तिरता सुण्या जैसे पाहन पाणी हो ॥
सुकिरत कोई ना कियौ, बहु करम कुमाणी हो।
गणिका कीर पढ़ावताँ बैकुण्ठ बसाणी हो ॥
अरध नाम कुंजर लियो वाको अवध घटानी हो।
गरुड़ छाँड़ि हरि धाइया पसुजूण मिटाणी हो ॥
अजामेल से ऊधरे जमत्रास नसानी हो।
पुत्र हेते पदवी दइ जग सारे जाणी हो ॥
नाम महातम गुरु दियो परतीत पिछाणी हो।
मीरा दासी रावली अपणी कर जाणी हो ॥

[२५]

म्हाँरे नैणां आगे रहो जी, स्याम गोबिन्द ॥
दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव को छान छबंद
दास धना को खेत निपजायो गज की टेर सुनंद ॥

---

[२४] "नाम महातम गुरु दियो…जाणी हो" श्री गुरुमुख से प्राप्त 'नाम' के द्वारा ही साधक के हृदय में भगवान् के लिए 'प्रतीति' होती है और इस प्रतीति से ही 'प्रीति' होती है, 'बिन परतीति प्रीति नहीं होइ'। इस प्रीति के उदय होते ही साधक का भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वह भगवान् का तथा भगवान् उसके हो जाते हैं।

भीलणी का बेर सुदामा का तन्दुल भर मुठड़ी बुकन्द।
करमा बाइ को खीचड़ अरोग्यो होइ परसण पावन्द॥
सहस गोप बिच स्याम बिराजे ज्यों तारा बिच चन्द।
सब संतों का काज सुधारा मीरा सूँ दूर रहंद॥

"In the emotional approaches to God the sense of a Divine presence is so strong that even the senses and desires are transmuted. The burden of sin is grievous; neither good deeds nor knowledge, neither yoga-meditation nor asceticism can avail against it. Only by the water of faith and love is the interior stain effaced."
—*Theory and Art of Mysticism*

रूप-राग

[२६]

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मन्द मुसकानी ॥
जमुना के नीरे तीरे धेनु चरावै बंसी में गावैं मीठी बानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूँ चरण कंवल मीरा लपटानी ॥

[२७]

निपट बंकट छवि अटके ॥
मेरे मैना निपट बंकट छवि अटके।
देखत रूप मदन मोहन को पियत मयूखन मटके ॥

---

[२६] जिस रूप पर मीरा का हृदय लुभाया है वह जगत् को लुभानेवाला है। इस सुन्दर रूप पर, इस बाँकी चितवन और मन्द-मन्द मुसकान पर कौन न लुट जाए ? और फिर यमुना के तीर पर गायों को चराते-चराते वह वंशी में मीठी बानी गाने लगता है—'नामसमेतं कृतसंकेतं बादयते मृदुवेणुम्'। कैसे न मीरा इस संकेतभरी मुरली के स्वर को सुनकर अपना तन, मन और प्राण उस गिरधर नागर पर न्योछावर करके उन्हीं के सुभग शीतल कमल कोमल त्रिविथज्वालाहरण चरणों से लिपट जाए ?

[26]-[40] 'Ravishing' says Rolle, as it is showed in two ways is to be understood. One manner, forsooth, in which a man is ravished out of fleshly feeling. Another manner of ravishing there is, that is lifting of mind into God by contemplation and this manner of ravishing is in all that are perfect lovers of God and in none of them but that love God.'

'Oh Wonder of wonders' cries Eckhart, when I think of the union the soul has with God ! He makes the enraptuerd soul to flee out of herself; for she is no more satisfied with any thing that can be named. Tne spring of Divine Love flows out of the soul and draws her out of herself into the unnamed Being into her first source which is God alone.

—*Eckhart, 'On the steps of the soul.'*

वारिज भवां अलक टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके ॥
मीरा प्रभु के रूप लुभानि गिरधर नागर नट के ॥

[२८]

जब से मोहि नंदनंदन दृष्टि पड्यो माई ।
तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई ॥
मोरन की चंद्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै ॥
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टौना ।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृगछौना ॥
सुंदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विसेखा ॥
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी ।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला-सी ॥
छुद्रघंट किंकनी अनूप धुनि सोहाई ।
गिरधर के अंग अंग मीरा बलि जाई ॥

[२९]

श्री गिरधर आगे नाचूंगी ।
नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जनकूँ जाचूंगी ।
प्रेम प्रीति की बाँधि घूँघरू सुरत की कछनी काछूँगी ।
लोक-लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी ।
पिव के पलंगा जा पौढ़ूँगी मीरा हरि रंग राचूँगी ।

[३०]

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आइ ।
रूँम रूँम नख सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाइ ।
मैं ठाढ़ी ग्रिह आपणे री मोहन निकसे आइ ॥

---

[29] All things then I forgot,
My cheek on Him who for my coming came.
All ceased and I was not
Leaving my cares and shame
Among the lilies, and forgetting them.

—*St. John of the cross*

बदन चंद परकासत हेली मंद मंद मुसकाइ ।
लोक कुटुंबी बरजि बरजि रहीं बतियाँ कहत बनाइ ।।
चंचल निपट अटक नहिं मानत परहथ गये बिकाइ ।
भली कहौ कोइ बुरी कहौ मैं, सब लई सीस चढ़ाइ ।।
मीरा कहे प्रभु गिरधर के बिन पलभर रह्यौ न जाइ ।।

[३१]

आली री मेरे नैणाँ बाण पड़ी ।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी ।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी ।।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ जीवन मूर जड़ी ।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगड़ी ।।

[३२]

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो करूँरी ।
तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण तेरो ही ध्यान धरूँ री ।।
जहँ जहँ पाँव धरूँ धरणी पर तहँ तहँ निरत करूँ री ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणाँ लिपट परूँ री ।।

---

[३१] एक बार, बस एक बार उस 'साजन' के दर्शन क्षण-भर के लिए हो पाए थे । वह 'माधुरी मूरत' आँखों की खिड़की से हृदय के अन्तःपुर में आ घुसी; उसे देखते ही लोक-परलोक की सारी लाज और सारे सम्बन्ध पटापट टूट गए और मीरा उसके हाथ बिक गई, अपना लोक-परलोक सब-कुछ उसके चरणों में निछावर कर दिया और अब लोग उसे 'बिगड़ी' कहते हैं, कहते रहें । भारतीय नारी के लिए लोक-लाज की तिलांजलि देना बहुत कठिन है; आर्यपथ का त्याग 'दुस्त्यज' कहा गया है, इसीलिए भगवत्प्रेम के पथ में यह बहुत बड़ी बाधा, बहुत बड़े विघ्न के रूप में खड़ा रहता है ।

[32] In my heart Thou dwellest, else with blood, will drench it. In mine eye Thou glowest, else with tears I will quench it Only to be one with Thee my soul desireth—
Else from out my body, I will wrench it

—*Abu Said*

'In the bridal chamber of Unity God celebrated the mystical marriage of the soul.'

—*The Mystics of Islam*

Jesus has come to take up his abode in my heart. It is not so much a habitation, or an association as a sort of fusion. Oh

[३३]

अस पिया जाण न दीजै हो।
तन मन धन करि वारणैं हिरदे धरि लीजै हो॥
आव सखी मुख देखिये नैनाँ रस पीजै हो।
जिह जिह बिधि रीझै हरि सोई विधि कीजै हो।
सुन्दर स्याम सुहावणा देख्याँ जीजै हो।
मीरा के प्रभु राम जी बड़ भागण रीझै हो॥

[३४]

मैं तो साँवरे के रंग राँची।
साजि सिगार बाँधि पग घुंघरू लोक लाज तजि नाची॥
गई कुमति लई साधु की सङ्गति भगत रूप भई साँची।
गाय गाय हरि के गुन निस दिन काल व्याल से बाँची॥
उण बिन सब जग खारो लागत और बात सब काँची।
मीरा श्री गिरधरन लाल सूँ भगति रसीली जाँची॥

[३५]

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
रैण पड़ै तबहीं उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैण दिना वाके संग खेलूँ ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ॥

---

new and blessed life, life which becomes each day more luminous. The wall before me darks few moments since, is splendid at this hour because the sun shines on it. Wherever its rays fall they light up a conflagration of glory, the smallest speck of glass sparkles, each grain of sand emits fire; even so there is a royal song of triumph in my heart because the Lord is there...

Formerly the day was dulled by the absence of the Lord. Today he is with me. I feel the pressure of his hand. I feel something else which fills me with a serene joy. Shall I dare to speak it out? Yes, for it is the true expression of what I experience. Thy Holy Spirit is not merely making me a visit, it is no more dazzling apparition which may from one moment to another spread its wings and leave me in my night. It is a permanent habitation. He can depart only if he takes me with him.

Quoted from the MS. 'of an old man' by Wilfred Monod.

जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ ।।
जित बैठावे तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ ।।

[३६]

मैं गिरधर रंग राती सैयाँ, मैं गिरधर रंग राती ।।
पच रंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाँती ।।
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती ।।
चदा जायगा सूरिज जायगा जायगी धरणि अकासी।
पवन पाणी दोनों हि जायेंगे अटल रहै अविनाशी ।।
सुरत निरत का दिवलो सँजोले मनसा की करली बाती।
अगम घाणि को तेल बनायो बाल रही दिन राती ।।
और सखी मद पी पी माती मैं बिन पीयाँ ही माती।
प्रेम भटी को मैं मद पीयो छकी फिरूँ दिन राती ।।
जाऊँ न पीहर जाऊँ न सासर हरि सूं सैन लगाती।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणा चित लाती ।।

---

[३६] खोल मिली तन गाँती—आवरण हटाकर, निरावरण होकर प्राणवल्लभ हृदयरमण से मिली। 'मेरा पिया मेरे हीय बसत है' में कितनी निगूढ़ मधुर अनुभूति का संकेत है !

If the soul were stripped of all her sheaths, God would be discovered all naked to her view and would give Himself to her all her withholding nothing. As long as the soul has not thrown off veils, however thin she is unable to see God.

—*Meister Eckhart*

'Naked follow the naked Christ'.

'कुलशील लज्जा भय परिहरे समुदयः'।

[36-37] With the sweet soul this soul of mine
Hath mixed as water doth with wine,
Who can the water and wine part
Or me and Thee when are combined ?
Thy love has pierced me through and through
Its thrill with bone and nerve entwine
I rest a flute laid on Thy lips.

[३७]

मै अपणे सैयाँ संग साँची ।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची ॥
दिवस भूख न चैन कबहूँ नींद निसि नासी ।
बेधि वार पार ह्वैगो ग्यान गुह गाँसी ॥
कुल कुटुंबी आन बैठे मनहु मधुमासी ।
दासि मीरा लाल गिरधर मिटी सब हाँसी ॥

[३८]

कोई कछु कहे मन लागा ।
ऐसी प्रीत लगी मनमोहन ज्यूँ सोना में सोहागा ॥
जनम जनम का सोया मनुआँ सत्गुरु शब्द सुण जागा ॥
मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गयो ज्यूँ तागा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा ॥

A lute, I on Thy breast recline.
Breathe deep in me that I may sigh
Yet strike my strings and tears shall shine.

—*Jalalu'd Din. 'The festival of spring.'*

[३७] जब साजन के साथ खुले रूप में नाचा ही तो अब लज्जा किस बात की, परवाह किसको ? हृदय में यह दृढ़ विश्वास है कि मैं अपने सैयाँ के संग साँची हूँ, तब फिर किसी व्यक्ति या वस्तु की अपेक्षा क्यों हो ?

[३८] 'ज्यों सोना में सोहागा'—

Thy spirit is mingled in my spirit even as wine is mingled with pure water.
When any thing touches Thee it touches me Lo, in every case Thou art I.
I am He whom I love, and He whom I love is I :
We are two spirits dwelling in one body.
If thou seest me, thou seest Him,
And if thou seest Him, thou seest us both.

—*Mansur Hallaj*

[३९]

माई री मैं तो लियो गोबिन्दो मोल ।
कोई कहै छाने कोई कहै चुपके लियो री बजन्ता ढोल ।।
कोई कहै महँगो कोई कहै सहँगो लियो री तराजू तोल ।
कोई कहै कारो कोई कहै गोरो लियो री अमोलक मोल ।।
कोई कहै घर में कोई कहै बन में राधा के संग किलोल ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेम के मोल ।।

[४०]

बड़े घर ताली लागी रे म्हाराँ मन री उणारथ भागी रे ।
छीलरिये म्हाँरो चित्त नहीं रे डाबरिये कुण जाव ।
गंगा जमना सूँ काम नहीं रे मैं तो जाय मिलूँ दरियाव ।।
हाल्याँ मोल्याँ सूँ काम नहीं रे सीख नहीं सिरदार ।
कामदाराँ सूँ काम नहीं रे मैं तो जाब करूँ दरबार ।।
काच कथी सूँ काम नहीं रे लोहा चढ़े सिर भार ।
सोना रूपाँ सूँ काम नहीं रे म्हाँरे हीरां रो बौपार ।।
भाग हमारो जागियो रे भयो समंद सूँ सीर ।
इम्रित प्याला छाँड़ि कै कुण पीपै कड़वो नीर ।।
पीपा कूँ प्रभु परचो दीन्हो दिया रे खजीना पूर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर धणि मिल्या छै हजूर ।।

---

[३९] प्रेमी अपने प्रियतम को कितनी दृढ़ता के साथ बाँध लेता है—इस भाव का इस पद में बड़ा ही भव्य एवं सुन्दर विन्यास हुआ है । 'लीन बजन्ता ढोल' में कितनी मीठी गर्वोक्ति है !

Upon my flowery breast
Wholly for Him and save Himself for none
There did I give sweet rest
To my Beloved One :
The fanning of the cedars breathed thereon.
All things I then forgot
My cheek on Him who for my wooing came...
All ceased and I was not
Leaving my cares and shame
Among the lilies and forgetting them.

—*St. John of the Cross*

[४०] उणारथ=लालसा, कामना, संकल्प-विकल्प ।

गुरुकृपा और प्रीतिदान

[४१]

मोहि लागी लगन गुरु चरनन की।
चरन बिना कछुवै नहिं भावै जग माया सब सपनन की॥
भव सागर सब सूखि गयौ है फिकर नहीं मोंहि तरनन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आस वही गुरु सरनन की॥

[४२]

री मेरे पार निकस गया सतगुरु मार्‌या तीर।
बिरह भाल लागी उर अंदर व्याकुल भया सरीर॥
इत उत चित्त चलै नहिं कबहूँ डारी प्रेम जंजीर।
कै जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाणै पीर॥
कहा करूँ मेरो बस नहिं सजनी नैन झरत दोउ नीर।
मीरा कहै प्रभु तुम मिल्याँ बिन प्राण धरत नहिं धीर॥

[४१-७०] जिस प्रकार पूर्ण योग का परम शास्त्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ वेद है, उसी प्रकार इसके परम-पथप्रदर्शक और गुरु वे ही अन्तर्यामी जगत्‌गुरु हैं जो हमारे अन्दर गुप्त रूप से विराजमान हैं। वे ही अपने भास्वर ज्ञानदीप से हमारे तम का नाश करते हैं। उनका जो मुक्त आनन्दमय, प्रेममय, सर्वशक्तिमय अमृतस्वरूप है उसे वे क्रमशः हमारे अन्दर खोलकर दिखला देते हैं। साधक की प्रकृति के अन्दर जो ऊँची-से-ऊँची शक्तियाँ और गतियाँ हो सकती हैं उन्हें सहज भाव से सुव्यवस्थित करना ही उनकी विधि है। गुरु मौन रहकर भी शिष्य के अन्दर वही चीज़ डालता रहता है जो वह स्वयं है और जो उसके अधिकार में है। गुरु भगवदीय दायित्व के निर्वाह में केवल एकमात्र भाजन और प्रतिनिधि मात्र हैं। वे अपने भाइयों के सहायक एक मनुष्य हैं, बच्चों को ले चलने वाले एक बालक हैं, अन्य दीपों को प्रज्वलित करने वाले एक दीप-ज्योति हैं, आत्माओं को जगाने वाले एक आत्मा हैं—अधिक-से-अधिक भगवान् की अन्य शक्तियों को अपने पास बुलाने वाली एक शक्ति या सत्ता हैं।

—श्री अरविन्द

[४३]

भर मारी रे बानाँ मेरे सतगुरु बिरह लगाय के।
पाँवन पंगा कानन बहिरा सूझत नाहि न नैना ॥
खड़ी खड़ी रे पंथ-निहारूँ मरम न कोई जाना।
सतगुरु ओषध ऐसी दीन्हीं रूम रूम भई चैना ॥
सतगुरु जस्या बैद न कोई पूछो वेद पुराना।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर अमर लोक में रहना ॥

[४४]

मैंने नाम रतन धन पायौ।
बसत अमोलक दी मेरे सतगुरु करि किरपा अपणायो ॥
जनम जनम की पूँजी पाई जग मैं सबै खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवै दिन-दिन बढ़त सवायो ॥
सत्त की नाँव खेवटिया सतगुरु भवसागर तरि आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरखि हरखि जस गायो ॥

[४५]

लगी मोहि राम खुमारी हो।
रमझम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो।
चहुँ दिस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो ॥
सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किवारी हो।
सब घट दीसै आतमा सबहीं सूँ न्यारी हो ॥
दीपग जोऊँ ग्यान का चढ़ूँ अगम अटारी हो।
मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो ॥

---

[४४] श्री गुरुदेव के मुख से 'नाम' रत्न की प्राप्ति होती है और वही नाम का मणि-दीप अन्तस को तेजोद्दीप्त करके भगवान् का साक्षात्कार करा देता है। नाम का रस ऐसा है कि जितना पिया जाए उतना ही और पीते रहने की इच्छा बढ़ती है। वह इच्छा परम मंगलमयी है, अमृतमयी है। 'हरखि हरखि जस गायो' में कैसा दिव्य उल्लास है! 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा'! यह 'राम-खुमारी' भी क्या गजब की है!

[४५] श्री गुरुदेव की कृपा और शिष्य की श्रद्धा—इन पवित्र धाराओं का संगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्मसमर्पण—एक की कृपा और दूसरे की श्रद्धा से ही सम्पन्न होता है। दान और क्षय,

[४६]

म्हाँरा सतगुरु वेगा आज्या जी म्हाँरे सुखरी सीर बुझाज्यो जी।
तुम बिछड़ियाँ दुख पाऊँ जी मेरा मन माँही मुरझाऊँ जी ॥
मैं कोइल ज्यूँ कुरजाऊं जी कुछ बाहरि काँहि न जणाऊँ जी।
मोहि बाघण बिरह सतावै जी कोई कहियाँ पार न पावै जी ॥
ज्यूँ जल त्यागा मीना जी तुम दरसण बिन खीना जी।
ज्यूँ चकवी रैण न भावै जी वा ऊगो भाण सुहावै जी ॥
ऊ दिन कबै करोला जी म्हाँरे आँगण पाँव धरोला जी।
अरज करै मीरा दासी जी गुरु पद रज की मैं प्यासी जी ॥

यही दीक्षा का अर्थ है। ज्ञान, शक्ति और सिद्धि का दान एवं अज्ञान, पाप और दारिद्रय का क्षय—इसी का नाम 'दीक्षा' है। सभी साधकों के लिए यह दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा से ही शरीर की समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती हैं और देह-शुद्धि होने से देव-पूजा का अधिकार मिल जाता है।

सामान्यतः दीक्षा के तीन भेद माने जाते हैं—शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री। मान्त्री दीक्षा ही 'रुद्रयमल' आदि ग्रन्थों में आणवी के नाम से प्रसिद्ध है। शाक्ती दीक्षा में परम चेतना रूपा कुंडलिनी ही शक्ति मानी जाती है। उसको जागरित करके ब्रह्म नाड़ी में से होकर परम शिव में मिला देना ही शाक्ती दीक्षा है। इस दीक्षा में श्रीगुरुदेव ही शिष्य की अन्तर्देह में प्रवेश करके कुंडलिनी शक्ति को जागरित करते हैं और अपनी शक्ति से ही उसको मिला देते हैं। इसमें शिष्य को अपनी ओर से कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती।

वायवीय संहिता में शाम्भवी दीक्षा का विवरण इस प्रकार मिलता है— 'श्री गुरुदेव अपनी प्रसन्नता से दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा एक क्षण में ही स्वरूप स्थित कर देते हैं। गुरु की दृष्टि मात्र से शिष्य का हृदय प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ होकर कृतकृत्य हो जाता है।

मान्त्री दीक्षा, मन्त्र, पूजा, आसन, न्यास, ध्यान आदि साधना से होती है। इसमें गुरुदेव शिष्य को मन्त्रोपदेश करते हैं। मान्त्री दीक्षा से शक्तिपात्र की पात्रता प्राप्त होती है और मन्त्रदेवतात्मक शक्ति से सिद्धि भी प्राप्त होती है।

इस मान्त्री अथवा आणवी दीक्षा के दस भेद मिलते हैं, यथा—स्मार्ती, मानसी, यौगी, चाक्षुषी, स्पार्शिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री और अभिषेचिका। स्मार्ती में गुरु शिष्य का स्मरण करता है और उसके त्रिविध पापों को भस्म कर देता है। और पुनः लययोग से उसे परम शिव में स्थित कर देता है। मानसी दीक्षा स्मार्ती के समान ही है। यौगी दीक्षा में गुरु शिष्य

[४७]

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी ।
जब जब सूरत लगे वा घर की पल पल नैनन पानी ।
ज्यों हिये पीर तीर सम सालत कसक कसक कसकानी ।।
रात दिवस मोहि नींद न आवत भावै अन्न न पानी ।
ऐसी पीर बिरह तन भीतर जागत रैन बिहानी ।।
ऐसा बैद मिलै कोइ भेदी देस बिदेस पिछानी ।
तासों पीर कहूँ तन केरी फिर नहिं भरमों खानी ।।
खोजत फिरौं भेद वा घर को कोई न करत बखानी ।
रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्ही सुरत सहदानी ।।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना तब मोरी पीर बुझानी ।
मीरा खाक खलक सिर डारी मैं अपना घर जानी ।।

के शरीर में प्रवेश कर उसकी आत्मा को अपने शरीर में लाकर एक कर लेता है । चाक्षुषी दीक्षा में श्री गुरुदेव करुणार्द्र दृष्टि से शिष्य की ओर देखते हैं और इतने से ही शिष्य के सारे दोष नष्ट हो जाते हैं । स्पार्शिकी में गुरुदेव शिष्य के सिर का स्पर्श करते हैं, उस स्पर्श मात्र से शिष्य का शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है । मान्त्रिकी में गुरुदेव अपने शरीर में से शिष्य के शरीर में मन्त्र का संक्रमण करते हैं । हौत्री में होत्र से ही दीक्षा सफल होती है । शास्त्री में शिष्य के योग्यतानुसार शास्त्रीय पदों के द्वारा दीक्षा दी जाती है । अभिषेचिका दीक्षा में गुरुदेव एक घट में शिव और शक्ति की पूजा करते हैं, फिर उसके जल से शिष्य का अभिषेक करते हैं ।

[४६] मीरा उस दिन की प्रतीक्षा में है जब उसके प्राणाधार उसके आँगन मे आकर अपने आलिंगन के पाश में उसे बाँध लेंगे । बुल्ला ने भी इसी प्रकार 'साजन' को गुहराया है—

देखो पिया काली मो पै भरी ।
सुन्नि सेज भयावन लागी मरों विरह की जारी ।।
प्रेम प्रीति यह रीति चरण लगु पल छिन नाहिं विसारी ।
चितवत पन्थ अन्त नहीं पायो जन बुल्ला बलिहारी ।।

कबीर भी बड़ी उत्सुकता से इस दिन की प्रतीक्षा में हैं—

वे दिन कब आवेंगे माइ ।
जो कारणि हम देह धरी है मिलियों अंग लगाइ ।।

[४७] नाम का तीर जब हृदय को पूरी तरह बेध देता है तब हृदय में भगवान् के लिए बेकली हो उठती है । यह व्याकुलता ही प्रेम-साधना की प्राण

[४८]

मिलता जाज्यो हो गुरु ज्ञानी थाँरी सूरत देख लुभानी ।।
मेरो नाम बूझि तुम लीज्यो मैं हूँ बिरह दिवानी ।
रात दिवस कल नाहिं परत है जैसे मीन बिन पानी ।।
दरस बिना मोहि कछु न सुहावै तलफ तलफ मर जानी ।
मीरा तो चरणन की चेरी सुन लीजै सुखदानी ।।

[४९]

सतगुरु म्हाँरी प्रीत निभाज्यो जी ।
थे छो म्हारा गुण रा सागर ओगण म्हारो मति जाज्यो जी ।
लोक न धीजै (म्हारो) मनना पतीजे मुखड़ा रा सबद सुणाज्यो जी ।।
म्हें तो दासी जनम जनम को म्हारे आँगण रमिता आज्यो जी ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेड़ो पार लगाज्यो जी ।।

है। राम की खुमारी भगवत्प्रेम का नशा जब चढ़ता है तब साधक की विचित्र दशा हो जाती है। आनन्द की रिमझिम-रिमझिम फुहियाँ बरसने लगती हैं और उसका समस्त शरीर-मन-प्राण उस फुहार में भीग जाता है। मेघ गरजने लगता है और चारों ओर से विद्युत् का प्रकाश होने लगता है। साधक इस प्रेम-वर्षा में आनन्द से झूमने लगता है। गुलाल साहब का एक पद इसी भाव का है—

आनन्द बरखत बुँद सुहावन ।
उमगि उमगि सतगुरु बर राजित समय सुहावन भावन ।।
चहुँ ओर घनघोर घटा आई सुन्न भवन मन भावन ।
तिलक तत बेंदी पर झलकत जगमग जोति जगावन ।।
गुरु के चरण मन मगन भयौ जब बिमल बिमल गुन गावन ।
कहै गुलाल प्रभु कृपा जाहि पर हरदम भादों सावन ।।

हृदय में प्रभु का नित्य ध्यान हो, मुख से उनका नाम-कीर्तन हो, कानों में सदा उनकी ही कथा गूँजती हो, प्रेमानन्द से उनकी पूजा हो, नेत्रों में हरि की मूर्ति विराज रही हो, चरणों से उनके ही पावन स्थानों की यात्रा हो, रसना में प्रभु के ही नाम का रस हो, भोजन हो तो वह प्रभु का प्रसाद हो हो, साष्टाङ्ग नमन हो उनके ही प्रति, आलिंगन हो आह्लाद से उनके ही भक्तों का ओर, एक क्या आधा पल भी उनकी सेवा के बिना व्यर्थ न जाए। सब धर्मों में यह श्रेष्ठ धर्म है।

[५०]

स्याम तेरी आरति लागी हो।
गुरु परतापे पाइया तन दुरमति भागी हो॥
या तन को दियना करों मनसा करों बाती हो।
तेल भरावों प्रेम का बारों दिन राती हो॥
पाटी पारों ज्ञान की मति माँग संवारी हो।
तेरे कारन साँवरे धन जोवन वारों हो॥
या सेजिया बहु रंग की बहु फूल बिछाये हो।
पंथ मैं जोहौं स्याम का अजहूँ नहिं आये हो॥
सावन भादो ऊमड़ा बरखा रितु आई हो।
भौहँ घटा घन घेरि के नैनन झरि लाई हो॥
मात पिता तुम को दियो तुम ही भल जागो हो।
तुम तजि और भतार को मन में नहीं आनो हो॥
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म हो पूरन पद दीजै हो।
मीरा व्याकुल बिरहिनी अपनो कर लीजै हो॥

[५१]

जोगिया जी निसिदिन जोऊँ थारी बाट।
पाँव न चालै पंथ दुहेलो आड़ा औघट घाट॥
नगर आइ जोगी रम गया रे मो मन प्रीत न पाइ।
मैं भोली भोलापन कीन्हौं राख्यो नहीं बिलमाइ॥
जोगिया कूँ जोवत भोत दिन बीता अजहूँ आयो नाहिं।
बिरह बुझावण अन्तरि आगे तपन लगी तन माहिं॥

---

[५०] यह प्रेम अनुभवगम्य है, इन्द्रियग्राह्य नहीं। परन्तु प्रेम की विकलता इन्द्रियों की प्यास बढ़ा देती है, वे भी कुछ चाहती हैं। वे बादलों को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जातीं। वे उसकी वर्षा में अपने को भीगा हुआ पाया चाहती हैं। जिस रस की अनुभूति हृदय करता है आँखें उसके रूप को सामने देखना चाहती हैं। किन्तु वह असीम सामने कब आ सकता है ? इसलिए प्रेम के ऐसे गम्भीर पथिक के लिए एक सम्भ्रम, एक विस्मय, एक उलझन की बात सदा रहती है कि अन्तर में रहनेवाले से प्रवासी का-सा अन्तर क्यों बना हुआ है ? एक ही बास के बसने पर भी विदेश हो रहा है, मिले होने पर भी कोई अमिल कैसे रहता है ?

—'घनानन्द', पृ० १३

कै तो जोगी जग में नहीं कैर बिसारो मोय।
कांई करूँ कित जाऊँ री सजनी नैण गुमायो रोय॥
आरति तेरे अंतर मरे आवो अपनी जाणि।
मीरा व्याकुल बिरहिणी रे तुम बिन तलफत प्राणि॥

[५२]

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो॥
गल विच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूत रमायो।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सोही पायो॥

[५३]

कबहूँ मिलोगे मोहि आई रे तूँ जोगिया।
तेरे ही कारण जोग लियों है घरि-घरि अलख जगाई॥
दिबस न भूख रैण नहिं निद्रा तुम बिन कुछ न सुहाई।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलि करि तपनि बुझाई॥

[५४]

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाइं परूँ मैं चेरी तेरी हौं॥
प्रेम भगति कौ पैंड़ो ही न्यारो हम कूँ डौल बता जा।
अगर चँदण की चिता बणाऊँ अपणे हाथ जला जा॥
जल बल भइ भस्म की ढेरी अपणे अंग लगा जा।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा॥

---

[५२] मीरा के कई पदों में किसी योगी का वर्णन आया है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की पीर जगाई है। योग की कतिपय क्रियाओं तथा सींग, सेली, भभूत आदि कनफटे योगियों के बाह्य प्रतीकों का भी उल्लेख यत्र-तत्र आया है, यद्यपि है वह अधूरा ही। योग की किसी सुव्यवस्थित साधना-प्रणाली का अनुसरण मीरा ने किया था, ऐसा मीरा के पदों से प्रतीत नहीं होता, परन्तु कुछ सुनी-सुनाई बातों की ओर मीरा का मन लपका था जरूर। पीछे जाकर प्रेम के उपप्लव में मीरा का सारा योग-भोग बह गया। प्रेम की साधना में योग की क्रियाएँ एक हद तक ही चल सकती हैं, आगे जाकर वे छूट जाती हैं। प्रेम एक स्वयं महायोग है जिसमें अन्य सभी योगों का लय हो जाता है। आत्मा में परमात्मा का रमण और परमात्मा में आत्मा का रमण—प्रेम की भाषा में प्रिया और प्रियतम का एकमेक होकर रमण—यह आत्मरमण, आत्म-क्रीड़ा, आत्ममिथुन ही प्रेमयोग की परमावधि है।

[५५]

हो जी म्हाँराज छोड़ मत जाज्यो जी ।
मैं अबला बल नाहिं गुसाईं तुमहि मेरे सिरताज ।
मैं गुणहीन गुण नाहिं गुसाईं तुम समरथ महाराज ।।
रावली होइ के किण रे जाऊँ तुम हो हिवड़ारो साज ।
मीरा के प्रभु और न कोई राखो अब के लाज ।।

[५६]

ऐसी लगन लगाय कहाँ तू जासी ।
तुम देखे बिन कल न परित है तलफि-तलफि जिव जासी ।।
तेरे खातिर जोगण हूँगी करवत लूँगी कासी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कंवल की दासी ।।

[५७]

जोगिया से प्रीत कियाँ दुख होइ ।
प्रीत किया सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोई ।
राति दिवस कल नाहिं परत है तुम मिलियाँ बिन मोई ।।
एसी सूरत या जग मोही फेरि न देखी सोइ ।
मीरा के प्रभु कब रें मिलोगे मिलियां आणंद होइ ।।

[५८]

जोगिया री प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ।
हिलमिल बात बणावत मीठी पाछे जावत भूल ।
तोड़त जेज करत नहिं सजनी जैसे चमेली के फूल ।
मीरा कहै प्रभु तुमरे दरस बिन लगत हिवड़ा में सूल ।

[५९]

जावो निरमोहिया जाणी थारी प्रीत ।
लगन लगी जद प्रीत और ही अब कुछ और ही रीत ।।
इमरित प्याय के बिष क्यूँ दीजै कूण गाँव की रीत ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी अपनी गरज के मीत ।

[६०]

जावा दे जावा दे जोगी किसका मीत ।
सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीत ।
बोलत बचन मधुर से मीठे जोरत नाहीं प्रीत ।।

मैं जाणूँ या पार निभैगी छाँड़ि चले अधबीच।
मीरा के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा मीत॥

[६१]

कोई दिन याद करोगे रमता राम अतीत।
आसण मार अडिग होय बैठा याही भजन की रीत।
मैं तो जाणूँ जोगी संग चलैगा छाँड़ चला अधबीच॥
आत न दीसे जात न दीसे जोगी किसका मीत।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चरणन आवे चीत॥

[६२]

धूतारा जोगी एकर सूँ हँसि बोल।
जगत बदीत करी मनमोहन कहा बजावत ढोल।
अंग भभूत गले म्रिघछाला तू जन गुढिया खोल॥
सदन सरोज बदन की सोभा ऊभी जोऊँ कपोल।
सेली नाद बभूत न बटवो अजूँ मुनी मुख खोल॥
चढ़ती बैस नैण अनियारे तूँ घरि-घरि तम डोल।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी चेरी भई बिन मोल॥

[६३]

जोगिया री सूरत मन में बसी।
नित प्रति ध्यान धरत हूँ दिल में निस दिन होत खुसी।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी मानो सरप डसी।
मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे प्रीति रसीली बसी॥

[६४]

जोगिया जी छाय रहा परदेस।
जबका बिछड़्या फेर मिलिया बहोरी न दियो संदेस।
या तन ऊपरि भसम रमाऊँ खोर करूँ सिर केस॥
भगवा भेख धरूँ केहि कारण ढूँढत च्याrूँ देस।
मीरा के प्रभु राम मिलन कूँ जावनि जनम अनेस॥

[६५]

जोगी म्हाँने दरस दिया सुख होइ।
नातरि दुख जग माँहि जीवड़ो निस दिन झुरै तोइ॥

[६४] अतीत=अथीथ, योगी (यह शब्द 'अतिथि' से बिगड़कर इस रूप में रूढ़ हो गया है ऐसा प्रतीत होता है।

दरस दिवानी भई बावरी डोली सब ही देस।
मीरा दासी भई है पंडर पलटाया काला केस॥

[६६]

मीरा लागो रंग हरी सब रंग अटक परी।
चूड़ी म्हाँरे तिलक अरु माला सील बरत सिणगारो।
और सिंगार म्हाँरे दाय न आवै यो गुर ग्यान हमारो॥
कोई निन्दो कोई बिन्दो म्हें तो गुण गोबिन्द का गास्याँ।
जिण मारग म्हारा साध पधारे उण मारग म्हें जास्याँ।
चोरी न करस्याँ जिव न सतास्याँ काँई करसी म्हारो कोई।
गजसे उतर के खर नहिं चड़स्याँ ये तो बात न होई॥

[६७]

मेरो मन लागो हरि सूँ अब न रहूँगी अटकी॥
गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी।
चोट लगी निज नाम हरी की म्हाँरे हिवड़े खटके॥
मोती माणिक परत न पहिरूँ मैं कब की नट की।
गणो तो म्हाँरे माला दोवड़ी और चन्दन की कुटकी॥
राजकुल की लाज गमाई साधाँ के संग मैं भटकी।
नित उठ हरिजी के मन्दिर जास्याँ नाच्याँ दे दे चुटकी॥
भाग खुल्यो म्हाँरो साध संगत सू साँवरिया की बटकी।
जेठ बहू की कहण न मानूँ घूँघट पड़ गई पटकी।
परम गुराँ के सरण में रहस्याँ परणाम कराँ लुट की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जनम मरण सूँ छुटकी॥

[६८]

म्हारे घर रमतो ही आई रे तू जोगिया।
कानों बिच कुंडल गले बिच सेली अंग भभूत रमाई रे॥
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है ग्रिह अंगणो न सुहाई रे।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसण द्यो मोकूँ आई रे॥

[६९]

जोगिया जी आवो थें या देश।
नैणज देखूँ नाथ मेरो ध्याइ करूँ आदेस।

आया सावण मास सजनी भरे जल - थल ताल ॥
रावल कुण बिलम्बाइ राखो बिरहनि है बेहाल ।
बीछड़ियाँ कोई भौ भयो रे जोगी ऐ दिन अहला जाइ ॥
एक बेरी देह केरी नगर हमारे आइ ।
वा मूरति मेरे मन बसे रे जोगी छिन भरि रह्यौ न जाइ ॥
मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसण द्यौ हरि आइ ॥

[७०]

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस ।
जोगियो चतुर सुजण सजनी ध्यावै संकर सेस ॥
आऊँगी मैं नाहिं रहूँगी रे म्हारा पीव बिना परदेस ।
करि किरपा प्रतिपाल मो परि राखो न अपणै देस ॥
माला मुदरा मेखला रे बाला खप्पर लूंगी हाथ ।
जोगणि होइ जुग ढूंढसू रे, म्हारा रावलिया री साथ ॥

---

[७०] आदेस==प्रणाम (योगियों में प्रचलित प्रणाम-पद्धति)

इस पद में मीरा के सामने योगिनी का जो कल्पित वेश है उसमें माला, मुंदरी, मेखला, खप्पर आदि उपकरण हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि मीरा के सामने नाथ-पंथी योगिनी का ही रूप है । उन दिनों राजस्थान में नाथ-पंथ का खूब दौरदौरा था और उनके चमत्कारों से अधिकांश मत-पंथ और सम्प्रदाय प्रभावित भी हो गए थे ।

प्रेमाभिलाषा

[७१]

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ।
इन नैनन मेरे साहिब बसता डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री।।

[७२]

राणाजी म्हें तो गोविन्द का गुण गास्याँ।
चरणामृत को नेम हमारो नित उठ दरसण जास्याँ।।
हरि मन्दिर में निरत करास्याँ घुंघरिया घमकास्याँ।
राम नाम का झाँझ चलास्याँ भवसागर तर जास्याँ।
यह संसार बाड़ का काटाँ ज्याँ संगत नहिं जास्याँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर निरख परख गुण गास्याँ।।

[७१-८६] किसी मनुष्य के प्रति जब हमारा अनुराग होता है तब उसे देखने, सुनने और स्पर्श करने के लिए मन में एक प्रबल आग्रह हुआ करता है। इसी का नाम 'प्यार' है। यह प्यार जब ईश्वर में अर्पित कर दिया जाता है तब उसी को वैष्णवगण 'अनुराग' कहते हैं। फिर आग्रह बढ़ते-बढ़ते यह दशा हो जाती है कि उससे मिले बिना काम ही नहीं चलता, सब-कुछ सूना-सूना-सा लगता है। मन के इस अत्यधिक अनुराग को 'आसक्ति' कहते हैं। तदनन्तर जब वह प्यार जम जाता है तब एक अतलस्पर्शी व्याकुलता अवतीर्ण होकर मन-प्राण को आनन्द महासिंधु में बहा ले जाती है। फिर अपने ऊपर अपना शासन नहीं रहता। समस्त विश्व में उस प्रेममय के स्पर्श का ही अनुभव होने लगता है। इस अवस्था में प्रेमी भक्त क्षण-भर का भी प्रियतम का विरह नहीं सह सकता। उसका हृदय नित्य नूतन हर्ष से अधीर और उन्मत्त रहता है। वह भगवान् को सब-कुछ समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है। किसी बात के लिए उसका चित्त चंचल नहीं होता। जगत् के धन-जन, मान-प्रतिष्ठा आदि कुछ भी उसे मोहित नहीं कर सकते।

[७३]

पियाजी म्हाँरे नैणाँ आगे रहज्यो जी ॥
नैणा आगे रहज्यो जी म्हाँने भूल मत जाज्यो जी ।
भवसागर में बही जात हूँ वेग म्हाँरी सुध लीज्यो जी ॥
राणा जी भेज्या विष का प्याला सो इमरित कर दीज्यो जी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी ॥

[७४]

थाँने काईं कह समझाऊँ म्हाँरा बाला गिरधारी ।
पूर्व जनम की प्रीत हमारी अब नहिं जात निवारी ॥
सुन्दर वदन जोवते सजनी प्रीत भई छे भारी ।
म्हारे घरे पधारो गिरधर मंगल गावै नारी ॥
मोती चौक पुराऊँ बाल्हा तन मन तो पर वारी ।
म्हाँरो सगपण तो सूँ साँवलिया जुगसूँ नहीं विचारी ॥
मीरा कहे गोपिन के बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी ।
चरण सरण है दासी तुम्हारी पलक न कीजे न्यारी ॥

[७५]

जागो म्हाँरा जगपति राइक हँसी बोलो क्यूँ नहीं ।
हरि छो जी हिरदा माँहि पट खोलो क्यूँ नहीं ॥

---

[७२] यह पद सम्भवतः उस समय का है जब राणा ने मीरा को अन्तःपुर से बाहर जाने से मना कर दिया था और कहलाया था कि साधु-महात्माओं की भीड़ इकट्ठा करना उचित नहीं है। इस पद में मीरा ने बड़ी दृढ़ता से कहा है कि जो कुछ निश्चय मैं कर चुकी हूँ वही करूँगी चाहे जो हो जाए।

[७३] न मिले थे तब तक तो कोई बात न थी, मुझे पता ही न था कि मिलन का सुख कैसा होता है। परन्तु अब मिलकर मिलन का जो अमृत-सुख तुमने दिया अब बिछुड़कर उसे विघटाओ मत, मिलन के बाद यह बिछोह मुझसे सहा न जाएगा।

पर जिस प्यारे ने प्रीति-परवश होकर विष के प्याले को अमृत कर दिया, वह भला अब मुझे मेरी बाँह पकड़कर यों मँझधार में छोड़ देगा ? ऐसा हो नहीं सकता।

[७४] 'मीरा कहे गोपिन के बाल्हो हम सूँ भयो ब्रह्मचारी' में कितना निगूढ़ व्यंग्य है !

[७५] जहाँ-जहाँ देखूँ म्हाँरों राम—

'There is nothing unholy on this earth for God's feet are everywhere.'

तन मन सुरति संजोई सीस चरणों धरूँ।
जहाँ - जहाँ देखूँ म्हारो राम तहाँ सेवा करूँ॥
सदकै करूँ जी सरीर जुगै जुग वारणें।
छोड़ छोड़ी कुल की लाज साहिब तेरे कारणों॥
थोड़ि-थोड़ि लिखूँ सिलाम बहुत करि जाणज्यौ।
हाँ हो म्हाँरा नाथ सुनाथ बिलम नहिं कीजियै।
मीरा चरणों की दास दरस अब दीजियै॥

[७६]

देखो सहियाँ हरि मन काटो कियो।
आवन कह गयो अजूँ न आयो करि-करि बचन गयो।
खान-पान सब सुध-बुध बिसरी कैसे करि मैं जियों॥
बचन तुम्हारे तुमही बिसारे मन मेरो हर लियो।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नगर तुम बिन फटत हियो॥

[७७]

पिया मोहि दरसण दीजै हो।
बेर - बेर मैं टेरहूँ अहे किरपा कीजै हो।
जेठ महीने जल बिना पंछी दुख होई हो।
मोर असाढ़ों कुरलहे धन चात्रग सोई हो॥
सावण मैं झड़ लागियो सखि तीजाँ खेलै हो।
भादरवै नदिया बहै दूरी जिन मैले हो॥
सीप स्वाति ही झेलती आसोजाँ सोई हो।
देव काती में पूजहे मेरे तुम होई हो॥
मगसर ठंठ बहोली पड़ै मोहि बेगि सँभालो हो।
पोस मही पाला घणा अबही तुम न्हालो हो॥
महामही बसन्त पंचमी फागाँ सब गावै हो।
फागुण फागाँ खेलहूँ बणराइ जरावै हो॥
चैत चित्त में ऊपजी दरसण तुम दीजै हो।
वैसाख बणराई फूलवै कोइल कुरलीजै हो॥
काग उड़ावत दिन गया बूझूँ पिंडत जोसी हो।
मीरा विरहणि व्याकुली दरसण कद होसी हो॥

---

[७७] इस 'बारहमासे' में मीरा का दर्दभरा हृदय घुलता दीख रहा है। अन्त में 'काग उड़ावत दिन गया' में कितनी गहरी उदासी है!

[७८]

म्हाँरे घर आज्यो प्रीतम प्यारा तुम विन सब जग खारा ॥
तन मन धन सब भेंट करूँ ओ भजन करूँ मैं थाँरा ।
तुम गुणवंत बड़े गुण सागर मैं हूँ जी औगणहारा ॥
मैं निगुणी गुण एको नाहीं तुझमें जी गुण सारा ।
मीरा कहै प्रभु कबहि मिलोगे विन दरसण दुखियारा ॥

[७९]

वारी-वारी हो राम हूँ वारी, तुम आज्या गली हमारी ।
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है जोऊँ बाट तुम्हारी ॥
कूण सखी सूँ तुम रंग राते हम सूँ अधिक पियारी ।
किरपा कर मोहि दरसण दीज्यो सब तकसीर बिसारी ॥
तुम सरणागत परम दयाला भवजल तार मुरारी ।
मीरा दासी तुम चरणन की बार-बार बलिहारी ॥

[८०]

तुम आज्यो जी रामा आवत आस्याँ सामा ।
तुम मिलिया मैं बहु सुख पाऊँ सरैं मनोरथ कामा ।
तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा ।
मीरा मन के और न माने चाहे सुन्दर स्यामा ॥

[८१]

कोई कहियो रे प्रभु आवन की ।
आवन की मनभावन की ॥
आप न आवै लिख नहिं भेजै बाँण पड़ी ललचावन की ।
ए दोइ नैना कह्यो नहिं मानै नदिया बहै जैसे सावन की ॥
कहा करूँ कछु नहिं बस मेरो पाँख नहीं उड़ जावन की ।
मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की ॥

---

[८१] यह मीरा के सर्वोत्तम गीतों में सर्वश्रेष्ठ है । इसके संगीत और लय पर ध्यान दीजिए—विरहिणी का रूप सामने आ जाता है, विरह से विदग्ध पर पुनर्दर्शन की मधुमयी आशा में—इस उत्सुक अभिलाषा में कि अब कोई आए और 'उनके' आने की खबर दे दे ।

बाँण=आदत । दाँवन=दामन ।

[८२]

भींजे म्हाँरो दाँवन चीर सावणियों लूम रह्यो रे।
आपतो जाय विदेसों छाये जिवड़ों धरत न धीर ।।
लिख-लिख पतियाँ संदेसा भेजूँ कब घर आवै म्हाँरो पीव ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर दरसन दीने बलबीर ।।

[८३]

मेरे प्रीतम प्यारे राम कूँ लिख भेजूँ रे पाती ।।
स्याम सनेसो कबहुँ न दीन्हौं जानि-बूझि गुझवाती ।
डगर बुहारूँ पंथ निहारूँ रोय-रोय अँखियाँ राती ।।
तुम देख्या बिन कल न पड़त है हीयो फटत मेरी छाती ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे पूरब जनम का साथी ।।

[८४]

गोबिन्द कबहूँ मिलै पिया मेरा ।
चरण कवल कूँ हँसि-हँसि देखूँ राखूँ नैणाँ नेरा ।
निरखण कूँ मोहि चाव घणेरो कब देखूँ मुख तेरा ।।
व्याकुल प्राण धरत नाहिं धीरज मिलि तूँ मीत सबेरा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताप तपन बहु तेरा ।

[८५]

राम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊँ बाटड़ियाँ ।
दरसन बिना मोहि कछु न सुहावै जक न पड़त है आँखिड़ियाँ ।।

---

[८३] 'पूरब जनम का साथी'

Emotional mysticism begins with personal affection. The earthly beloved becomes too good for human nature's daily food, arouses aesthetic delight and becomes the subject and later the symbol of aesthetic contemplation. Gradually the symbol empties itself of its earthly associations and we have a glorious Vision of Beauty bedecked with light that never was on sea and land. It is still the Beloved, but both the earthly lover and the Beloved are now transformed. I am the lover and Thou art the Beautiful. Beauty appears in ever new guise and yet the eyes do not have their fill.

गुझुवाती = मन ही मन घुंघुआना ।

तलफत-तलफत बहु दिन बीता पड़ी विरह की पासड़ियाँ।
अब तो बेगि दया करि साहिब मैं तो तुम्हारी दासड़ियाँ।
नैण दुखी दरसण कूँ तरसैं नागिन बैठे साँसड़ियाँ।
राति दिवस यह आरति मेरे कब हरि राखे पासड़ियाँ।
लगी लगनि छूटण की नाहीं अब क्यूँ कीजै आँटड़ियाँ।
मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे पूरो मन की आसड़ियाँ॥

[८६]

आवो सहेल्या रली कराँ हे पर घर गवण निवारी।
झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति।
झूठा सब आभूषणा री साँची पियाजी री प्रीति।
झूठा पाट पटंबरा रे झूठा दखणी चीर।
साँची पियाजी री गूदड़ी जामें निरमल रहे सरीर॥
छप्पन भोग बुहाइ दे हे इन भोगनि में दाग।
लूण अलूणो ही भलो हे अपणे पियाजी रो साग॥
देखि विराणै निवाँण कूँ है, क्यूँ उपजावै खीज।
कालर अपणे ही भलो हे जामें निपजै चीज॥
छैल विराणो लाख को हे अपणे काज न होइ।
ताके संग सिधारणाँ हे भला न कहसी कोइ॥
वर हीणो अपणो भलो हे कोढ़ी कुष्टी कोइ।
जाके संग सिधारताँ हे भला कहै सब लोइ॥
अबिनासी सूं बालमा हे जिन सूं साँची प्रीति।
मीरा कूँ प्रभु मिलिया हे, एही भगति की रीति॥

---

[८५] घणो उमावो=तीव्र लालसा, प्रबल उमंग। प्राणेश्वर की प्रीति के अतिरिक्त सब-कुछ व्यर्थ है। उस 'अबिनासी बालम' को वरण कर जीवन 'अचल सुहाग' पा जाता है। गोपियों ने कहा है—'प्रेष्ठो भवास्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा'।

Let Him kiss me with the kisses of His mouth
For thy love is better than wine
Behold Thou art fair, my Beloved, yea plesant
Also our bed is green....
His left hand is under my head
And His right hand doth embrace me.

—*Old Testament.*

[८६] प्रियतम के सान्निध्य एवं संस्पर्श के कारण सब-कुछ सुखद एवं सुन्दर लगता है। पदार्थों में अपनी सुन्दरता नहीं है। उसकी सुन्दरता का एकमात्र हेतु यही है कि वह प्यारे की प्रीति में सराबोर है।

अभिसार

[८७]

चलो अगम के देस काल देखत डरै ।
वहाँ भरा प्रेम का हौज हँस केल्याँ करै ।।
ओढण लज्जा चीर धीरज को घाँघरो ।
छिपता काँकण हाथ सुमति को मून्दरो ।।
दिल दुलड़ी दरियाव साँच को दोवड़ो ।
उबटन गुरु को ज्ञान ध्यान को धोवणो ।।
कान अखोटा ज्ञान जुगत को झूटणो ।
बेसर हरि को नाम चूड़ो चित ऊजलो ।।
जोहर सील संतोष निरत को घूँघरो ।
बिंदली गज अरु हार तिलक गुरुग्यान को ।।
सज सोलह सिणगार पहरि सोने राखड़ी ।
साँवलियाँ सूँ प्रीति ओर सूँ आखड़ी ।।
पतिबरता की सेज प्रभूजी पधारिया ।
गावे मीराबाई दासी कर राखिया ।।

[87-112] The wild tale of pathos shall ever remain writ large on the Temple of love. She lived on tears and she slept on tears : this shall be the language of love in which Mira will go down to posterity. This child of the Lord, nursed in the heart of worldly circumstances feeling disgusted with the obstruction placed on her meeting freely her Divine Beloved directed her course to those very regions where His kingdom lay; where the mad raving of the world could not reach her. She had started in search of a place where she could lie undisturbed in the thoughts of her Beloved. While freedom was her creed and liberty her watchword : the slaves of forms, formalities and dogmas could not understand her. Her bondage lay in her love for the Beloved and the subtle chains of love that she put on herself were not visable to many eyes.

—*The Story of Mirabai*

[८८]

गली तो चारों बन्द हुईं मैं हरि सूं मिलूं कैसे जाइ ।
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराइ ॥
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाइ ।
ऊँचा नीचा महल पिया का हमसे चढ़ा न जाइ ।
पिया दूर पंथ म्हाँरों झीणो सुरत झकोला खाइ ॥
कोस कोस पर पहरा बैठ्या पैंड पैंड बटमार ।
हे विधना कैसी रच दीन्हीं दूर बसायो म्हाँरों गाँव ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सतगुर दई बताय ।
जुगन जुगन से बिछड़ी मीरा घर में लीन्ही लाय ॥

[८९]

तेरो कोई नहिं रोकणहार मगन होइ मीरा चली ।
लाज सरम कुल की मरजादा सिर सें दूरि करी ॥
मान अपमान दोऊ घर धरकै निकली हुँ ग्यान गली ।
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया निरगुण सेज बिछी ॥
पंचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ।
बाजूबंद कडूला सोहै सिन्दुर माँग भरी ॥
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी ॥
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी ।
तुम जावो राणा घर अपणे मेरी तेरी नहीं सरी ॥

[९०]

बरजी मैं काहू की नाहिं रहूँ ।
सुनो री सखी तुम चेतन होइ कै मन की बात कहूँ ॥
साधु-संगति करि हरि सुख लीजै जग सूं दूरि रहूँ ।
तन धन मेरे सबही जावो भलि मेरो सीस लहूँ ॥

---

[८९] आज पिय की सेज पर पौढ़ने की शुभ घड़ी आ गई है । मीरा ने आज सोलहों शृंगार किया है और वह प्रीतम से मिलने के लिए अभिसार कर रही है । इस समय इसे रोकनेवाला भला कौन है ?

[९०] स्मरण का चसका ऐसा है कि जब लग जाता है तब लाख कोई मना करे या बरजे, वह एक क्षण के लिए भी छूटता ही नहीं । उस रस में शरीर, मन, प्राण सभी के सभी सराबोर हो जाते हैं—बाहर आने की इच्छा ही नहीं होती । यही इस 'अमल' की विशेषता है ।

मन मेरो लागो सुमिरण सेती सबका मैं बोल सहूँ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी सतगुरु सरण गहूँ॥

[६१]

राणा जी म्हाँने या बदनामी लागे मीठी।
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूँगी चाल अनूठी॥
साँकली गली में सतगुर मिलिया क्यूँ कर फिरूँगी अपूठी।
सतगुर जी सूँ बाताँ करसाँ दुरजन लोगों ने दीठी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर दुरजन जलो जा अँगीठी॥

[६२]

सूरत दीनानाथ सूँ लगी तूँ तो समझ सुहागण नार।
लगनी लहँगो पहर सुहागण बीती जाय बहार।
धन जोबन है परबणा री मिलै न दूजी बार॥
रामनाम को चूड़लो पहिरो प्रेम को सुरमो सार।
नकबेसर हरिनाम की री उतर चलोनी परले पार॥
ऐसे वर को क्या वरूँ जो जन्मै औ मर जाय।
वर बरियो एक साँवरो री (मेरो) चुड़लो अमर होय जाय॥
मैं जान्यों हरि मैं ठग्यौ री हरि ठग ले गयो मोय।
लख चौरासी मोरचा री छिन में गेरया छै विगोय॥
सुरत चली जहाँ मैं चली री कृष्ण नाम झणकार।
अबिनासी की पोल पर जी मीरा करै छै पुकार॥

[६३]

इन सरवरियाँ पाल मीरा बाँई साँपड़े।
साँपड़े कियो असनान सुरज स्वामी जप करे॥
होय बिरंगी नार डगरां बिच क्यूँ खड़ी।
कहाँ थारो पीहर दूर घराँ सासू लड़ी॥
नांहि म्हांरो पीहर दूर ना घराँ सासू लड़ी।
चल्यो जा रे असल गुँवार तनै म्हारी के पड़ी॥
गुरु म्हाँरां दीनदयाल होराँ रा पारखी।
दियो म्हांनें ग्यान बताय संगत कर साध री॥
इन सरवरिया रा हँस सुरंग थारी पाँखड़ी।
राम मिलन कद होय फड़वकै म्हारो आँखड़ी॥

राम गये बनबास कूँ सब रंग ले गए ।
ले गए म्हांरी काया को सिंगार तुलसी री माला दे गए ।
खोई कुल की लाज मुकुंद थाँरे कारणे ।
बेगुही लीज्यो संभाल मीरा पड़ी बारणे ॥

[९४]

नहिं भावै थारो देसलड़ो रंगरुड़ो ।
थांरां देसाँ में राणा साध नहीं छै लोग बसै सब कूड़ो ॥
गहणा गांठी राणा हम सब त्याग्या लाग्यो करारो चूड़ो ।
काजल टीकी हम सब त्याग्या त्यायो है बाँधन जूड़ो ॥
मेवा मिसरी मैं सब ही त्याग्या छै सक्कर बूरो ।
तन की आस कबहुँ नहिं कीनो ज्यूँ रण माही सूरो ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बर पायो में पूरो ॥

[९५]

आज हमारो साधुजन नो संगरे राणा म्हांरा भाग भल्याँ ।
साधु जननो संग जो करिए चढ़े ते चौगणों रंग रे ।
साकट जनन तो संग न करिये पड़े भजन में भंग रे ।
अड़सठ तीरथ संतों ने चरणे कोटि कासी ने सोय गंग रे ॥
निन्दा करसे नरककुंड माँ जासे थासे आँधला अपंग रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर संतों नी रज म्हांरे अंग रे ॥

[९६]

राम तने रंगराची राणा मैं तो साँवलिया रंग राची रे ।
ताल पखावज मिरदंग बाजा साधाँ आगे नाची रे ॥
कोई कहे मीरा भई बावरी कोई कहे मदमाती रे ।
विष का प्याला राणा भेज्या अमृत कर आरोगी रे ॥
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर जनम जनम की दासी रे ॥

[९७]

राणा जी थे क्याँ ने राखो म्हासूँ बैर ।
थे तो राणाजी म्हांने ईसड़ा लागे ज्यों ब्रच्छन में कैर ।
म्हैल अटारी हम सब त्याग्या त्याग्या थांरो वसनो सहर ॥
काजल टीकी राणा हम सब त्याग्या भगवों चादर पहर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर इमरित कर दियो जहर ॥

[९८]

सिसोद्यो रूठ्यो तो म्हांरो कांइ करलेसी ।
म्हें तो गुण गोविंद का गास्यां हो माई ।।
राणा जी रूठ्यो वांरो देस रखासी ।
हरि रूठ्यां कुम्हलास्यां हो माई ।।
लोक लाज की काण न मानूं ।
निरभै निसाण घुरास्यां हो माई ।।
राम नाम का झाझ चलास्यां ।
भवसागर तर जास्यां हो माई ।।
मीरा सरण सांवल गिरधर की ।
चरण कंवल लपटास्यां हो माई ।।

[९९]

राणाजी म्हारी प्रीत पुरबली मैं कांई करूँ ।
राम नाम बिन घड़ी न सुहावे राम मिले म्हांरा हियरा ठहराय ।।
भोजनियां नांहि भावै म्हाने नींदलड़ी नहिं आय ।।
विष को प्यालो भेजियो जी जावो मीरा पास ।
कर चरणामृत पी म्हारे गिरधर रो बिस्वास ।।
विष का प्याला पी गई जी भजन करे राठोर ।
थारी मारी न मरूँ म्हारो राखणहारो और ।।
छापा तिलक बनाविया जी मन निस्चय धार ।
रामजी काज संवारिया म्हांने भावे गरदन मार ।।
पेट्यां वासुकि भेजिया जी यो छै मोती डोरो हार ।
नाग गले में पहिरिया म्हारे महलां भयो उजार ।।
राठौडांरी धीयड़ी जी सींसोद्यांरे साथ ।
ले जाती बैकुंठ कूं म्हांरी नेक न मानो बात ।।
मीरा दासी राम की जी राम गरीबनिवाज ।
जन मीरा को राखज्यो कोई बॉह गहे की लाज ।।

[१००]

राणाजी थें जहर दियौ म्हे जाणी ।
जैसे कंचन दहत अगिन में निकसत बारह वाणी ।
लोक लाज कुल काण जगत की दइ बहाय जस पाणी ।।

अपने घर का परदा कर ले मैं अबला बौराणी।
तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे गरक गयो सनकाणी।।
सब संतन पर तन मन वारों चरण कँवल लपटाणी।
मीरा को प्रभु राखि लई है दासी अपणी जाणी।।

[१०१]

यो तो रंग धत्तां लग्यो ए माए।
पिया पियाला अमर रस का चढ़ गई घूम घुमाय।
यां तो अमल म्हांरे कबहुं न उतरे कोटि करो उपाय।।
साँप पिटारी राणा जी भेज्यो द्यो मेड़तणी गल डार।
हँस हँस मीरा कंठ लगायो यो तो म्हांरे नौसर हार।।
विष को प्यालो राणाजी भेज्यो द्यो मेड़तणी प्याय।
कर चरणामृत पा गई रे गुण गोबिन्द रा गाय।
पिया प्याला नामका रे और न रंग सोहाय।।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर कांचो रंग उड़ जाय।।

[१०२]

मैं गोविन्द गुण गास्यां।
राजा रूठै नगरी राखै हरि रूठ्यां कहँ जास्यां।
राणै भेज्या जहर पियाला इमरित करि पी जाणा।।
डबिया में भेज्या ज भुवंगम सालिगराम करि जाणा।
मीरा तो अब प्रेम दिवाणी सांवलिया वर पाणा।।

[१०३]

म्हांसूं हरि बिन रह्यो न जाय।
सास लड़ै मेरी ननद खिजावै राणा रह्या रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्‌यो ताला दियो जड़ाय।।
पूर्व जनम की प्रीत पुराणी सो क्यूं छोड़ी जाय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर और न आवे म्हांरी दाय।।

[१०४]

अब नहिं बिसरूं म्हांरे हिरदे लिख्यो हरि नाम।
म्हांरे सतगुरु दियो बताय अब नहिं बिसरूं रे।।
मीरा बैठी महल में रे ऊठत बैठत राम।
सेवा करस्यां साधु की म्हांरे और न दूजा काम।।

राणाजी बतलाइया काँइ देणो जवाब ।
मण लागो हरिनाम सूँ म्हारों दिन दिन दूना लाभ ॥
सीप भर्यो पाणी पिवे रे टाँक भर्यो अन्न खाय ।
बतलाया बोलो नहीं रे राणोजी गया रिसाय ॥
विषरा प्याला राणाजी भेज्या दीजो मेड़तणी हाथ ।
कर चरणामृत पी गई म्हारां सबल धणी का साथ ॥
विष की प्यालो पी गई भजन करे उस ठौर ।
थाँरा मारी ना मरूँ म्हांरा राखणहारो और ॥
राणो जी मो पर कोप्यो रे मारूँ एक न सेल ।
मार्यां पराछित लागसी म्हांने दीजो पीहर मेल ॥
राणो मोपर कोप्यो रे रती न राख्यो मोद ।
ले जाती बैकुंठ में यो तो समझ्यो नहीं सिसोद ॥
छापा तिलक बनाइया तजिया सब सिंगार ।
म्हें तो सरणे राम के भल निन्दा संसार ॥
माला म्हांरे देवड़ी सील बरत सिंगार ।
अबके किरिपा कीजियो, हूँ तो फिर बाँधू तलवार ॥

[१०५]

रथाँ बैल जुताय कै ऊटाँ कसियो भार ।
कैसे तोड़ूँ राम सूँ म्हाँरो भो भो रो भरतार ॥
राणो साँड्यो मोकल्यो जाज्यो एके दौड़ ।
कुल को तरण अस्तरी या तो मुरड़ चली राठौड़ ॥
साँड्यो पाछो फेर्यो रे परत न देस्याँ पाँव ।
करसूरापण नीसरी म्हाँरे कुण राणे कुण राव ॥
संसारी निन्दा करे रे दुखियो सब संसार ।
कुल सारो हो लाजसीं मीरा थें जो भया जो ख्वार ॥
राती माती प्रेम की विष भगत को मोड़ ।
राम अमल माती रहै धन मोरा राठोड़ ॥

[१०६]

मीरा – माई म्हाँने सुपणों में परण गया जगदीस ।
सोती को सुपना आविया जी सुपना विस्वा बीस ॥
मा— गैली दीखे मीरा बावली सुपणा आल जञ्जाल ।

मीरा—माई म्हाँने सुपने में परण गया गोपाल ॥
अंग अंग हल्दी मैं करी जी सूधे भीज्यो गात ।
माई म्हाँने सुपने में परण गया दीनानाथ ॥
छप्पन कोटि जहाँ जान पधारे दुलहा श्री भगवान् ।
सुपने में तोरन बाँधियो जी सुपने में आई जान ॥
मीरा को गिरधर मिल्या जी पूर्व जनम के भाग ।
सुपने में म्हाँने परण गया जी हो गया अचल सुहाग ॥

[१०७]

कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊँ री ।
उदक दादुर पीनवत है जल से ही उपजाई ॥
पल एक जल कूँ मीन बिसरै तलफत मर जाई ।
पिया बिन पीली भई रे ज्यों काठ घुन खाय ॥
औषध मूल न संचरै रे (बाला) बैद फिर जाय ।
उदासी होय बन बन फिरूँ रे बिथा तन छाई ॥
दासि मीरा लाल गिरधर मिल्या है सुखदाई ।

[१०८]

तूँ मत गरजे माइ री साधाँ दरसण जाती ।
राम नाम हिरदै बसै माहिले मदमाती ॥
माई कहै सुन धीहड़ी काहे गुण फूली ।
लोक सोवै नींदड़ी थें क्यों रैणज भूली ॥
गेली दुनिया बावली ज्याँ कूँ राम न भावै ।
ज्याँ रे हिरदे हरि बसे त्यांकूँ नींद न आवै ॥
चौवास्याँ की बावड़ी ज्यांकूँ नीर न पीजै ।
हरि नाले अमृत भरै ज्याँकी आस करीजै ॥
रूप सुरंगा रामजी मुख निरखत जीजै ।
मीरा व्याकुल विरहिणी अपणी कर लीजै ॥

[१०९]

म्हाँना गुरु गोबिन्द री आण गोरल ना पूजाँ ।
और ज पूजै गोरज्याँ जी थें कूँ पूजो न गोर ।
मन बंछत फल पावस्यो जी थें क्यूं पूजे और ॥
नहिं हम पूज्याँ गोरज्याँ जी नहिं पूजा अनदेव ।
परम सनेही गोबिंदो थें कांई जानो म्हाँरो भेव ॥

बाल सनेही गोबिंदो साध संताँ को काम ।
थे बेटी राठोड़ की थांने राज दियो भगवान् ॥
राज करे ज्याँना करणे दीज्यो मैं भगतारी दास ।
सेवा साधू जनन की म्हाँरे राम मिलण की आस ॥
लाजै पीहर सासरो माइतणो मोसाल ।
सबही लाजै मेड़तिया जी थांसू बुरा कहे संसार ॥
चोरी करौ न मारगी नहि मैं करूँ अकाज ।
पुन्न के मारग चालताँ झक मारो संसार ॥
नहि मैं पीहर सासरे नह पियाजी रो साथ ।
मीरा ने गोबिंद मिल्या जी गुरु मिलिया रैदास ॥

[११०]

ऊदा — थांने बरज बरज मैं हारी भाभी मानो बात हमारी ।
राणे रोस कियो थाँ ऊपर साधाँ में मत जा री ॥
कुल को दाग लगै छै भाभी निन्दा हो रही भारी ।
साधाँ रे संग बन बन भटको लाज गमाई सारी ॥
बड़ा घर थे जनम लियो छै नाचो दे दे तारी ।
बर पायो हिंदवाणै सूरज थे कांई मन धारी ॥
मीरा गिरधर साध संग तज चलो हमारी लारी ।

मीरा—मीरा बात नहीं जग छानी ऊदा समझो सुघर सयानी ।
साधू मात पिता कुल मेरे सजन सनेही ग्यानी ॥
संत चरण की सरण रैण दिन सत्त कहत हूँ बानी ।
राणा ने समझावो जावो मैं तो बात न मानी ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर संताँ हाथ बिकानी ॥

ऊदा—भाभी बोलो बात बिचारी ।
साधाँ की संगत दुख भारी मानो बात हमारी ।
छापा तिलक गलहार उतारो पहिरो हार हजारी ॥
रतन जड़ित पहिरो आभूषण भोगो भोग अपारी ।
मीरा जी थें चलो म्हैल में थाँने सोगन म्हारी ॥

मीरा—भाव भगत भूषण सजे सील संतों सिंगार ।
ओढ़ी चूनर प्रेम की म्हाँरो गिरधर जी भरतार ॥
ऊदाबाई मन समझ जावो अपने धाम ।
राज पाट भोगो तुम्हीं, हमें न तासूं काम ॥

[१११]

मीरा मगन भई हरि के गुण गाय ।
साँप पिटारा राणा भेज्यो मीरा हाथ दियो जाय ।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम गई पाय ।
जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय ।
न्हाय धोय जब पीवण लागी हो अमर अँचाय ।।
सूल सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीरा सुलाय ।
साँझ भई मीरा सोवन लागी मानो फूल बिछाय ।।
मीरा के प्रभु सदा सहाई राखे बिघन हटाय ।
भजन भाव में मस्त डोलती गिरधर पै बलि जाय ।।

[११२]

मुझ अबला ने माटी नीरांत थई ।
सामलो घरेनु म्हाँरे साँचे रे ।।
वाली गढ़ाऊँ बीठल वर केरी हार हरि ने म्हाँरो हइये रे ।
बीन माल चतुरभुज चूड़लो सिद सोनी घरे जइये रे ।।
झाँझरिया जगजीवन केरा किस्न गलाँ री कंठी रे ।
बिछुवा घुंघरा राम नरायण अनवट अन्तरजामी रे ।।
पेटी घड़ाऊँ पुरुषोतम केरो टीकम नाम नूँ तालो रे ।
कूँची कराऊँ करुनानन्द केरी तेमाँ घँणानूं मारूँ रे ।।
सासर बासो सजोने बैठी हवे नथी काइ काँचूं रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरिनुं चरणे जाचुं रे ।।

---

[११२] नीरांत = आश्रय, आधार, भरोसा, अवलम्ब ।

मिलन और आनन्दोन्माद

[११३]

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गई दासी रे।
लोग कहैं मीरा भई बावरी न्यात कहैं कुलनासी रे॥
विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हाँसी रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे॥

[११४]

रंग भरी रंग भरी रंग सूँ भरी री।
होली आई प्यारी रंग सूँ भरी री॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल पिचकारिनि की लगी झरी री।
चोवा चन्दन और अरगजा केसर गागर भरी धरी री॥
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चेरी होय पायन में परी री॥

[113-15] "No words can express the wonderful love and the ecstasy of happiness that was shed abroad in my heart. I wept aloud with joy and love and I do not know but I should say I literally bellowed out the unutterable gushings of my heart. These waves came over me and over me and over me one after the other, until I recollect I cried out. I shall die if these waves continue to pass over me."

President Finnes's accounts in The Varieties of Religious Experiences 255

The difference between trance and transport (ecstasy) is this. In a trance the soul gradually dies to outward things, losing the senses and living unto God. But a transport came on by one sole act of His Majesty wroght in the innermost part of the soul with such swiftness that it is as if in the higher part thereof were carried away and the soul were leaving the body. Rapture comes in general as a shock quick and sharp, before you

[११५]

बदला रे तू जल भरि ले आयो ।
छोटी-छोटी बूंदन बरसन लागी कोयल सबद सुनायो।
गाजै बाजै पवन मधुरिया अम्बर बदराँ छायो ।।
सेज सँवारी पिया घर आये हिलमिल मंगल गायो ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी भाग भलो जिन पायो ।।

[११६]

जोसीड़ा ने लाख बधाई रे अब घर आये स्याम ।
आजि आनन्द उमगि भयो है जीव लहै सुखधाम ।।
पाँच सखी मिलि पीव परसि कै आनन्द ठामूँ ठाम ।
बिसरि गई दुख निरखि पिया कूँ सुफल मनोरथ काम ।।
मीरा के सुख सागर स्वामी भवन गवन कियो राम ।

---

can collect your thoughts or help yourself in any way. You see and feel it as a cloud, or a strong eagle rising upward and carrying you away on its wings. You feel and see yourself carried away, you know not whither. This supreme state of ecstasy never lasts long, but although it ceases it leaves the will so inebriated and the mind so transported out of itself that such a person is incapable of attending to any thing, although wide awake. She seems asleep as regards all earthly matters."

—*St. Teresa*

[११५] बरसात तो यों सर्वत्र ही सुखद और सुहावनी होती है, पर राजस्थान में उसका और ही आनन्द है क्योंकि मेघ के दर्शन वहाँ दुर्लभ होते हैं। मेघ उधर गरजने-लरजने लगते हैं इधर मोर बोलने लगते हैं और पंख पसार-कर नाचने लगते हैं। मिलन के समय यह सारा दृश्य मीरा के हृदय को गुदगुदा रहा है, क्योंकि 'सेज सँवारी पिया घर आये हिलमिल मंगल गायो'। समस्त प्रकृति इस मिलन-वेला में मधु घोल रही है। मीरा का सारा वातावरण सुहावना और सजीला हो गया है क्योंकि यह प्रिय-मिलन का समय है।

[११६] इस पद में मिलनजन्य आनन्दोल्लास का बड़ा ही भव्य एवं मनोहारी चित्रण है 'बिसरि गई दुख निरखि पिया कूँ' में कितनी स्वाभाविक उल्लासपूर्ण सुखानुभूति की दिव्य व्यंजना है। 'उसे' पाकर जन्म-जन्म के प्यासे प्राण जुड़ा गए, परितृप्त हो गए।

[११७]

रे साँवलिया म्हारे आज रंगीलो गणगोर छै जी ।
काली-पीली बदली में बिजली चमके मेघ घटा घनघोर छै जी ॥
दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही सोर छै जी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणों में म्हांरो जोर छै जी ॥

[११८]

झुक आई बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की ।
सावन में उमंग्यो मेरो मनवा भनक सुनी हरि आवन की ।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि से आयो दामिण दमक झर लावन की ।
नान्हीं नान्हीं बूंदन मेहा बरसै सीतल पवन सोहावन की ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आनन्द मंगल गावन की ।

[११९]

सावण दे रह्या जोरा रे घर आयो जी स्याम मोरा रे ।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि से आया गरजत है घनघोरा रे ।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल कर रही सोरा रे ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जो वारूँ सो ही थोरा रे ॥

[१२०]

साजन घर आवो मिठबोला ।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ थाँ हीं आया होंसी भला ।
आवो निसंक संक मत मानो आयाँ ही सुख रहला ।
तन-मन वार करूँ न्यौछावर दीजो स्याम मोहेला ॥
आतुर बहुत बिलम नहिं करणा आयाँ ही रंग रहेला ।
तेरे कारण सब रंग त्यागा काजल तिलक तमोला ॥
तुम देख्याँ बिन कल न परत है कर धर रही कपोला ।
मीरा दासी जनम-जनम की दिल की घुण्डी खोला ॥

[१२१]

सहेलियाँ साजन घर आया हो ।
बहोत दिनाँ की जोवती बिरहणि पिव पाया हो ।
रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूं हो ।
पिया का दिया सनेसड़ा ताहि भोत निवाजूं हो ॥

सखी सब इकठी भई मिलि मंगल गावै हो।
पिय के ... अब चाहा आँगन लगि न आवै हो॥
हरि सागर सूँ नेहरो नैणाँ बंध्या सनेह हो।
मीरा सखी के आँगणै दूधाँ बूठा मेह हो॥

[१२२]

म्हाँरो ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया हिल मिल मंगल गाया जी॥
घन की धुन सुनि मोर मगन भया यूँ आणंद आया जी।
मगन भई मिलि प्रभु अपणां सूँ भौ का दरद मिटाया जी॥
चंद कूँ देखि कमोदणि फूलें हरखि भया मेरी काया जी।
रग रग सीतल भई मेरी सजनी हरि मेरे महल सिधाया जी॥
सब भगतन का कारज कीन्हा सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीरा बिरहणि सीतल होई दुख दुन्द नसाया जी॥

[१२३]

म्हे तो राजी भई मेरे मन में मोहि पिया मिले इक छिन में।
पिया मिल्या मोहि किरपा कीन्हीं दीदार दिखाया हरि ने॥
सतगुरु सब्द लखायो अन्तरी ध्यान लगाया धुन में।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मगन भई मेरे मन में॥

---

[१२१] विरहिणी युग-युग से प्रीतम प्यारे की प्रतीक्षा में थी। आज वह 'उन्हें' पाकर निहाल हो रही है। इस मधुर मंगल मिलन में आनन्द उमड़ा-उमड़ा फिरता है, हृदय में समा नही रहा है। पिया ने आने को संदेश भेजा था, वह आज सच निकला, और इसलिए विरहिणी कह रही है कि मैं अपने प्यारे के संदेश का बहुत आदर करती हूँ क्योंकि वह मेरा प्रियतम अपनी बात का सच्चा है। आज आनन्द-मगन का क्या कहना! जिस प्रकार सागर से बूँदें उठकर फिर मेघ रूप में कहीं बरस जाती है, इसी प्रकार हरि रूपी सागर से नेह की बूँदें उठकर आज मीरा के आँगन में झमाझम बरस रही है।

[१२२] एक बार प्रभु के शीतल अमृत स्पर्श का अनुभव कर लेने पर तन का सारा ताप, हृदय की सारी व्यथा मिट जाती है और जन्म-जन्म के संकट क्षण में दूर हो जाते है। हृदय के अन्दर एक अपूर्व आधार और भरोसा बना रहता है। चन्द्रमा को देखकर जिस प्रकार कुमुदिनी खिल उठती है वैसे ही मीरा का हृदय, मन, प्राण, उसका रोम-रोम खिल उठा है, रग-रग शीतल हो गया है।

[१२४]

चालां वही देस प्रीतम चालां वाही देस ।
कहो कसूमल साड़ी रँगावा कहो तो भगवां भेस ।।
कहो तो मोतियन माँग भरावा कहो छिटकावा केस ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुणज्यो बिड़द नरेस ।।

[१२५]

फागुन के दिन चार रे होरी खेल मना रे ।
बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे ।।
बिन सुर राग छतीसूँ गावै रोम रोम रंग सार रे ।
सील सतोख की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकारी रे ।।
उड़त गुलाल लाल भए बादल बरसत रंग अपार रे ।
घट के पट सब खोल दिए हैं लोक लाज सब डार रे ।।
होरी खेलि पीव घर आए सोइ प्यारी प्रिय प्यार रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल बलिहार रे ।।

[१२६]

बाल्हा मैं वैरागिण हूँगी हो ।
जीं जीं भेष म्हांरो साजन रीझै सोइ भेष धरूँगी हो ।।
सील संतोष धरूँ घट भीतर समता पकड़ रहूँगी हो ।
जाको नाम निरंजण कहिए ताको ध्यान धरूँगी हो ।।
गुरू ग्यान रगूँ तन कपड़ा मन मुद्रा फेरूँगी हो ।
प्रेम प्रीत सूँ हरिगुण गाऊँ चरणन लिपट रहूँगी हो ।।
या तन की मैं करूँ कींगरी रसना राम रटूँगी हो ।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर साधां संग रहूँगी हो ।।

---

[१२४] मीरा कह रही है, 'ऐ मेरे साजन', चलो तुम्हारे देश चलूँ। कहो तो कुसुम्भी साडो पहन लूँ, कहो तो भगवा वेश धारण कर लूँ, कहो तो माँग मोतियो से भरा लूँ या कहो तो केश बिखेर लूँ ।'

राजस्थान में प्रायः सुहागिनें काली चौड़ी पाटियों पर मोतियों की लड़ियों से माँग सजाती है ।

[१२७]

तूँ नागर नन्दकुमार तोस्यों लाग्यो नेहरा ।
मुरली तेरी मन हरयो बिसरयो ग्रिह व्योहार ॥
जब ते स्रवननि धुनि परी ग्रिह अंगना न सुहाइ ।
पारधि ज्यूं चूकै नहीं मृगी बेधि दई आइ ॥
पानी पीर न जाणई मीन तलफि मरि जाइ ।
रसिक मधुप के मरम को नहिं समझत कँवल सुभाइ ॥
दीपक को जू दया नहीं उड़ि उड़ि मरत पतंग ।
मीरा प्रभु गिरधर मिले जैसे पाणी मिल गयो रंग ॥

[१२८]

हमरे रौरे लागलि कैसे छूटै ।
जैसे हीरा हनत निहाई तैसे हम रौरे दनि आई ॥
जैसे सोना मिलत सोहागा तैसे हम रौरे दिल लागा ।
जैसे कमल नाल बिच पानी तैसे हम रौरे मन मानी ॥
जैसे चँदहि मिलत चकोरा तैसे हम रौरे मिल जोरा ।
जैसे मीरा पति गिरधारी तैसे मिलि रहु कुंज बिहारी ॥

---

[१२७] सच्चा प्रेमी इस बात की ओह् नहीं देखता कि उसका प्रिय पात्र उससे प्रेम करता है या नहीं, वह प्रेम करने में ही आनन्द पाता है। प्रेम का नशा बहुत ही मादक होता है। हरिणी वीणा के स्वर पर आनन्द-विभोर होकर मृत्यु की गोद में छलाँग मार जाती है। जल के बिना मछली का जीवन असम्भव है, परन्तु जल को उसकी व्याकुलता का क्या पता ? भौंरा काठ छेद देता है पर कमल-कोष मे वन्दी हो जाता है और घुट-घुटकर प्राण दे देता है परन्तु कमल उस पर क्यों प्रीति करता है ? शलभ दीपक पर अपने को निछावर कर देता है और भस्म हो जाता है, परन्तु निर्मम दीपक को उससे क्या गरज ? इसी प्रकार वह 'निठुर' (हाय, 'निठर' कहते भी तो नहीं बनता, जो प्राणों को इतना प्रिय और इतना 'अपना' है उसे 'निठुर' कैसे कहा जाए ?) भले ही द्रवित न हो अपना हृदय तो प्यार किए बिना नहीं मानता। मीरा कहती है कि मैं तो अपने साँवरे के रंग में यों घुल गई जैसे पानी में रंग घुल जाता है।

[128] Nothing can show God's grace more than that He pines for man. His chosen bride whose wordliness and pride refuse to surrender to the soft alluring melodies of the flute of a reed ever resounding since man's separation from God. God

[१२६]

म्हाँरो जनम मरण को साथी थाँने नहिं बिसरूँ दिन राती।
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है जानत मेरी छाती॥
ऊँची चढ़ चढ़ पंथ निहारूँ रोय रोय अँखियाँ राती।
यो संसार सकल जग झूठो झूठा कुलरा न्याती॥
दोउ कर जोड़्याँ अरज हूँ सुण लीज्यो मेरी बाती।
यो मन मेरो बड़ो हरामी ज्यूँ मदमातो हाथी॥
सदगुरु हस्त धर्यो सिर ऊपर आंकुस दे समझाती।
पल पल तेरा रूप निहारूँ निरख निरख सुख पाती।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणों चित राती।

[१३०]

आली म्हांने लागे बृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविंद जी को।
निरमल नीर बहत जमना में भोजन दूध दही को॥
रतन सिंघासण आप बिराजे मुगट धर्‍यो तुलसी को।
कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको।

lays aside all His godliness in order to win over man, He tries all the arts and wills. The climax is reached when we read in Jaideva's 'Gita Govinda' of God cajoling man by saying, "Oh Thou ! surrender to me, the generous lotus feet !"

'देहि मे पदपल्लवमुदारम्।'

—*Theory and Art of Mysticism*

[१३०] यह पद तब का मालूम होता है जब मीरा ने अपने 'साजन' से मिलने के लिए 'अभिसार' किया था और बृन्दावन आई थी। इस पद में मीरा के आनन्द का कितना सुन्दर और स्वाभाविक उल्लासपूर्ण वर्णन है। 'कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को' में कितनी गम्भीर व्यंजना है! यह स्वयं मीरा के हृदय की स्थिति है—स्वयं मीरा मुरली की मोहिनी में एक कुंज से दूसरे कुंजों में भटक रही है, उस 'न मिलने वाले,' उस 'ना ना की मधुर मूरत' को भर आँख देख पाने के लिए। बृन्दावन के वे कुंज अब भी प्रिया-प्रीतम की मिलन-माधुरी से उल्लसित और सुवासित हैं।

[१३१]

चलो मन गंगा जमना तीर ।
गंगा जमना निरमल पानी सीतल होत सरीर ।
बंसी बजावत गावत कान्हो संग लियो बलबीर ।।
मोर मुगट पीतांबर सोहै कुंडल झलकत हीर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर सीर ।।

[१३२]

हो कांन्हा किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ ।
सुघर कला प्रवीन हाथन सूँ जसुमतिजू ने सँवारियाँ ।।
जो तुम आओ मेरी बाखरियाँ जरि राखूँ चंदन किवारियाँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर इन जुलफन पर वारियाँ ।।

[१३३]

गोकुला के वासी भले ही आए गोकुला के वासी ।
गोकुल की नारि देखत आनन्द सुखरासी ।।
एक गावत एक नाचत एक करत हाँसी ।
पीताम्बर फेटा बाँधे अरगजा सुबासी ।।
गिरधर-से सुनवल ठाकुर मीरा-सी दासी ।।

[१३४]

सखी म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर ।
मोर मुगट पीतांबर सोहै कुंडल की झकझोर ।।
बिंद्रावन की कुंज गलिन में नाचत नन्द किसोर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चितचोर ।।

[१३५]

जागो बंसीवारे ललना, जागो मेरे प्यारे ।
रजनी बीती भोर भयो है घर घर खुले किवारे ।
गोपी दही मथत सुनियत है कँगना के झनकारे ।।

---

[१३५] प्रिय-जागरण का कितना मनोहर दृश्य है ! सवेरा हो गया है । घर-घर के किवाड़ खुल गए हैं । ग्वालिनें दही मथ रही हैं और दही मथते समय उनके हाथों के कंगन और चूड़ियाँ बज रही हैं । ग्वाल बाल आकर शोर मचा

उठो लाल जी भोर भयो है सुर नर ठाढ़े द्वारे।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल जय जय सबद उचारे।
माखन रोटी हाथ में लीनी गउवन के रखवारे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर शरण आया कुं तारे॥

[१३६]

गोहनें गुपाल फिरूँ ऐसी आवत मन में।
अवलोकत बारिज बदन बिबस भई तन में॥
मुरली कर लकुट लेऊँ पीत बसन धारूँ।
काछी गोप भेष मुकट गोधन सँग चारूँ॥
हम भई गुल्म लता वृन्दाबन रैनाँ।
पसु पंछी मरकट मुनी श्रवन सुनत बैना॥
गुरुजन कठिन कानि कासों री कहिए।
मीरा प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए॥

[१३७]

स्याम म्हाँसूँ ऐंठो डोले हो।
औरन सूँ खेलै धमार म्हाँसूँ मुख हूँ न बोलै हो॥
म्हाँरी गलियाँ ना फिरै वाके आँगण डोलै हो।
म्हाँरी अँगुरी ना छुवै वाकी बहियाँ मोरै हो॥
म्हाँरो अँचरा ना छुवै वाको घूँघट खोलै हो।
मीरा के प्रभु साँवरो रंगरसिया डोलै हो॥

रहे हैं—सब-के-सब हाथ में रोटी-माखन लिये हुए गाय चराने के लिए अपने प्यारे सखा कन्हैया को बुलाने आये हैं। ऐसे भोर के समय मीरा अपने प्राणाधार श्री गिरधर नागर को जगा रही है—'जागो बसीवारे ललना, जागो मेरे प्यारे!' यह यशोदा का अपने कुँवर क जगानाो नहीं है, यह प्रिया का अपने प्रियतम को जगाना है।

[१३७] इस पद में प्रणय-जन्य ईर्ष्या का कितना सुन्दर एवं भावपूर्ण मर्मस्पर्शी चित्र है जिसमें प्रेमिका अपने प्रणय देवता की 'निष्ठुरता' की मीठी-मीठी शिकायत कर रही है।

[१३८]

आली साँवरो की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है।
लागत बेहाल भई तन की सुधि - बुधि गई ।।
तन - मन व्यापो प्रेम मानो मतवारी है।
सखियाँ मिलि दुइ चारी बावरी सी भई न्यारी ।।
हों तो वाको नीको जानो कुंज को बिहारी है।
चन्द को चकोर चाहे दीपक पतंग दाहे ।।
जल बिना मीन जैसे तैसे प्रीत प्यारी है।
विनती करो हे स्याम लागों मैं तुम्हारे पाँव ।।
मीरा प्रभु ऐसे जानो दासी तुम्हारी है।

[१३९]

प्रेमनी-प्रेमनी रे मन लागे कटारी प्रेमनी रे।
जल जमुना माँ भरवा गयाँ ताँ हतो गागर माथे हेमनी रे ।।
काचे ते तातणे हरिजी ए बाँधो जेम खिंचे तेम तेमनी रे।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर साँवली सूरत सुभ एमनी रे ।।

[१४०]

माई मेरो मोहने मन हर्यो।
कहा करूँ कित जाऊँ सजनी प्राण पुरुस सूँ वर्यो।
हूँ जल भरने जात थी सजनी कलस माथे धर्यो।
साँवरी सी किसोर मूरत कछुक टोनो कर्यो ।।
लोक लाज बिसारि डारो तबहीं कारज सर्यो।
दासि मीरा लाल गिरधर छान ये वर वर्यो।

[१४१]

छाँड़ो लंगर मोरी बहियाँ गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना।
जो तुम बहियाँ मोरी गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना ।।

---

[138] The mystic sees a light that never was no sea and land. He hears a sound which ear has not heard. He conquers space and time. He becomes luminous in his ecstasy and exhales sweet perfumes. Even the birds and beasts of the forest love him such is the tenderness that he diffuses all around. Strange feelings surge from the unfathomable depths of his heart. The voice of the whole humanity is uttered in his prayer.

—*Theory and Art of Mysticism*

बृन्दावन की कुंज गली में रीत छोड़ अनरीत करो ना।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना ।।

[१४२]

आवत मोरी गलियन में गिरधारी मैं तो छुप गई लाज की मारी।
कुसुमल पाग केसरिया जामा ऊपर फूल हजारी।
मुकुट ऊपर छत्र बिराजे कुंडल की छवि न्यारी ।।
केसरी चीर दरयाई को लहँगो ऊपर अंगिया भारी।
आवत देखो किसन मुरारी छुप गई राधा प्यारी ।।
मोर मुकुट मनोहर सोहे नथनी की छबि न्यारी।
गल मोतिन की माल विराजै चरण कमल बलिहारी ।।
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है सुणजे किसन मुरारी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर वारी ।।

[१४३]

भई हों बावरी सुन के बाँसुरी हरि बिन कछु न सुहाये माई।
स्रवन सुनत मेरी सुध-बुध बिसरी लगी रहत तामें मनकी गाँसुरी।
नेम धरम कोन कीनी मुरलिया कोन तिहारे पासु री।
मीरा के प्रभु बस कर लीने सप्त सुरन तानन की फाँसु री।

[१४४]

आज अनारी ले गयो सारी बैठ कदम की डारी हे माय।
म्हारे गल पड्या गिरधारी हे माय, ।।
मैं जल जमुना माँ भरन गई थी आ गयो कृष्ण मुरारी हे माय।
ले गयो सारी अनारी म्हारी जल मैं ऊभी उघारी हे माय।
सखी सयानी मोरी हँसत है हँसि-हँसि दे मोहि तारी हे माय।
सास बुरी अरु ननद हठीली लरि-लरि दे मोहि गारी हे माय ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की वारी हे माय ।।

[१४५]

या ब्रज में कछू देख्यो री टोना।
ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी ले लेहु री कोई स्याम सलोना ।।
बिंद्रावन की कुंज गलिन में आँख लगाइ गयो मनमोहना।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुन्दर स्याम सुघर रसलोना ।।

[१४६]

कोई स्याम मनोहर लो री, सिर धरैं मटुकिया डोलै।
दधि को नाम बिसरि गई ग्वालिन हरि ल्यो, हरि ल्यो बोलै॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चेरी भई बिन मोलै।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिनि औरहि और औरै बोलै॥

[१४७]

कमल दल लोचना तैंने कैसे नाथ्यो भुजंग।
पैसि पियाल कालीनाग नाथ्यो फण फण निर्त करन्त॥
कूद पर्यो न डर्यो जल माँहीं और काहूँ नहिं संक।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर श्री बृन्दावनचंद॥

[१४८]

होली खेलत हैं गिरधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारो संग जुवति ब्रजनारी।
चंदन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी।
भरि भरि मूठी गुलाल लाल चहुँ देत सबन पै डारी।
छैल छबीले नवल कान्ह संग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चार धमार राग तहँ दै दै कल करतारी।

[१४५-१४६] ये भोरी अहीरिनें भी कितनी भाग्यशालिनी थीं जिनकी चुटकियों पर श्यामसुन्दर नाचे। इनके पूर्व पुण्य का हिसाब कौन लगा सकता है जिन्होंने हरि को खेलाया—अन्तःमुख से खेलाया और वाह्य सुख से भी उन्हें पाकर मुख का चुम्बन दिया। भगवान् ने उन्हें अन्तःसुख दिया, जिन्होंने एकनिष्ठ भाव से उन्हें भजा। श्रीकृष्ण में जिनका तन-मन लग गया जो घर और द्वार और पति-पुत्र तक को भूल गई, जिनके लिए धन, मान और स्वजन विषसे हो गए वे एकान्त मे वन बसाने लगीं।

इन ग्वालिनों के प्रेम का कोई क्या बखान करे? दही बेचने चली है, राह में श्यामसुन्दर मिल जाते हैं, फिर सारी सुध-बुध भूल जाती है—'लो दही, लो दही' के बजाय 'लो गोपाल, लो गोपाल' कहने लगती हैं।

सूरदास का 'कब्र की मह्यो लिये सिर डोलै' पद इसी भाव का बड़ा ही सुन्दर है।

[१४६]

नंदनंदन बिलमाई बदरा ने घेरी माई ।
इत घन गरजे उत घन लरजे चमकत बिज्जु सवाई ।
उमड़ उमड़ चहुँ दिसि से आया पवन चलै पुरवाई ॥
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणाई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाई ॥

[१५०]

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।
म्हैल चढ़े चढ़ि जोऊ मेरी सजनी कब आवें महराज ॥
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज ।
उमंग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसै दामिण छोड़ी लाज ॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन कै काज ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेगि मिलो महराज ॥

---

[१४६] इस पद की गति और ध्वनि पर, लय और ताल पर ध्यान दीजिये। काव्य-रचना की दृष्टि से मीरा के गीतों में यह बहुत ही पुष्ट है। उमड़ती हुई मेघमाला के साथ पुरवैया ने वर्षाकाल का एक बहुत ही सजीला चित्र उपस्थित कर दिया है। सारंग राग मे यह बड़े ही मीठे ढंग से गाया जा सकता है।

[१५०] समस्त प्रकृति निरावृत होकर, रस में सराबोर होकर, अपने प्राणवल्लभ से मिल रही है। उस समय मीरा को हरि का वियोग और खलने लगता है और बार-बार वह महल पर चढ़कर 'उन' के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। 'दामिणि छोड़ी लाज' में कितना गम्भीर संकेत है—आज समस्त प्रकृति लज्जा छोड़कर अपने प्रिय से मिल रही है, इन्द्र से मिलने के लिए पृथ्वी ने नई हरी साड़ी पहन ली है। ऐसे समय में—जब चारों ओर मिलन का समाँ बँधा हो, प्रियतम के विरह में मीरा भुलस रही है। वह प्रतीक्षा में है क्योंकि मिलन के इन उपकरणों में वह प्यारे की पगध्वनि गुन रही है, पैरों की वह पहचानी हुई आहट सुन रही है।

प्रेम की पीर

[१५१]

सजन सुध ज्यूं जानैं त्यूं लीजै हो ।
तुम बिन मोरे और न कोई क्रिपा रावरी कीजै हो।
दिन नहिं भूख रैन नहिं निंदरा यूँ तन पल-पल छीजै हो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल-बिछड़न मत कीजै हो ॥

[१५१-२००] भगवान् आनन्दमय है, रसस्वरूप है और फिर भी विशेषता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है—'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'। स्वयं रसरूप होकर भी वह रस का चाहक है और स्वयं आनन्दरूप होकर भी तब तक आनन्दवान नहीं होता जब तक उसे 'रस' न मिल जाए। भगवान् स्वयं इस लीला का जाल पसारे हुए है इसलिए स्पष्ट ही उसे प्रेम की भूख है। इसी लीला के लिए प्रेम-भिखारी साँई राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है। जो दुनियादार है और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं वे उस रंग की लीला का अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो जाते हैं। उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है। जैसे प्रियतम ने छेड़खानी करके एक ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीर को वेध डालती है। इसकी कोई औषध नहीं, मंत्र नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं,—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया। साँई के इस रंग की चोट खाया मनुष्य सब रंगों से रंग जाता है और फिर भी उसका रंग सब रंगों से न्यारा होता है।

धन्य हैं जो प्रिय के साथ एकमेक होकर फाग खेलती हैं, धन्य हैं वे जो उसकी मनभावती हैं और अभागिन हैवह सखी जो ऐंचा-तानी में ही रह गई। और प्रिय का रूप क्या वर्णन किया जाए ? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे अलग से कैसे समझाए ? वह तो उसी में समा गई है, तन्मय हो गई है। वह कहने की चीज़ नहीं है, अनुभव करने की चीज़ है—अकथ कहानी है—विरलों के नसीब में इस परम सुख का अनुभव बदा है।

—'कबीर', पृ० १७८

[१५२]

म्हाँरी सुध ज्यूँ जानो त्यूँ लीजो जी ।
पल पल भीतर पंथ निहारूँ दरसण म्हाँने दीजो जी ।।
मैं तो हूँ बहु औगणहारी औगण चित मत दीजो जी ।
मैं तो दासी थाँरे चरण कँवल की मिल बिछुरन मत कीजो जी ।।
मीरा तो सतगुर जी सरणे हरि चरणाँ चित दीजो जी ।।

[१५३]

म्हाँरे घर होता जाज्यो राज ।
अब के जिन टाला दे जावो सिर पर राखूँ विराज ।।
म्हें तो जनम-जनम की दासी थें म्हारा सिरताज ।
पावणड़ा म्हाँ के भलाँ ही पधारी सब ही सुधारण काज ।।
म्हें तो बुरी छाँ थाँके भली छै घणेरी तुम हो एक रसराज ।
थाँने हम सबहिन की चिंता तुम सबके हो गरिबनिवाज ।।
सबके मुकट सिरोमनि सिर पर मानूँ पुण्य की पाज ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बाँह गहे की लाज ।।

[१५४]

मैं जाण्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसे होई री ।
आये मेरे सजना फिर गये अंगना मैं अभागण रही सोइ री ।।
फारूँगी चीर करूँ गल कंथा रहूँगी बैरागण होइ री ।
चुरिया फोरूँ माँग बखेरूँ कजरा मैं डारूँ धोइ री ।।
निस बासर मोहि बिरह सतावै कल ना परत पल मोइ री ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी मिलि बिछुरो मत कोइ री ।।

[१५५]

प्रभु जी थें कहाँ गया नेहड़ी लगाय ।
छोड़ गया बिस्वास संघाती प्रेम की बाती बराय ।।
बिरह समन्द में छोड़ गया छो नेह की नाव चलाय ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्योइ न जाय ।।

---

[१५४] इसमें 'मुग्धा' का रूप सामने आता है । एक बार सपने में 'वह' आया, मिलने के लिए भुजाएँ बढ़ायी ही कि वह 'छलिया' खिसक गया । मिलन का 'सुख' कैसा होता है वह जान ही न पाई ।

[१५६]

हारि गयो मनमोहन पासी।
आंबा की डारि कोयल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी।
बिरह की मारी मैं बन-बन डोलूँ प्रान तजूँ करवत ल्यूँ कासी।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी तुम मेरे ठाकुर मैं थारी दासी॥

[१५७]

माई म्हारी हरिहू न बूझी बात।
पिंड मांसू प्राण पापी निकसि क्यूं नहिं जात॥
पाट न खोल्या मुखाँ न बोल्या साँझ भई परभात।
अबोलण जुग बीतण लागो तो काहे की कुसलात॥
सावण आवण कह गया रे हरि आवण की आस।
रैण अँधेरी बीज चमंकै तारा गिणत निरास॥
लेइ कटारो कंठ मारूँ मरूँगी विष खाइ।
मीरा दासी राम राती लालच रही ललचाइ॥

[१५८]

परम सनेही राम की निति ओलूँ री आवै।
राम हमारे हम हैं राम के हरि बिन कछु न सुहावै॥

---

[१५६] 'मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी' में कितनी निगूढ़ व्यथा की संकेत-भरी व्यंजना है! विरहिणी व्यथा में जल रही है, मर रही है, और दुनिया तमाशा देख-देखकर हँस रही है। उस वेदना को जगत् क्या समझे, क्यों दुनिया समझे! उसे समझने की क्या पड़ी है?

[१५७] इस पद में प्रिय की उपेक्षा पर प्राणों की खीझ का कितना सुन्दर एवं भावपूर्ण वर्णन है। साँझ हुई, सवेरा हुआ, रात आई, रात गई, दिन आया, पर एक बार भी 'वह' मुझसे मुँह खोलकर बोला तक नहीं, और इस प्रकार बिना बोले युग पर युग निकल गया। सावन-भादों में आने की बात थी, पर वह वायदा भी वायदा मात्र रह गया। रात अँधेरी है, बिजली रह-रहकर चमक उठती है और प्राणों के हाहाकार को उकसा रही है। ऐसा जी करता है कि कटार लेकर छाती में घुसेड़ लूँ। परन्तु, तुरन्त स्मरण हो आता है, नहीं नहीं, 'वह' आने को कह गए हैं, कभी न कभी, एक-न-एक दिन मेरे भाग्य खुलेंगे, उनके दर्शन होंगे। इसी आशा-भरे लालच में मीरा 'अपघात' नहीं करती।

आवण कह गये अजहुँ न आये जिवड़ो अति अकुलावै ।
तुम दरसण की आस रमैया कब हरि दरस दिखावै ॥
चरण कँवल की लगन लगी नित बिन दरसण दुख पावै ।
मीरा कूँ प्रभु दरसन दीज्यो आणंद बरण्यूँ न जावै ॥

[१५९]

रमइया बिन रह्योइ न जाय ।
खान पान मोहि फीको सो लागै नैणा रहे मुरझाइ ॥
बार बार मैं अरज करत हूँ रैण गई दिन जाइ ।
मीरा कहै हरि तुम मिलिया बिन तरस तरस तन जाइ ॥

[१६०]

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोइ ।
घाइल की गति घाइल जाणै कि जिण लाई होइ ।
जौहरी की गति जौहरी जाणै कि जिण जौहर होइ ॥
सूली ऊपरि सेज हमारी सोवणा किस विध होइ ।
गवन मंडल पै सेज पिया की किस विध मिलणा होइ ॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोइ ।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जब बैद साँवलिया होइ ॥

[१६१]

पिया बिन रह्योइ न जाइ ।
तन मन मेरो पिया पर वारूँ बार बार बलि जाइ ॥

---

[१६१] 'लीज्यौ कंठ लगाइ'

वाला सेज हमारी रे तूँ आव हौं बारी रे दासी तुम्हारी रे।
तेरा पंथ निहारूँ रे सुन्दर सेज सवारूँ रे जियरा तुम पर वारूँ रे।
तेरा अगना पेखों रे, तेरा मुखड़ा देखो रे तब जीवन लेखों रे ॥
मिलि मुखड़ा दीजे रे, यह लहर लीजे रे, तुम देखे जीजे रे।
तेरे प्रेम कर माती रे तेरे रंगड़े राती रे, दादू बारणे जाती रे ॥

—दादू

बाल्हा आव हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोको कहै अंदेह रे ।
एकमेक ह्वै संग न सूती तब लग कैसा नेह रे ॥
है कोइ ऐसा पर उपकारी हरि सो कहै सुनाइ रे ।
ऐसे हाल कबीर भए हैं बिन देखे जिव जाइ रे ॥

निस दिन जोहूँ बाट पिया की कब रे मिलोगे आइ।
मीरा के प्रभु आस तुम्हारी लीज्यो कंठ लगाइ ॥

[१६२]

मैं बिरहिणि बैठी जागूँ जगत सब सोवै री आली
बिरहिणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहिणि हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै ॥
तारा गिण-गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल के बिछुड़ न जावै ॥

[१६३]

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया के पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो ॥
सब सखियन मिल सीस दई मन एक न मानी हो।
विन देख्याँ कल नाँहि पड़त जिय ऐसी ठानी हो ॥
अंगि अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अँतर बेदन विरह की वह पीड़ न जानी हो ॥
ज्यूं चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल विरहिणी सुध - बुध बिसरानी हो ॥

[१६४]

मैं हरि बिन क्यूं जीवूं री माइ।
पिय कारण बौरी भई ज्यूं काठहि घुन खाइ ॥
ओखद मूल न संचरै मोहि लाग्यो बौराइ ॥
कमठ दादुर बसत जल में जलहि तें उपजाइ।
मीन जलके बीछुरै तन तलफि करि मरि जाइ ॥
पिय ढूँढन बन बन गई कहूँ मुरली धुन पाइ।
मीरा के प्रभु लाल गिरधर मिलि गए सुखदाइ ॥

[१६५]

प्रभु बिना सरै माई।
मेरा प्राण निकस्या जात हरि बिन ना सरै माई ॥

---

[१६५] इस पद से मीरा के सजीले हृदय का भोलापन फूट निकला है। 'मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई' में मीरा की स्वाभाविक असहायावस्था का चित्रण है। मीरा की अल्हड़ लालसा कितनी स्वाभाविक,

काठ दादुर रहत जल में जल से उपजाई।
मीन जल से बाहर कीनी तुरत मर जाई।।
काठ लकरी बन परी काठ घुन खाई।।
ले अगन प्रभु डारि आये भसम हो जाई।
बन बन ढूंढत मैं फिरी आली सुधि नहिं पाई।
एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई।।
पात ज्यूं परी पीरी अरु बिपत तन छाई।
दासि मीरा लाल गिरधर मिल्या सुख छाई।।

[१६६]

रमया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै बिरह सतावै प्रेम की आँच ढुलावै।।
बिन पिया जोत मन्दिर अँधियारो दीपक दाय न आवै।
पिया बिना मेरी सेज अलूनी जागत रैण बिहावै।।
पिया कब रे घर आवै।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणावै।
घुंमट घटा ऊलर होइ आई दामिन दमक डरावै।
नैना झर लावै।
कहा करूं कित जाऊं मेरी सजनी वेदन कूण बुतावै।
बिरह नागण मोही काया डसी है लहर जिव जावै।
जड़ी घस लावै।
को है सखी सहेली सजनी पिया कूं आन मिलावै।
मीरा कूं प्रभु कब रे मिलोगे मनमोहन मोहि भावै।
कबै हँस कर बतलावै।

कितनी सहज है! —'एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई' तथा 'मिल्या सुख छाई'।

कमल जो बिगसा मानसर
बिनु जल गयउ सुखाइ।
सूखि बेलि पुनि पलुहै
जो पिउ सींचै आइ।।

[१६७]

सोवत ही पलका में मैं तो
पलक लगी पल में पिय आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ
जाग परी पीव ढूंढ न पाये।
और सखी पिव सोइ गमाये
मैं जु सखी पिव जागि गमाये।

[१६८]

आये आये जी म्हाँरो म्हाराज आये।
निज भक्तन के काज बनाये।
तज बैकुंठ तज्यो गरुड़ासन पवन वेग उठ धाये।
जब ही दृष्टि पड़े नंदनंदन प्रेम भगति रस धाये।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाये॥

[१६९]

पतियाँ मैं कैसे लिखूं लिख ही न जाइ।
कलम धरत मेरो तन काँपत हिरदो रह्यो थर्राइ।
बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै झर्राइ॥
किस विध चरण कमल मैं गहिहौं सबहि अंग थर्राइ।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर सब ही दुख बिसराइ॥

[१७०]

प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूं कउवा तू ले जाइ।
जाइ प्रीतम जी सूं यूं कहे थाँरी बिरहणि धान न खाइ॥
मीरा दासी व्याकुली रे पिव पिव करत बिहाइ।
बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्योइ न जाइ॥

---

[१६७] सुन्दर स्याम सखि स्वप्न मिलि सपदि गिरायो जीव।
वै जिमि सोय गंवावतीं जाग गमायो पीव॥
—अर्जुनदास

आजु सखी सपने हरि आये री।
और सखी पिय सोइ गमावत हौं सखि साजन जागि गमायो री॥
—सूरदास

[१७१]

नींदलड़ी नहिं आवै सारी रात किस बिधि होइ प्रभात ।।
चमक उठी सपने सुध भूली चंद्रकला न सोहात ।
तलफ तलफ जिब जाय हमारो कब रे मिलो दिनानाथ ।।
भइहूँ दिवानी तन सुध भूली कोई न जानी म्हाँरी बात ।
मीरा कहै बाताँ सोइ जानै मरण जीवण उण हाथ ।।

[१७२]

नातो नाम का रे मोंसो तनक न तोड़यो जाइ ।
पानाँ ज्यूं पीली पड़ो रे लोग कहें पिंड रोग ।।
छाने लाँघण मैं किया रे राम मिलन के जोग ।
बाबल बैद बुलाइया रे पकड़ दिखाइ म्हाँरी बाँह ।।
मूरिख बैद मरम नहिं जाणै करक कलेजा माँह ।
जा बैदाँ घर आपणे रे मेरो नांव न लेइ ।।
मैं तो दाधी बिरह की रे तूँ काहे को औखद देइ ।
मांस गले गल छीजिया रे करक रह्या गल आहि ।।
आँगलिया री मूदड़ो म्हाँरे आवण लागो बाँहि ।।
रहो रहो पापी पपीहरा रे पिव को नाम न लेइ ।
जे कोइ बिरहणि साम्भले पिव कारण जिव देइ ।।
खिण मंदिर खिण आँगणे रे खिण खिण ठाड़ी होइ ।
घायल ज्यूं घूमूं सदा री म्हारी बिथा न बूझै कोइ ।।
काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे कौवा तू ले जाइ ।
ज्याँ देसाँ म्हारो पिव बसै वै देखै तू खाइ ।।
म्हाँरे नातो नांव को रे और न नातो कोइ ।
मीरा व्याकुल विरहिणी रे पिया दरसण दीजो मोइ ।।

[१७३]

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री ।
तलफत तलफत कल न परत है विरह बाण उर लागी री ।।
निस दिन पंथ निहारूँ पीव को पलक न पल भरि लागी री ।
पीव पीव मैं रटूं रात दिन दूजो सुधि बुधि भागी री ।।
विरह भवंग मेरो डस्यो है कलेजो लहरि हलाहल जागी री ।।
मेरी आरति मेटि गोसाई आइ मिलौ मोहि सागी री ।
मीरा व्याकुल अति उकलाणी पिया की उमंगि अति लागी री ।।

[१७४]

राम नाम मेरे मन बसियो रसियो राम रिझाऊँ ए माय।
मैं मंदभागिण करम अभागिण कीरत कैसे गाऊँ ए माय॥
बिरह पिंजर की बाढ़ सखी री उठकर जी हुलसाऊँ ए माय।
मन कूँ मार सजूँ सतगुरु सूँ दुरमत दूर गमाऊँ ए माय॥
जाको नाम सुरत की डोरी कड़ियाँ प्रेम चढ़ाऊँ ए माय।
सान को ढोल बन्यो अति भारी मगन होय गुण गाऊँ ए माय॥
तन करूँ ताल मन करूँ मोरचंग सोती सुरत जगाऊँ ए माय।
निरत करूँ मैं प्रीतम आगे अमरापुर पाऊँ ए माय॥
मो अबला पर किरपा कीज्यो गुण गोविन्द के गाऊँ ए माय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर रज चरणाँ की पाऊँ ए माय॥

[१७५]

स्यामसुन्दर पर वार।
जीवड़ा मैं वार डारूँगी स्यामसुन्दर॥
तेरे कारण जोग धारणा लोक लाज कुल डार।
तुम देख्याँ बिन कल ना पड़त है नैन चलत दोऊ वार॥
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी कठिन बिरह की धार।
मीरा कहै प्रभु कब रे मिलोगे तुम चरणाँ आधार॥

[१७६]

पिया इतनी विनती सुण मोरी कोई कहियो रे जाय।
औरन सूँ रसबतियाँ करत हो हम सूँ रहे चित चोरी॥
तुम बिन मेरे और न कोई मैं सरणागत तोरी।
आवन कह गये अजहुँ न आये दिवस रहे अब थोरी।
मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे अरज करूँ कर जोरी॥

[१७७]

करणाँ सुणि स्याम मेरी।
मैं तो होइ रही चेरी तेरी।
दरसण कारण भई बावरी बिरह बिथा तन घेरी।
तेरे कारण जोगण हूँगी दूँगी नग्र बिच फेरी।
कुंज सब हेरी हेरी॥
अंग भभूत गले म्रिग छाला यो तन भसम करूँगी।

अजहुँ न मिल्या राम अबिनासी बन बन बीच फिरूँगी।
रोऊँ नित टेरी टेरी॥
जन मीरा को गिरधर मिलिया दुख मेटण सुख भेरी।
रूम रूम साता भइ उर में मिट गई फेरा फेरी॥

[१७८]

पिया अब घर आज्यो मेरे तुम मोरे हूँ तोरे।
मैं जन तेरा पथ निहारूँ मारग चितवत तोरे॥
अवधि बदी तो अजहूँ न आये दुतियन सूँ नेह जोरे।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे दरसन बिन दिन दोरे॥

[१७९]

भुवनपति तुम घर आज्यो हो।
बिथा लगी तन मांहिने म्हारी तपन बुझाज्यो हो॥
रोवत रोवत डालतां सब रैण बिहावै हो।
भूख गई निदरा गई पापी जीव न जावै हो॥
दुखिया कूँ सुखिया करो मोहि दरसण दीजै हो।
मीरा व्याकुल बिरहिणि अब बिलम न कीजै हो॥

[१८०]

आवो मनमोहना जी जोऊँ थाँरी बाट।
खान पान मोहि नेक न भावै नैण न लगे कपाट।
तुम आया बिन सुख नहिं मेरे दिल में भोत उचाट॥
मीरा कहै मैं भई रावरी छाँड़ो नाहिं निराट॥

[१८१]

आवो मनमोहना जी मीठा थाँरो बोल।
बालपना की प्रीत रमयाजी कदे नाहिं आयो थाँरो तोल॥
दरसण बिन मोहि जक न परत है चित मेरो डाँवाडोल।
मीरा कहै मैं भई रावरी कहो तो बजाऊँ ढोल॥

[१८२]

घड़ी एक नहिं आवड़े तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी कासूँ जीवण होय॥
धान न भावै नींद न आवै विरह सतावै मोय।
घायल सी घूमत फिरूँ रे मेरो दरद न जाणै कोय॥

दिवस तो खाय गमाइयो रे रैण गमाई सोय।
प्राण गमाइया झूरताँ रे नैण गमाया रोय॥
जो मैं ऐसा जागती रे प्रीत कियाँ दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे प्रीत करो मत कोय॥

[१८३]

दरस बिन दूखन लागै नैण।
जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन॥
सबद सुणत मोरि छतियाँ काँपै मीठे लागे बैन।
बिरह बिथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन॥
एक टकटकी पंथ निहारूँ भई छमासी रैण।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख देण॥

[१८४]

तुमरे कारण सब सुख छाड़्या अब मोहि क्यूँ तरसावौ हो।
बिरह बिथा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावौ हो॥
अब छोड़त नहिं बणै प्रभु जी हँसि करि तुरत बुझावौ हो।
मीरा दासी जनम-जनम की अंग से अंग लगावौ हो॥

---

[१८३] मीरा के सर्वोत्तम पदों में यह एक अन्यतम है—इसके एक-एक शब्द में मीरा के घायल हृदय की तसवीर उतर आई है।

'छमासी रैण'—बिरह की रात इतनी लम्बी होती है कि काटे नहीं कटती। सूरदास में भी विरह की 'छमासी रैन' का उल्लेख कई स्थलों पर आया है।

[१८४] 'अंग से अंग लगावौ हो'।

Thus does God, when he raises a soul to union with Himself suspend the natural action of all her faculties. She neither sees, hears, nor understands so long as she is united with God. God establishes Himself in the interior of this soul in such a way that when she returns to herself it is wholly impossible for her to doubt that she has been in God and God in her.

—*St. Thresa*

[१८५]

पिय बिना सूनो छै जी म्हाँरो देस ।
ऐसा है कोई पींव कूँ मिलावं तन मन करूँ सब पेस ।
तेरे कारण बन-बन डोलूँ कर जोगण को भेस ।
अवधि बदी थी अजूँन आये पंडर हो गया केस ।।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तजि दियो नगर नरेस ।।

[१८६]

हो गये स्याम दुइज के चंदा ।
मधुबन जाइ भए मधुबनिया हम पर डारो प्रेम को फंदा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर अब तो नेह परो कछु मंदा ।।

[१८७]

हो जी हरि कित गये नेह लगाय ।
नेह लगाय मेरो मन हर लीन्हो रस भरी टेर सुनाय ।
मेरे मन में ऐसी आवं मरूँ जहर बिस खाय ।।
छाँड़ि गए बिसवास सँघाती करि नेह की नाव चढ़ाय ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे रहे मधुपुरी छाय ।।

---

[१८५] प्रियतम के बिना मेरे लिए यह सारा संसार सूना है, उजड़ा है । यदि कोई मुझे उस प्रणरमण से मिला दे तो उसके हाथों बिक जाऊँ क्योंकि उन्होंने आने की जो अवधि दी थी वह बढ़ती ही जा रही है । राह देखते-देखते बाल सफ़ेद हो चले । प्रतीक्षा की भी हद है ।

[१८७] रस-भरी टेर सुनाकर उसने मन मोह लिया और जब प्राण व्याकुल होकर उसके पथ में चल पड़े तो फिर उसका 'विश्वासघात' ही हाथ आया क्योंकि वह 'नेह' लगाकर 'मधुपुरी' में छाये हुए हैं ।

यह देखना चाहिए कि भगवान् की अनेकानेक लीलाओं में से केवल मथुरागमन की लीला ही मीरा के प्रेमप्रवण हृदय को अधिक स्पर्श कर सकी क्योंकि विरह को—अनन्त और अवधिहीन विरह को उभारनेवाली यह सबसे गम्भीर लीला है । १८६वें पद में 'मधुबन जाइ भए मधुबनिया' में कितनी गम्भीर व्यंग्योक्ति है ! 'मधुबनिया'—(मधुबन-निवासी, मधु का 'बनिया') शब्द के श्लिष्टार्थ पर ध्यान दीजिए ।

[१८८]

सखी री लाज वैरण भई।
श्रीलाल गोपाल के संग काहे नाहिं गई॥
कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कहें नई।
रथ चढ़ाय गोपाल लैगो हाथ मीजत रही॥
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिरहते तन तई।
दासि मीरा लाल गिरधर बिखर क्यूं ना गई॥

[१८९]

अपणे करम को छै दोस काकूं दीजै रे ऊधो॥
सुणियो मेरी भैण पड़ोसण गेले चलत लागी चोट।
पहली ग्यान मान नहिं कीन्हौ मैं ममता की बांधी पोट॥
मैं जाण्यूं हरि नांहि तजेंगे करम लिख्यो भलि पोच।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी परो निवारो नी सोच॥

---

[१८८] 'लाज बैरण भई'—'देखत बनै न देखते विन देखे अकुलाहिं'—आँखों की इस बेबसी का अनुभव सभी प्रेमियों को है। प्राणनाथ को देखे बिना चैन नहीं मिलती और, जब 'वे' सामने आ जाते हैं तो आँखें लाज के मारे झप जाती हैं। फिर जब वह हृदयरमण आँखों से ओझल हो जाता है तो जी तड़पने लगता है और मन-ही-मन हम अपने को धिक्कारने लगते हैं कि उसके विरह में अभी तक प्राणों का भार क्यों ढो रहे हैं। जब 'वे' आये तो आँखें चूक गईं, जब 'वे' चले गये तो फिर आँसुओं की रिमझिम!

[१८९] अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम को लेकर चले गये हैं उस समय का यह पद है। गोपियों ने उस समय कहा था—यह अक्रूर! इस महाक्रूर का नाम भला अक्रूर किसने रखा, प्यारे प्राणवल्लभ को रथ पर बिठाकर लिये जा रहा है। अब यह दुःख सहना तो दूर रहा, हमारा जीवित रहना भी कठिन है। जो सायकाल के समय गोधूलि से धूसरित माला पहने, वंशी बजाते हुए बलरामजी के साथ गोपों से घिरे हुए ब्रज में प्रवेश करते समय मन्द-मन्द मुसकान और कटाक्षयुक्त अवलोकन से हमारे चित्त को हरते थे उन श्रीकृष्ण के बिना हम कैसे जीएँगी?

'सूरसागर' में इस स्थल के पद बड़े ही मार्मिक तथा हृदय हिला देने वाले हैं।

[१९०]

कुण बाँचै पाती बिना प्रभु कुण बाँचै पाती।
कागद ले ऊधोजी आए कहाँ बाल रह्या साथी॥
आवत जावत पाँव घिस्या रे अँखियाँ भई रातीं।
कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती।
नैण नीरज में अंबु बहे रे (बाला) गंगा बहि जाती।
पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे (बाला) अन्न नहिं खाती।
हरि बिन जिवड़ो यूँ जले रे(बाला) ज्यूँ दीपक संग बाती।
म्हाँने भरोसा राम को रे (बाला) डूब तिर्यो हाथी।
दासि मीरा लाल गिरधर साँकड़ारो साथी॥

[१९१]

लागी सोही जाणै कठण लगण दी पीर।
विपति पड़्या कोई निकट न आवै सुख में सबको सीर।
बाहरि घाव कछु नहिं दीसै रोम रोम दी पीर।
जन मीरा गिरधर के ऊपर सदकै करूँ सरीर॥

---

[१९०] इस पद में विरहिणी राधा का बड़ा ही सजीला चित्र है। 'कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती' में विप्रलम्भ का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन है! आँखों से गगा-जमुना बह रही है—आँसुओं की इस धारा को देखकर मीरा कहती है—'नैण नीरज में अंबु बहे रे'—कमल-कोष से जल की धारा ढुलक रही है। राधा पके पान की तरह पीली पड़ गई है और हरि के बिना विरह में उसका जीवन वैसे ही जल रहा है जैसे दीपक के साथ बाती जलती है। परन्तु तुरन्त मीरा को स्मरण हो आता है कि वह तो 'साँकड़ारा साथी' है, संकट का मित्र है।

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन।
हरि तुम्हारे विरह राधा मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषण अंग वसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब संदेसों कहन सुन्दरि गवन मोतन कीन।
खसि मुद्रावलि चरण अरुझी गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ वचन न बोल आवै हृदय अँसुवनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों परम साहस कीन।
सूर प्रभु कल्याण ऐसे जियहि आसा लीन॥

[१९२]

हे मेरो मनमोहना
आयो नहीं सखी री हे मेरो मनमोहना।
कै कहुँ काज किया सन्तन का कै कहुँ गैल भुलावना।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी लाग्या है विरह सतावना।
मीरा दासी दरसण प्यासी हरिचरणों चित लावणा॥

[१९३]

किण संग खेलूँ होली पिया तजि गये हैं अकेली।
माणिक मोती सब हम छोड़े गले में पहनो सेली।
भोजन भवन भलो नहिं लागे पिया कारण भे गेली॥
मुझे दूरी क्यूँ म्हेली।
अब तुम प्रीत और सूं जोड़ी हमसे करी क्यूँ पहेली।
बहु दिन बीते अजहूँ न आये लग रही तालाबेली॥
किण बिलमाये हेली।
स्याम बिना जिवड़ो मुरझावे जैसे जल बिन बेली।
मीरा कूँ प्रभु दरसण दीज्यो जनन जनम की चेली।
दरस बिना खड़ी दुहेली।

[१९४]

इक अरज सुनो पिया मोरी, मैं किन संग खेलूँ होरी।
तुम तो जाय बिदेसाँ छाये हमसे रहे चित चोरी।
तन आभूषण छोड़्या सब ही तज दियो पाट पटोरी॥
मिलन की लग रही डोरी।
आप मिल्याँ बिन कल न पड़त है त्यागे तिलक तमोली।
मीरा के प्रभु मिलज्यो माधो सुणज्यो अरजी मोरी।
दरस बिन बिरहिन दोरी॥

[१९५]

होली पिया बिन लागे खारी सुनो री सखी मोरी प्यारी।
सुनो गाँव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी बिरहिन पिव बिन डोलै तज दई पिव पियारी॥
भई हूँ या दुख कारी।
देस बिदेस न पहुँचै होय अंदेसा भारी।
गिणताँ गिणताँ घिस गई रेखा आँगुलियाँ की सारी।

अजहूँ नहिं आये मुरारी।
बाजत झांझ मृदंग मुरलिया बाज रही इकतारी।
आयो बसंत कंत घर नाँहीं तन में जर भया भारी।
स्याम मन कहाँ बिचारी।
अब तो मेहर करो मुझ ऊपर चित दै सुनो हमारी।
मीरा के प्रभु मिलिज्यो माधो जनम जनम की कुंआरी॥
लगी दरसण की तारी॥

[१६६]

होली पिया बिन मोहि न भावै घर आंगण न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूँ हेली पिय परदेश रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूं लागै सुसक-सुसक जिया जावै।
नींद नहिं आवै।
कब की ठाढ़ी मैं मग जोऊँ निसदिन विरह सतावै।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै हिवड़ो अति अकुलावै।
पिया कब दरस दिखावै।
ऐसा है कोई परम सनेही तुरत संदेसो लावै।
वा बिरियाँ कद होसी मों कूं हँसकर निकट बुलावै।
मीरा मिल होली गावै॥

[१६७]

मतवारो बादल आए रे हरि को संदेसो कछू न लाए रे।
दादुर मोर पपइया बोलै कोयल सबद सुणाए रे।
कारी अँधियारी बिजरी चमकै बिरहिन अति डरपाए रे।
गाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति झड़ लाए रे।
कारी नाग बिरह अति जारी मीरा मन हरि भाए रे॥

[१६८]

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी।
काली पीली घटा उमंगी बरस्यो एक घरी॥
जित जाऊँ तित पाणीहि पाणी हुई सब भोम हरी॥
जा का पिया परदेस बसत हैं भीजूं बार खरी।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी कीज्यो प्रीति खरी॥

[१९९]

पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।
सुणि पावेली बिरहणी रे थारो राखैली पाँख मरोड़ ।।
चोंच कटाऊँ पपइया ऊपरि कालर लूण ।
पिय मेरा मैं पिव की रे तू पिव कहै स कूण ।।
थारा सबद सुहाबन रे जो पिव मेल्या आज ।
चोंच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे तू मेरे सिरताज ।।
प्रीतम को पतियाँ लिखूं कउवा तू ले जाइ ।
प्रीतम जू सू यूं कहे रे थाँरी बिरहिणि धान न खाइ ।।
मीरा दासी व्याकुली रे पिव-पिव करत विहाइ ।
वेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्योइ न जाइ ।।

[२००]

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितार्‌यो ।
मैं सूती छी अपने भवन में पिय-पिय करत पुकार्‌यो ।।
दाध्या ऊपर लूण लगायो हिवड़ो करवत सार्‌यो ।
उठि बैठो वृच्छ की डाली बोल-बोल कंठ सार्‌यो ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणाँ चित धार्‌यो ।

[१९९-२००] मीरा अपने महल में सोई थी कि पास के एक वृक्ष से 'पपइया' ने 'पीपी' की टेर लगाई। फिर क्या था, मीरा ने उस 'छेड़ने वाले' को सम्बोधित कर अपने हृदय का मधु उड़ेलना शुरू किया, क्योंकि निश्चय ही वह इस विरह की अवस्था में जले पर नमक छिड़क रहा है।

पर वे सारी वस्तुएँ, जो विरह के समय दाहक और दारुण प्रतीत होती हैं मिलन के समय वे ही सुखद और सुहावनी मालूम होने लगती हैं। यदि प्रिय मिल जाए तो मीरा पपीहे की चोंच को सोने से मढ़ाने की प्रतिज्ञा लेती है। हिन्दी में इसी भाव की बहुत कविताएँ हैं, मीरा जैसा उनमें दर्द भले न हो। सूरदास ने भी पपीहे को सम्बोधित कर कई ऐसे पद कहे हैं।

स्वगत

[२०१]

अच्छे मीठे चाख चाख बोर लाई भीलनी ।
ऐसी कहा अचारवती रूप नहीं एक रती ।
नीच कुल ओछो जात अति ही कुचीलणी ।
जूठे फल लीन्हे राम प्रेम की प्रतीत जाण;
ऊँच नीच जाने नहीं रस की रसीलणी ।
ऐसी कहा वेद पढ़ी छिन में विमान चढ़ी;
हरि जी सूँ बाँध्यो हेत दास मीरा तरै जोइ,
पतितपावन प्रभु गोकुल अहीरिणी ।।

[२०२]

देखत श्याम हँसे सुदामाँ कूँ देखत श्याम हँसे ।
फाटी तो फूलड़ियाँ पाँव उभाणे चलतं चरण घसे ।।
बालपणे का मीत सुदामा अब क्यूँ दूर बसे ।।
कहा भावज ने भेंट पठाई तांदुल तीन पसे ।
कित गई प्रभु म्हारी टूटी टपरिया हीरा मोती लाल कसे ।।
कित गई प्रभु मोरी गउवन बछिया द्वारा बिच हसती फसे ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी सरने तोरे बसे ।।

[२०३]

बन्दे बन्दगी मत भूल ।
चार दिनां की करले खूबी ज्यूँ दाड़िमदा फूल ।
आया था ए लोभ के कारण मूल गमाया भूल ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर रहना है बे हजूर ।

[२०४]

राम नाम रस पीजे मनुआँ राम नाम रस पीजे ।
तज कुसंग सत्संग बैठ नित हरि चरणाँ सुख लीजे ।।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ जित से बहाय दीजे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताहि के रंग में भीजे ।।

[२०५]

मेरो मन रामहिं राम रटै रे ।
राम नाम जप लीजे प्राणी कोटिक पाप कटै रे ।
जनम जनम के खत जु पुराने नामहिं लेत कटै रे ।।
कनक कटोरे इम्रित भरियो पीवत कौन नटै रे ।
मीरा कहै प्रभु हरि अबिनासी तन मन ताँहि पटै रे ।।

[२०६]

भज मन चरण कँवल अबिनासी ।
जेतइ दीसे धरण गगन बीच तेतइ सब उठ जासी ।
कहा भयो तीरथ ब्रत कीन्हे कहा लिए करवत कासी ।।
इस देही का गरब न करणा माटी में मिल जासी ।
यो संसार चहर की बाजी साँझ पड़्या उठ जासी ।।
कहा भयो है भगवा पहर्याँ घर तज भए संन्यासी ।
जोगी होय जुगति नहि जाणी उलटि जनम फिर आसी ।।
अरज करों अबला कर जोरे स्याम तुम्हारी दासी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर काटो जनम की फाँसी ।।

---

[२०५] सभी संत, महात्मा, भक्त, ज्ञानी, वैरागी, योगी, यती, संन्यासी, औलिया, फकीर, दरवेश, आउल, बाउल, शास्त्र, पुराण, कुरान एक स्वर से नाम की महिमा गाते हैं । नाम के सम्बन्ध में दो मत नहीं है । मीरा ने नाम-स्मरण को 'अमृत-पान' कहा है ।

[२०६] इस क्षण-क्षण विध्वंसी अनित्य जगत् में प्रभु के चरणों में शरणापन्न हो जाना ही परम पुरुषार्थ है । संन्यास या वैराग्य लेकर मन को मारना और अपनी इच्छाओं को जीतना बहुत कठिन कर्म है । मन को कहीं-न-कहीं टिकाव चाहिए ही । यह चंचल मन कोई-न-कोई आधार ढूंढता है अतएव यहाँ के नाम और रूप से हटाकर प्रभु के नाम और रूप में इस मत-वाले मन को डुबो दिया जाए तभी परम शान्ति मिल सकती है ।

यहाँ, इस धरती और आकाश के बीच का जब सब-कुछ नश्वर ही है तो ममत्व किस पर किया जाए ? इस उठती पैंठ का क्या भरोसा ?

इन विरागात्मक पदों में संसार के प्रति उदासीनता का जो भाव है उसे वैरागियों की उदासीनता न समझकर भक्त की ईश्वरोन्मुखता तथा एकान्त भगवदासक्ति समझनी चाहिए । मीरा के विराग का अर्थ है भगवान् के प्रति अटूट अनुराग ।

दीसे=दीखता है । जासी=जाएगा ।

'सी' प्रत्यय राजस्थानी में सामान्य भविष्यत् में लगता है ।

[२०७]

करम गति टारे नाँहि टरे।
सतवादी हरिचंद से राजा (सो तो) नीच घर नीर भरे॥
पाँच पांडु अरु सती द्रौपदी हाड़ हिमालै गिरे।
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासन सो पाताल धरे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बिख ते अम्रित करे॥

[२०८]

नहिं ऐसो जन्म बारंबार।
का जानूँ कछु पुण्य प्रगटे मानुसा अवतार॥
बढ़त छिन छिन घटत पल पल जात न लागे बार।
बिरछ के ज्यूँ पात टूटे बहुरि न लागे डार॥
भौसागर अति जोर कहिए अनंत ऊँड़ी धार।
राम नाम का बाँध बेड़ा उतर परले पार॥
ज्ञान चौसर मंडी चौहटे सुरत पासा सार।
या दुनियाँ में रची बाजी जीत भाव हार॥
साधु संत महंत ज्ञानी चलत करत पुकार।
दासि मीरा लाल गिरधर जीवणाँ दिन चार॥

[२०९]

जग में जीवणा थोड़ा राम कुण कह रे जंजार।
मात पिता तो जन्म दिया है करम दियो करतार॥
कइरे खाइयो कइरे खरचियो कइरे कियो उपकार॥

---

[२०७] कर्म की गति बड़ी गहन है—इस सम्बन्ध में कई दृष्टान्त देकर अन्त में मीरा का ध्यान अपने पर जाता है तो वह सकुचा जाती है क्योंकि उसके लिए तो प्रभु ने हलाहल को अमृत कर दिया।

[२०८] मीरा में विरागात्मक पद बहुत थोड़े मिलते हैं। मीरा में वैराग्य वहीं मिलता है जहाँ जीवन की तुच्छता तथा अपना गम्भीर दायित्व का ध्यान आया है। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती है त्यों-त्यों आयु घटती जाती है और मनुष्य मृत्यु के निकट आता जाता है। इस संसार-सागर की लहरें बड़ी विकराल हैं। इनमें पड़कर बड़े-बड़े चकनाचूर हो गए। इस नश्वर संसार में केवल भगवान् की भक्ति और उसमें अनन्य श्रद्धा ही मनुष्य का एकमात्र आधार है और इस महासागर से पार होने के लिए एकमात्र भगवान् की कृपा का ही आसरा है।

दिया लिया तेरे संग चलेगा और नहीं तेरी सार।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भज उतरो भव पार॥

[२१०]

मनुखा जन्म पदारथ पायो एसी बहुत न आती।
अबके मोसर ज्ञान विचारो राम नाम मुख गाती।
सतगुरु मिलिया सुज पिछाणी ऐसा ब्रह्म मैं पाती॥
सतगुरु सूरा अमृत पीवे निर्गुण प्यासा जाती।
मगन भया मेरा मन सुख में गोविंद का गुण गाती॥
साहब पाया आदि अनादी नातर भव में जाती।
मीरा कहे इक आस आप की औरां सूँ सकुचाती॥

[२११]

लेतां लेतां राम नाम रे लोकड़ियां तो लाजां मरे छै।
हरि मंदिर जातां पावलियां रे दूखे फिरि आवै सारो गाम रे।
झगड़ो थाय त्यां दौड़ी ने जाय रे मूकी ने घर ना काम रे।
भाँड भवैया गणिका नृत करतां बेसी रहे चार जाम रे।
मीरांनां प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित हाम रे॥

[२१२]

यहि विधि भगति कैसे होय।
मन की मैल हिये तें न छूटी दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चंडाल।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल॥
विलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से राम नाम न लेत॥
आपहि आप पुजाय के रे फूले अंग न समात।
अभिमान टीला किए बहु कहु जल कहाँ टहरात॥
जो तेरे हिय अंतर की जानै तासों कपट न बनै।
हिरदे हरि को नाम न आवै मुखतें मनिया गनै॥
हरि हितु से हेत कर संसार आसा त्याग।
दासि मीरा लाल गिरधर सहज कर वैराग॥

[२१३]

रमइया बिन यों जिवड़ो दुख पावै।
कहो कुण धीर बँधावै।
यो संसार कुबुधि को भाड़ो साध संगति नहिं भावै॥

राम नाम बिन मुकुति न पावै फिर चौरासी जावै ।
साध संगति में कबहुँ न जावै मूरख जनम गमावै ॥

[२१४]

मेरे मन राम नामा बसी ।
तेरे कारण स्याम सुन्दर सकल लोगाँ हँसी ॥
कोई कहै मीरा भई बावरी कोई कहै कुलनासी ।
कोई कहै मीरा दीप आगरी नाम पिया सूँ रसी ॥
खाँड़ धार भक्ती की न्यारी काटिहै जम फँसी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सब्द सरोवर धँसी ॥

[२१५]

गोबिन्द सूं प्रीत करत तबहिं क्यूँ न हटकी ।
अब तो बात फैल पड़ी जैसे बीज बटकी ॥
बीच को बिचार नाहिं छाँय परी तटकी ।
अब चूको तो ठौर नांही जैसे कला नटकी ॥
जल के बूड़ी गाँठी परी रसना गुन रटकी ।
अब तो छुड़ाय हारी बहुत बार झटकी ॥
घर घर में घोल मठोल बानी घट घट की ।
सब ही कर सीस धारि लोक-लाज पटकी ॥
मद की हस्ती समान फिरत प्रेम लटकी ।
दासि मीरा भक्ति बुन्द हिरदय बिच गटकी ॥

[२१६]

हेली सुरत सोहागिन नार सुरत मेरी राम से लगी ।
लगनी लहँगा पहिर सोहागन बीती जाय बहार ॥
धन जोबन दिन चार का है जात न लागे वार ।
झूठे वर को के बरूँ अध बिच में तज जाय ॥
बर बरिए वह साँवरो म्हारो चूड़लो अमर हो जाय ।
राम नाम का चूड़लो हो निरगुन सुरमो सार ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणाँ बलिहार ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

परिशिष्ट

[क]

मीरा पदावली

डाकोर की प्रति से—

(१)

म्हांरां री गिरधर गोपाड़ दूसरां णा कूयां।
दूसरां णां कोयां साधाँ सकड़ ड़ोक जूयां।
भाया छांडचा बंधाँ छाँडचा, छाँडचा सगाँ सूयाँ।
साधाँ संग बेठ बेठ लोक-लाँज खूयाँ।
भगत देख्याँ राजी ह्ययाँ, जगत देख्याँ रूयाँ।
असवाँ जड़ सींच-सींच प्रेम बेड़ बूयाँ।
दध मथ घृत काढ़ लयाँ, डार दयाँ छूयाँ।
राणा बिषरो प्याड़ा भेज्याँ, पीय मगण हूयाँ।
अब त वात फेड़ पडचा, जाण्याँ सब कूयाँ।
मीरां री लगण लग्याँ होणाँ हो जो हूयाँ।।

(२)

भज मण चरण कंवड़ अबणासी।
जेताँई दीसाँ धरण गगण माँ तेताईं उट्ठ जासी।
तीरथ बरताँ ग्याण कथन्ताँ कहा लयाँ करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा माटी मा मिड़ जासी।
यो संसार चहर राँ बाजी साँझ पड्याँ उठ जासी।
कहा भयाँ थाँ भगवा पहरचाँ घर तज लयाँ सण्यासी।
जोगी ह्योयाँ जुगत णा जाणा उलट जणम राँ फाँसी।
अरज कराँ अबड़ा कर जोड़चाँ, स्याम ( ) दासी।
मीराँ रे प्रभ गिरधर नागर, काठ्याँ म्हाँरी गाँसी।।

(३)

म्हाँ मोहण रो रूप लुभाणी।
सुन्दर बदण कमड़ दड़ लोचण वाँकाँ चितवण नैणा समाणी।

जमणा किणारे कान्हा धेणु चरावाँ बंसी बजावाँ मीट्ठाँ बाणी ।
तण मण धण गिरधर पर बाराँ चरण कंवड़ मीराँ बिलमाणी ॥

(४)

म्हारो परनाम बाँकेबिहारी जी ।
मोर मुगट माथाँ तिड़क बिराज्याँ कुँडड़ अड़काँ कारी जी ।
अधर मधुरधर बंसी बजावाँ रीझ रिझावाँ ब्रजनारी जी ।
या छब देख्याँ मोह्याँ मीराँ मोहण गिरवरधारी जी ॥

(५)

निपट बंकट छब अटके म्हारे नैणा णिपट बंकट छब अटके ।
देख्याँ रूप मदण मोहण री पियतपियूख ण मटके ।
बारिज भवाँ अड़क मंतवारी नैण रूप रस अटके ।
टेढ्याँ कट टेढे कर मुरड़ी टेढ्या पाग लर लटके ।
मीराँ प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके ॥

(६)

साँवरे मारचा तीर ।
री म्हारा पार निकड़ गयाँ तीर साँवरे मरचा तीर ।
बिरहा अनड़ लागाँ उर अन्तर ब्याकुड़ म्हाराँ सरीर ।
चंचड़ चित्त चड़याँ णा चाड़ाँ बाँध्याँ प्रेम जंजीर ।
क्याँ जाणाँ म्हरो प्रीतम प्यारो क्या जाणा म्हापीर ।
म्हारो काँई णा बस सजणी नैण झरचाँ दो नीर ।
मीराँ रो प्रभु थे बिछुड़चाँ बिण प्राण धरत णा धीर ॥

(७)

चाड़ाँ मण वा जमणा काँ तीर ।
वा जमणा काँ निरमड़ पाणी सीतड़ होयाँ सरीर ।
बंसी बजावाँ गावाँ कान्हाँ संग लियाँ बड़बीर ।
मोर मुगट पीतांबर सोहाँ कुंडड़ झड़क्याँ हीर ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर क्रीड्याँ संग बलबीर ॥

(८)

आली म्हाँणे लागाँ वृन्दावण नीकाँ ।
घर-घर तुड़सी ठाकर पूजाँ दरसण गोविन्द जी काँ ।

निरमड़ नीर वह्या जमणा काँ भोजण दूध दह्यां काँ ।
रतण सिंघासण आप बिराज्याँ मुगट धरयाँ तुड़शी काँ ।
कुंजण कुंजण फिरयाँ सांवरा सबद मुरण्या मुरड़ी काँ ।।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर भजण विणा नर फीकाँ ।।

(९)

जाणाँ रे मोहणा जाणाँ थारी प्रीत ।
प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो, और ण जाणाँ रीत ।
इमरत पाइ विषाँ क्यूँ दीज्याँ कूँण गाँव री रीत ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी अपणो जण रो मीत ।।

(१०)

म्हाँ गिरधर रंगराँती ।
पचरंग चोडा पहेरयाँ सखि म्हा झरमट खेलण जाती ।।
वाँ झरमट माँ मिड़चा साँवरो देख्याँ तण मण राती ।
जिणरो पियाँ परदेस बस्याँ री ड़िखड़िख भेज्याँ पाती ।।
म्हारा पियाँ म्हारे हीयड़े वसताँ ना आवाँ ना जाती ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर मग जोवाँ दिण राती ।।

(११)

प्रभुजी थे कटयाँ गयाँ नेहड़ा लगाय ।
छोडचा म्हा विसवास संगाती प्रीत री ब्राती जड़ाय ।
बिरह समन्द मा छोड गयाँ छो नेह री नाव ड़चाय ।
मीराँ रे प्रभु कबरे मिलोगाँ थें त्रिण रह्याँ णा जाय ।।

(१२)

हरि म्हारा जीवण प्रान अधार ।
ओर आसिरो णा म्हारा थे बिणा तीणू लोक मझार ।
थें विणा म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्याँ जग संसार ।
मीराँ रे प्रभु दासी रावड़ी ड़ीज्यो णेक णिहार ।।

(१३)

माई री म्हाँ ड़ियाँ गोविन्दाँ मोड़ ।
थे कह्याँ छाणे म्हाँ काँ चोड़्डे ड़ियाँ वजन्ताँ ढोड़ ।
थे कह्याँ मुंहोघ म्हाँ कह्याँ सुस्तो ड़ियाँ री तराजाँ तोड़ ।
तण वाराँ म्हाँ जीवणवाराँ वाराँ अमोड़क मोड़ ।
मीराँ (कूँ) प्रभु दरसण दीज्याँ पुरव जणम को कोड़ ।।

(१४)

मण थें परस हरि रे चरण ।
सुभग सीतड़ कंवड़ कोमड़ जगत ज्वाड़ा-हरण ।
इण चरण प्रह्लाद परस्याँ इन्द्र पदवी धरण ।
इण चरण ध्रुव अटड़ करस्याँ सरण असरण सरण ।
इण चरण ब्रह्मांड भेटचाँ णखखसिखाँ सिरि भरण ।
इण चरण कालियाँ णाथ्याँ, गोपड़ीड़ा करण ।
इण चरण धारयाँ गोवरधण गरब मघवा हरण ।
दासि मीराँ लाल गिरधर अगम तारण तरण ।।

(१५)

आड़ी री म्हारे णेणा वाण पडी
चित्त चढी म्हारे माधुरी मूरत, हिवडाँ अणी गडी ।
कब री ठाढी पंथ निहाराँ, अपणे भवण खडी ।
अटक्याँ प्राण साँवरो प्यारो, जीवण मूर जडी ।
मीराँ गिरधर हाथ बिकाणी, लोग कह्याँ बिगड़ी ।।

(१६)

आवाँ मोहणा जी जोवाँ थारी वाट ।
खाण पाण म्हारे णेक णा भावाँ नेणा खुड़ाँ कपाट ।
थे आयाँ विण शुख णा म्हारो हिवड़ो घणो उचाट ।
मीराँ थे बिण भई बावरी छाँडचाँ णा णिरबाट ।।

(१७)

पीया बिण रह्याँ न जावाँ ।
तण मण जीवण प्रीतम वारयाँ ।
निसदिण जोवाँ बाट कब रूप लुभावाँ ।
मीराँ रे प्रभु आसा थारी दासी कंठ आवाँ ।।

(१८)

स्याम बिणा सखि रह्याँ णा जावाँ ।
तण मण जीवण प्रीतम वारचा थारे रूप डुभावाँ ।
खाणपाण म्हाणे फीकां ड़ागाँ णेणा रह्याँ मुरझावाँ ।
निसदिण जोवाँ बाट मुरारी कब रो दरसण पावाँ ।
बार-बार थारी अरजाँ करश्यूं रेण गयाँ दिण जावाँ ।
मीराँ रे हरि थें मिड़याँ बिण तरश-तरश जीया जावाँ ।।

(१९)

हेरी म्हाँ तो दरद दिवाणो म्हाराँ दरद णा जाण्याँ कोय ।
घायड री गत घायड़ जाण्या हिवड़ो अगण संजोय ।
जौहर कीमत जौहराँ जाण्याँ क्या जाण्याँ जिण खोय ।
दरद री मारयाँ दर-दर डोड़याँ वैद मिड्या णा कोय ।
मीराँ री प्रभु पीर मिटाँगाँ जद वैद साँवरो होय ।।

(२०)

दरस विण दूखाँ म्हारा णेण ।
सबदाँ सुणताँ छतियाँ काँपाँ मीठो थारो वेण ।
बिरह बिथा काँसूँरी कह्याँ पेठाँ करवत ऐण ।
कड़ णाँ पडताँ हरि मग जोवाँ भयाँ छमासी रेण ।
थें बिछड्याँ म्हाँ कड़पाँ प्रभुजी म्हारो गयो सब चेण ।
मीराँ रे प्रभु कब रे मिलोगाँ दुख मेटण सुख देण ।।

(२१)

घडी चेण णा आवड़ाँ थे दरसण विण [?] ।
धाम णा भावाँ नींद णा आवाँ विरह सतावाँ [?] ।
थायड री घुमाँ फिराँ म्हारो दरद णा जाणयाँ कोय ।
प्राण गुमायाँ झूरनाँ रे णेण गुमायाँ रोय ।
पंथ निहाराँ डगर मझाराँ ऊभी मारग जोय ।
मीराँ रे प्रभु कबरे मिलोगाँ थे मिड़या सुख होय ।।

(२२)

स्याम म्हाँ बाँहडियाँ जी गह्याँ ।
भोसागर मँझधाराँ बूड्याँ थारी सरण लह्याँ ।
म्हारे अवगुण बार अपाराँ थे विण कूण सह्याँ ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी ड़ाज विरद री वह्याँ ।।

(२३)

भुवणपति थे घरि आज्यां जी ।।
बिथा लगा तण जारां जीवण तपतां विरह बुझयाज्यां जी ।
रोवतां रोवतां डोड़ता सब रैण बिहावां जी ।
भूख गयां निदरां गयां पापी जीव णा जावां जी ।
दुखियाणां सुखिया करां म्हाणे दरसण दीज्यां जी ।
मीरां व्याकुड़ बिरहणी अब बिडम णा कीज्यां जी ।

(२४)

माई म्हारी हरिहू णा बूझ्यां बात ।
पिंड मांसूं प्राण पापी निकड क्यूं णा जात ।
पटा णा खोड़यां मुखां णा बोड़यां सांझभयां परभात ।
अबोड़णां जुग बीतण डागां कायां री कुशड़ात ।
सावण आवण हरि आवण री सुण्या म्हाणे बात ।
घोर रैणां बीजु चमकां वार गिणतां प्रभात ।
मीरां दासी स्याम राती ड़ड़क जीवणां जात ।

(२५)

पिया थारे णाम डुभाणी जी ।
णाम ड़ेतां तिरतां सुण्याँ जग पाहण पाणी जी ।
कीरत काईं णा कियां घणां करम कुमाणीजी ।
गणका कीर पढ़ावतां वैकुंठ बसाणी जी ।
अरध णाम कुंजर लयां दुख अवध घटाणी जी ।
गरुड़ छांड़ पग धाइयां पसु-जूण पटाणी जी ।
अजामिड़ अघ ऊधरे जम-त्रास णसाणी जी ।
पूतणाम जश गाइयां जग सारा जाणी जी ।
सरणागत थे बर दियां परतीत पिछाणी जी ।
मीरां दासी रावली अपणी कर जाणी जी ।

(२६)

जाण्यां णां प्रभु मिड़णबिध क्यां होय ।
आया म्यारे आंगणा फिर गया जाण्यां खोय ।
जोवतां मग रैण बीतां दिवश बीतां जोय ।
हरि पधारां आगणां गया म्हैं अभागण सोय ।
विरह ब्याकुड़ अणड़ अन्तर कड़ णा पडतां रोय ।
दासी मीरां ड़ाड़ गिरधर मिड़ णा बिछड़यां कोय ।।

(२७)

स्याम शुंदर पर वारां जीवड़ा डारां स्याम ।
थारे कारण जग जण त्यागां ड़ोक ड़ाज कुड़ डारां ।
थे देख्यां बिण कड़णां पड़तां णेणा चड़तां धारां ।
क्यां सूं कहवां कोण बुझावां कठण बिरह री धारां ।
मीरां रे प्रभु दरशण दीश्यो थे चरणां आधारां ।।

(२८)

सांवरो म्हारी प्रीत णिभाज्यो जी ।
थे छो म्हारो गुण रो शागर औगुण म्हां विशराज्यो जी ।
ड़ोक णा शीझ्यां मण णा पतीज्या मुखडा सबद शुणाज्यो जी ।
दासी थारी जणम जणम री म्हारा आंगण आज्यो जी ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेडा पार ड़गाज्यो जी ॥

(२९)

म्हारे घर होतां आज्यों महाराज ।
नेण बिछ्यांशुं हिबडो डाश्यूं सरपर राख्यूं विराज ।
पांवडां म्हारो भाग सवारण जगत उधारण काज ।
संकट मेटचां भगत जणारां थाप्यां पुन्न रा पाज ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बांह गह्यां री ड़ाज ॥

(३०)

थाणे काईं काईं बोड़ शुणावां म्हारां सांवरा गिरधारी ।
पुरब जणम री प्रीत पुराणी जावा णा णिरवारी ।
शुन्दर बदण जोवतां शाजण थारी छवि बड़हारी ।
म्हारे आंगण स्याम पधारां मंगड़ गावां नारी ।
मोती चौक पुरावां णेणां तण मण डारां वारी ।
चरण शरण री दासी मीरा जणम जणम री क्वांरी ॥

(३१)

गिरधारी शरणां थारी आयां राख्यां किरपानिधाण ।
अजामेड़ अपराधी तारयां तारयां नीच सदाण ।
डूवतां गजराज राख्यां गणका चढ़यां विमाण ।
ओर अधम बहुतां थे तारचां भाख्यां सणत सुजाण ।
भीड़ण कुबजां तारचां गिरधर जाण्यां शकड़ जहाण ।
बिरद वखाणां गणतां णा जाणा थाकां वेद पुराण ।
मीरां प्रभु री सरण रावली विणतां दीश्यो काण ॥

(३२)

कमड़ दड़ ड़ोचणां थें णाथ्यां काड़ भुजंग ।
काड़िन्दी दह णाग णाथ्यां काड़ फण फण निरत करंत ।
कूदां जड़ अन्तर णा डरचां थे एक बाहु अणण्त ।
मीरा रे प्रभ गिरधर नागर व्रज वणतां रो कंत ॥

(३३)

रावडो विड़द म्हाणे णूढ़ो ड़ागाँ पीडत म्हारो प्राण ।
शगां शणेहां म्हारे णां कांई बर्‌यां सकड़ जहाण ।
ग्राह गह्यां गजराज उबारयां अछत करयां बरदाण ।
मीरा दासी अरजां करतां म्हारो सहारो णा आण ॥

(३४)

म्हा सुण्या हरि अधम उधारण ।
अधम उधारण भव भय तारण ।
गज बूडतां अरज सुण धायां भगतां कष्ट निवारण ।
द्रुपद सुता णो चीर बढयां दुसासण मद मारण ।
प्रह्लाद परतग्या राख्यां हरणाकुस णो उदर बिदारण ।
थे रिख पतणीं किरपा पायां विप्र शुदामा बिपत बिडारण ।
मीरां रे प्रभु अरजी म्हारी अब अबेर कुण कारण ॥

(३५)

म्हाणे चाकर राखांजी गिरधारी ड़ाड़ा चाकर राखां जी ।
चाकर रहश्यूं बाग ड़गाश्यूं णित उठ दरशण पाश्यूं ।
बिन्द्राबण री कुंज गैड़ मां गोविण्द ड़ीड़ा गाश्यूं ।
चाकरी मा दरसण पाश्यूं शुमरण पाश्यूं खरची ।
भाव भगत जागीरां पाश्यूं जणम जणम री तरशी ।
मोर मुगट पीताम्बर शोहां गड़ बैजण्तां माड़ो ।
बिन्द्रावण मा धेण चरावां मोहण मुरड़ी वाड़ो ।
हरे हरे णवां कुज लगाश्यूं वीचां बीचां बारी ।
सांवरयां रो दरशण पाश्यूं पहण कुशुंबी शारी ।
आधां रात प्रभु दरशण दीश्यो जमणा जी रे तीरां ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर हिवड़ो घणो अधीरां ॥

(३६)

माई म्हाणो शुपणा मां परण्यां दीणानाथ ।
छप्पण कोटां जणां पधरयाँ दूल्हो सिरी ब्रजनाथ ।
शुपणां मां तोरण बंध्या री शुपणां मां गह्या हाथ ।
शुपणां मां म्हारो परण गया पायां अचड़ शुहाग ।
मीरां रो गिरधर मिड्या री पुरब जनण रो भाग ॥

(३७)

थे मत बरजाँ माई री साधाँ दरसण जावाँ।
स्याम रूप हिरदाँ बसाँ म्हारे ओर णा भावाँ।
सब सोवाँ शुख निदड़ो म्हारे रैण जगावाँ।
ग्याण णशाँ जग बावरा ज्याकूँ स्याम णा भावाँ।
मा हिरदाँ बस्या साँवरो म्हारे णींद णा आवाँ।
चौमाश्याँ री बावड़ी ज्याकूँ णीर णा पीवाँ।
हरि निर्झर अमरित झरयाँ म्हारी प्याश बुझावां।
रूप सुरंगा शामरो मुख निरखण जावाँ।
मीरा व्याकुड़ बिरहणी आपणी कर ड़यावाँ।

(३८)

पपैया म्हारो कब रो बैर चितायाँ।
म्हा सोबूँ छी अपणे भवणमाँ पियु-पियु करताँ पुकारयाँ।
दाध्याँ [ ]लूण ड़गायाँ हिवड़े करवत सारयाँ।
ऊभा वेटयाँ विरछ री डाड़ी बोड़ा कंठ णा सारयाँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर हरि चरणाँ चित धारयां॥

(३९)

सखी म्हारी णीद णशाणी हो।
पिय रो पंथ निहारताँ शब रैण बिहाणी हो।
सखियाँ शब मिड़ सीख दयाँ मण एक णा माणी हो।
बिण देख्याँ कड़ णा पड़ाँ मण रोस णा ठाणी हो।
अङ्ग खीण व्याकुड़ भयाँ मुख पिव पिव वाणी हो।
अण्तर वेदण विरह री म्हारी पीड़ णा जाणी हो।
ज्यूँ चातक घण कूँ रटाँ मछरी ज्यूँ पाणी हो।
मीरा व्याकुड़ विरहणी सुध-बुध बिसराणी हो॥

(४०)

हरि विण क्यूँ जिवाँरी माय।
स्याम विणा बौराँ भयाँ मण काठ ज्यूँ घुण खाय।
मूड़ ओखद णा ड़ग्याँ म्हाणे प्रेम पीडा खाय।
मीण जड़ विछुड़या णा जीवाँ तड़फ़ मर-मर ज्याय।
ढूढ़ताँ वण स्याम डोड़ा मुरड़ियाँ धुण पाय।
मीराँ रे प्रभु ड़ाड़ गिरधर वेग मिड़श्यो आय।

(४१)

देखाँ माई हरि मण काठ कियाँ ।
आवण कह गयाँ अजाँ णा आयाँ कर म्हाणे कोड़ गयाँ ।
खाण-पाण सुध-बुध सब बिसरचाँ काँई म्हारो प्राण जियाँ ।
थारो कोड़ विरुद जग थारो थे काईं बिशर गयाँ ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर थे विण फटाँ हियाँ ।।

(४२)

थ बिण म्हारे कोण खबर ड़े गोबरधण गिरधारी ।
मोर मुगट पीताम्बर शोभाँ कुंडड री छब ण्यारी ।
भरी सभाँ मा द्रुपद सुताँरी राख्या ड़ाज मुरारी ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर चरण कवड़ बड़हारी ।।

(४३)

म्हारो जणम-जणम रो शाथी थाणे ना बिशरचा दिण राँती ।
थाँ देख्याँ बिण कड़ ना पड़ताँ जाणे म्हारी छाँती ।
ऊचाँ चढ-चढ पंथ निहारचाँ कड़प-कड़प अखयाँ राँती ।
भोसागर जग बंधण भूठाँ-भूठाँ कुड़ राँ ण्याती ।
पड़-पड़ थाराँ रूप निहाराँ णिरख-णिरख मदमाँती ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर हरि चरणा चितराँती ।।

(४४)

जोशीडा णे लाख वधायाँ रे आश्यां म्हारो स्याम ।
म्हारे आणंद उमंग भरचाँ री जीव लह्याँ शुखधाम ।
पाँच शख्याँ मिड़ पीव रिझावाँ आणद ठामाठाम ।
बिशर जावाँ दुख निरखाँ पिया री सुफड़ मणोरथ काम ।
मीराँ रे शुखसागर स्वामी भवण पधारचाँ स्याम ।

(४५)

शुण्या री म्हाँरे हरि आवाँगा आज ।
म्हैंड़ा चढ-चढ जोवाँ सजणी कब आवाँ महाराज ।
दादुर मोर पपीआ बोड़चाँ कोइड़ मधुराँ शाज ।
उमग्याँ इंद चहूँ दिश बरशाँ दामण छोडचाँ ड़ाज ।
धरती रूप नवाँ-नवाँ धरचां इंद मिड़ण रे काज ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बेग मिड़चो महाराज ।।

(४६)

बस्याँ म्हारे णेणण माँ नण्दलाड़ ।
मोर मुगट मकराकृत कुंडड़ अरुण तिड़क शोहाँ भाड़ ।
मोहण मूरत साँवराँ शूरत नैणाँ वण्या बिशाड़ ।
अधर सुधाँरश मुरड़ी राजाँ उर बैजण्ताँ माड़ ।
मीराँ प्रभु संतां शुखदायाँ भगत बछड़ गोपाड़ ।

(४७)

पग बाँध घुँघर्याँ णाच्याँ री ।
ड़ोग कह्याँ मीराँ बावरी शाशू कह्या कुड़नाशाँ री ।
बिखरो प्याड़ो राणां भेज्याँ पीवाँ मीरा हाँशाँ री ।
तण-मण वार्चाँ हरि चरणाँ माँ दरसण अमरित पाश्याँ री ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर थारी शरणं आश्यां री ।

(४८)

साँवरियो रंग रांचाँ राणाँ साँवरियो रंग रांचाँ ।
ताड़ पखावजां मिरदंग बाजां साधाँ आगे णाचाँ ।
बूझ्या माणे मदण बावरी श्याम प्रीत म्हां काँचाँ ।
बिखरो प्याड़ो राणाँ भेज्या आरोग्याँ णा जाँचाँ ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर जणम-जणम रो साँचाँ ॥

(४९)

बादड़ देखाँ झरी स्याम बादड़ देख्याँ झरी ।
काडा पीडा घटयाँ ऊडयमाँ बरश्याँ च्यार घरी ।
जित जोवाँ तित पाणी-पाणी प्यासाँ भूम हरी ।
म्हारा पिया परदेसाँ बसताँ भीज्याँ दार खरी ।
मीराँ रे प्रभु हरि अबिणासी करश्यो प्रीत खरी ॥

(५०)

बरसाँ री बदरियाँ शावण री शावण री मणभावण री ।
शावण माँ उमग्यो म्हारो मण री भणक शुण्या हरि आवण री ।
उमड-घुमड घण मेघाँ आयाँ दामण घण झर ड़ावण री ।
बीजाँ बूँदाँ मेहाँ आयाँ वरशाँ शीतड़ पवण शुहावण री ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर वेड़ा मंगड़ गावण री

(५१)

बिध विधणा री ण्यारॉ ।
दीरघ नेंण मिरघ कूँ देखॉ बण-बण फिरतॉ मारां ।
उजड़ो बरण वागड़ॉ पावॉ कोयड़ बरणॉ कारॉ ।
नदयॉ-नदयॉ निरमड़ धारॉ समुंद करंया जड़ खारॉ ।
मूरख जण सिंगासण राजॉ पंडित फिरतॉ द्वारॉ ।
मीरॉ रे प्रभु गिरधर नागर राणॉ भगत संघारॉ ।

(५२)

बादड़ा रे थें जड़ भरॉ आज्यो ।
झर-झर बूंदां बरशां आड़ी कोयड़ सबद शुणाज्यो ।
गाज्यां बाज्यां पवण मधुरचो अंबर बदरां छाज्यो ।
शेज सवांरचा पिय घर आश्यां शखयां मंगड़ गाश्यो ।
मीरां रे प्रभु हरि अविणासी भाग भड़्यां जिणपाश्यो ।।

(५३)

पिया बिण सूणो छे म्हांरां देस ।
एसां णा कांई पीव मिड़ावां तण मण वारां असेस ।
थारे कारण वण बण डोड़यां ड़्यां जोगण रो भेस ।
बीतां चुमसां मांसां बीतां पंडर री म्हारा केस ।
मीरां रे प्रभु कबरे मिड़ोगां तज दयॉ णगर णरेश ।

(५४)

करम गत टारां णा री टरां ।
सतबादी हरचंदां राजां डोम घर णीरां भरां ।
पाँच पांडु री राणी द्रपता हाड़ हिमाड़ां गरां ।
जग्ग कियां बड़ ड़ेण इंद्राशण जांयां पताड़ परां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बिख रूँ अमरित करां ।।

(५५)

स्याम विण दुख पावां सजणी कुण म्हां धीर बंधावां ।
यो संशार कुबुध रो भांडो साध शंगत णा भावां ।
सावां जण री निद्यां ठाणां करम रॉ कुगत कुमावां ।
साध शंगत मॉं भूड़ णा जावां मूरिख जणम गुमावां ।
मीरां रे प्रभु थारी सरणां जीव परम पद पावां ।।

(५६)

म्हारो ओड़गियां घर आज्यो जी ।
तण री ताप मिटयां शुख पाश्यां हिड़मिड़ मंगड़ गाज्यो जी ।
घण री धुण शुण मोर मगण भयां म्हारे आंगण आज्यो री ।
चंदा देख कमोदण फूड़ां हरख भयां म्हारे छाज्यो जी ।
रूम रूम म्हारो शीतड़ सजणी मोहण आंगण आज्यो जी ।
सब भगतां रा कारज शाधां म्हारां परण निभाज्यो जी ।
मीरां बिरहण गिरधर नागर मिड़ दुख दंदां छाज्यो जी ।।

(५७)

सखि म्हारो सामरिया णे देखवां करां री ।
सांवरो उमरण सांवरो शुमरण सांवरो ध्याण धरां री ।
ज्यां ज्यां चरण धरयां धरणीधर ( ) निरत करां री ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर कुंजां गैड़ फिरां री ।।

(५८)

म्हारो मण सांवरो णाम रटयां री ।
सांवरो णाम जपां जग प्राणी कोटया पाप कटयां री ।
जणम जणम री खतां पुराणी णामां स्याम मटयां री ।
कणक कटोरां इम्रत भरयां पीवतां कूण नटयां री ।
मीरां रे प्रभु हरि अविणासी तण मण स्याम पटयां री ।।

(५९)

म्हां गिरधर आगां नाच्यां री ।
णाच णाच म्हां रसिक रिझावां प्रीत पुरातण जांच्यां री ।
स्याम प्रीत रो बांध घूघरयां मोहण म्हारो सांच्यां री ।
ड़ोक दाज कुड़रां मरज्यादां जग मां णेक णा राख्यां री ।
प्रीतम पड़ छड़ णा विसरावां मीरां हरि रंग राच्यां री ।।

(६०)

बरजी री म्हां स्याम बिणा न रह्यां ।
साधां संगत हरि शुख पाण्यूं जग शूं दूर रह्यां ।
तण धण म्हारो जावां जाश्यां म्हारो सीस ढ़ह्यां ।
मण म्हारो ड़ाग्यां गिरधारी जग रा बोड़ शह्यां ।
मीरां रे प्रभु हरि अवणासी थारी सरण गह्यां ।।

(६१)

माई म्हा गोविन्द गुण गाणा ।
राजा रूठ्यां णगरी त्यागां हरि रूठ्यां कठ जाणा ।
राणा भेज्यां बिखरो प्याडा चरणामृत पी जाणा ।
काड़ा णाग पिटार्‌यां भेज्यां शाड़गराम पिछाणा ।
मीरां गिरधर प्रेम बावरी सांवड़्या बर पाणा ।।

(६२)

म्हारो गोकुड़ रो ब्रज बाशी ।
ब्रजडीड़ा ड़ख जण शूख पावां ब्रज बणतां शुखराशी ।
णाच्यां गावां ताड़ बज्यावां पावां आणद हाशी ।
णण्द जसोदा पुन्न री प्रगट्यां प्रभू अविनाशी ।
पीताम्बर कट उर बैजणतां कर शोहां री बांशी ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर दरशण दीश्यो दाशी ।।

(६३)

थारो रूप देख्यां अटकी ।
कुड़ कुटम्ब सजण सकड़ बार बार हटकी ।
बिश्‌रयां णा ड़गण ड़गां मोर मुगट णटकी ।
म्हारो मण मगण स्याम ड़ोक कह्यां भटकी ।
मीरां प्रभु सरण गह्यां जाण्यां घट घट की ।।

(६४)

बड़े घर ताड़ो लागां री पुरबड़ा पुन्न जगावां री ।
झीड़ड़्यां री कामणा म्हारो डाबरां कुण जावां री ।
गंगा जमणा काम णा म्हारे म्हा जावां दरयावां री ।
कामदार शूं काम णा म्हारे जावां म्हा दरबारां री ।
हेड्या मेड्या काम णा म्हारे बैठ्या मिड़ शरदारां री ।
कांच कथीर शूं काम णा म्हारे चढ़श्या घण री सार्‌यां री ।
सोणा रूपां शूं काम णा म्हारे हीरां रो व्योपारां री ।
भाग हमारो जाग्यां रे रतणाकर म्हारी शीर्‌यां री ।
प्याड़ो अम्रत छांड्यां रे कुण पीवां कड़वां नीरयां री ।
भगत जणा प्रभु परचां पावां जावां जगतां दूरयां री ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मणरथ करश्यां पूरचां री ।।

(६५)

म्हारो मण हर ड़ीण्यां रणछोड़ ।
मोर मुगट शिर छत्र बिराजां कुंडड़ री छब ओर ।
चरण पखार्यां रतणाकर री धारा गोमत जोर ।
धजा पताका तट तट राजां झाड़र री झकझोर ।
भगत जाण्यां रो काज संवार्यां म्हारा प्रभु रणछोर ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर कर गह्यो णण्द किसोर ।।

(६६)

पिया म्हारे णेणां आगां रहज्यो जी ।
णेणा आगां रहज्यो म्हाणे भूड़ णा जाज्यो जी ।
भोसागर म्हा बूड़्या चाहां, स्याम वेग सुध ड़ीज्यो जी ।
राणा भेज्या बिखरो प्याड़ो थें इमरत वर दीज्यो जी ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर मिड़ बिछड़ण मत कीज्यो जी ।।

(६७) क

काँई म्हारो जणम वारम्बार ।
पुरबलाँ काँई पुन्न खूट्याँ माणशा अवतार ।
बढ्या छिण-छिण घट्या पड़-पड़ जात णा कछ वार ।
बिरछ राँ जो पात टूट्याँ लग्याँ णा फिर डार ।
भौ समुन्द अपार देखाँ अगम ओखी धार ।
ड़ाड़ गिरधर तरण तारण बेग करश्यो पार ।।

... ...

(६७) ख

रास पूणो जणमिया री राधका अवतार ।
ज्ञाण-चोसर मंडी चोंहटें खेड़ताँ संसार ।
गिरधराँ री रची बाजी जीत भावाँहार ।
साध संता ज्ञाणवन्ता चालताँ उच्चार ।
दासि मीराँ ड़ाड़ गिरधर जोवणा दिण च्यार ।।

(६८)

अब तो निभायाँ बाँह गह्याँ री ड़ाज ।
असरण सरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज ।
भोसागर मझधार अधाराँ, थें विण घणो अकाज ।
जुग जग भीर हराँ भगताँ री दीश्याँ मोच्छ नेवाज ।
मीराँ सरण गह्याँ चरणाँ री लाज रखां महाराज ।।

(६९)

हरि थें हरयां जण री भीर।
द्रोपता री ङाज राख्याँ थें बढयायाँ चीर।
भगत कारण रूप णरहरि धरयाँ आप सरीर।
वूडताँ गजराज राख्याँ कटया कुंजर पीर।
दासि मीरा ङाङ गिरधर हराँ म्हारी भीर॥

[ख]

काशी की प्रति से—

(७०)

होड़ी पिया विण म्हाणे रणा भावां घर आँगणाणा शुहावाँ।
दीपाँ जोयाँ चोक पुरावाँ हेड़ी पिया परदेस शजावाँ।
शूणी शेजाँ ब्याड़ बुझावाँ जागा रेण बितावाँ।
णीद नेरणा णा आवाँ॥
कब री ठाढ़ी म्हा मग जोवाँ णिश दिण बिरह जगावाँ।
क्या शूं मण री बिथा बतावाँ हिवड़ो म्हाँ अकुड़ावाँ।
पिया कब दरश दखावाँ॥
दीख्याँ णा काँई परम सणेही म्हारो सणेशा लावाँ।
वाँ बिरयाँ कब होशी म्हारो हंम पिय कण्ठ ड़गावाँ।
मीरा होड़ी गावाँ॥

(७१)

चाड़ा अगम वा देस कोड़ देख्यां डराँ।
भराँ प्रेम रां होज हंश केड़ा कराँ।
साधा सन्त रो शंग ग्याण जुगताँ कराँ।
धराँ साँवरो ध्यान चित्त उजड़ो कराँ।
सील घूँघराँ बाध तोस निरताँ कराँ।
साजाँ शोड़ शिगार शोणा रो राखड़ाँ।
साँवड़या शूं प्रीत ओर शू आखड़ां॥

(७२)

णन्द णण्दण मण भायाँ बादड़ाँ णभ छायाँ ।
इत घण ड़रजाँ उत घण गरजाँ चमकाँ बिज्ज डरायाँ ।
उमड घुमड घण छायाँ ( ) पवण चल्याँ पुरवायाँ ।
दादर मोर पपीया बोलाँ कोयड़ शबद शुणायाँ ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर चरण कंवड़ चितड़ायाँ ।।

(७३)

रंगभरी रागभरी राग सूँ भरी री ।
होड़ी खेड्या स्याम शंग रंग शूँ भरी री ।
उडत गुड़ाड़ लाड़ बादड़ा रो रंग ड़ाड़ ।
पिचकाँ उडावाँ रंग-रंग री झरी री ।
चोवा चन्दण अरगजाँ म्हाँ केसर णो गागर भरी री ।
मीराँ दासी गिरधर नागर चेरी चरण धरी री ।।

(७४)

साँवड़िया म्हारो छाय रह्या परदेस ।
म्हारा विछड्या फेर न मिड्या भेज्याँ णा एक शन्नेस ।
रतण आभरण भूखण छाड्याँ खोर कियां शर केस ।
भगवाँ भेख धर्‌याँ थें कारण ढूँढ्यों चार्‌याँ देस ।
मीराँ रे प्रभु स्याम मिड़ण विणा जीवण जणम अणेस ।।

(७५)

तणक हरि चितवाँ म्हारी ओर ।
हम चितवाँ थे चितवों णा हरि हिवड़ो बडो कठोर ।
म्हारी आसा चितवण थारी ओर णा दूजाँ दोर ।
ऊभ्याँ ठाढ़ी अरज करूँ छूँ करताँ-करताँ भोर ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी देश्यूँ प्राण अंकोर ।।

(७६)

णातो साँवरो री म्हासूँ णा तोडया जाय ।
पाणाज्यूँ पीडी पडी री लोग कह्याँ पिड बाय ।
बावड़ा वेद बुड़ाइया री म्हारी बाँह दिखाय ।
वेदा मरम णा जाणा री म्हारों हिवडो करकाँ जाय ।
मीराँ व्याकुड़ बिरहणी प्रभु दरसण दीज्यो आय ।।

(७७)

साँवरी शुरत मण रे बशी ।
गिरधर ध्याण धराँ निश वासर मूरत मोहण म्हारे बशी ।
कहा कराँ कित जावाँ सजणी म्हा तो स्याम डशी ।
मीराँ रे प्रभु कबरे मिड़ोगाँ णित णव प्रीत रशी ।

(७८)

नागर णंद कुमार लाग्यो थारो णेह ।
मुरड़ी धुण सुण बीसराँ म्हारो कुणबोगेह ।
पाणी पीर णा जाणई तड़फ मीण तज्याँ देह ।
दीपक जाणा पीर णा पतंग जड़या जड़ खेह ।
मीराँ रे प्रभु साँवरो थे विण देह अदेह ॥

(७९)

साजण म्हारे घर आयाँ हो ।
जुगाँ-जुगां री जोवतां बिरहण पिव पायां हो ।
रतण करां नेवछावरां ड़े आरत साजां हो ।
प्रीतम दयां संणेसड़ां म्हारों घणों णेवाजां हो ।
पिय आया म्हारे सांवरा अंग आणंद साजां हो ।
मीरां रे शुख सागराँ म्हारे सीश बिरांजां हो ॥

(८०)

म्हाणे क्यां तरशावां ।
थारे कारण कुड़जग छांड्या अब थें क्यां बिशरावां ।
बिरह बिथा ड्याया उर अन्तर थे आश्यां णां बुझावां ।
अब छांड्या णा बणे मुरारी सरण गह्यां वड़ जावां ।
मीरां दाशी जणम-जणम री भगतां पेज णिभावां ॥

(८१)

नीदड़ी आवाँ णा शारां रात कुण बिध होय प्रभात ।
चमक उठाँ शुपणा ड्ख सजणी शुध णा भूड्याँ जात ।
तड़फाँ-तड़फाँ जीयरा जायाँ कब मिड़ियाँ दीणाणाथ ।
भयाँ बावराँ सुध-बुध भूड़ाँ पीव जाण्या म्हारी बात ।
मीराँ पीड़ा शोई जाणाँ मरण जीवण जिण हाथ ॥

(८२)

थें जीम्या गिरधर लाड़ ।
मीराँ दासी अरज कर्‌याँ छे म्हारो लाड़ दयाड़ ।
छप्पण भोग छतीशाँ विंजण पावाँ जण प्रतिपाड़ ।
राजभोग आरोग्याँ गिरधर सण्मुख राखाँ थाड़ ।
मीराँ दासी सरणाँ ज्याँशी कीज्याँ वेग निहाड़ ।।

(८३)

माई साँवरे रंग राँची ।
साज शिंगार बाँध पग घूँघर ड़ोक ड़ाज तज णाची ।
गयाँ कुमत ड्याँ साधाँ शगत स्याम प्रीत जग शाँची ।
गाथाँ गायाँ हरि गुण णिस दिण काड़ व्याड़ री बाँची ।
स्याम विणा जग खाराँ लागाँ जगरी बाताँ काँची ।
मीराँ सिरी गिरधर नटनागर भगत रसीड़ी जाँची ।।

(८४)

जग मा जीवणा थोड़ा कुणो लयाँ भव भार ।
मात-पिता जग जणम दयांरी करम दयाँ करतार ।
खायाँ खरचाँ जीवण जावाँ काई करयाँ उपकार ।
साधाँ संगत हरिगुण गाश्याँ ओर णा म्हारी लार ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर थे बड़ उतर्‌याँ पार ।।

(८५)

साँवरो णदणण्दण दीठ पड्याँ माई ।
डारयाँ शब ड़ोक लाज शुध-बुध विशराई ।
मोर चन्द्रका किरीट मुगट छब शोहाई ।
केसर रो तिड़क भाल ड़ोचण शुख दाई ।
कुंडल झड़काँ कपोल अड़काँ लहराई ।
मीणा तज सर बर ज्यों मकर मिलण धाई ।
नटवर प्रभु भेख धरयाँ रूप जग ड़ोभाई ।
गिरधर प्रभु अंग-अंग मीराँ बड़जाई ।।

(८६)

अंखयाँ तरशाँ दरसण प्याशी ।
मग जोवाँ दिण वीताँ सजणी रैण पड़या दुख राशी ।
डाराँ बेठ्‌याँ कोयड़ बोड़्याँ बोड़ शुण्या री गाँशी ।
कड़वाँ बोड़ ड़ोक जग बोड़्याँ करश्याँ म्हांरी हाँशी ।
मीराँ हरि रे हाथ विकाणी णम जणम री दाशी ।।

(८७)

णेणा ड़ोभाँ आटकाँ शक्याँ णा फिर आय।
रूम-रूम णख सिख लख्याँ लड़क-लड़क अकुड़ाय।
म्हा ठाढ़ी घर आपणे मोहण णिकड़्याँ आय।
बदण चन्द परगासताँ मण्द मण्द मुशकाय।
शकड़ कुटम्वाँ बरजताँ बोड़्याँ बोड बणाय।
णेणा चंचड़ अटक णा माण्या पर हथ गयाँ विकाय।
भलो कह्याँ काँई कह्याँ बुरोरी शब लयाँ सीश चढ़ाय।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर विणा पड़ रह्याँ णा जाय॥

(८८)

माई री म्हारे णेणा बाण पडी।
ज्याँ दिण णेणा स्याम निहारयाँ बिशरयाँ णाहि घरी।
चित्त वश्याँ म्हारे साँवरो मोहण तण मण शुध बिशरी।
णा छाकाँ रस रूप माघुरो छांण थक्याँ डगरी री।
मीराँ हरि रे हाथ बिकाणी जग कुड़ काण सरी री॥

(८९)

लगण म्हारी स्याम शूँ लागी।
णेणा णिरख शुख पाय।
साजाँ सिंगार शुहागाँ सजणी प्रीतम मिड़्याँ धाय।
बर णा बरयाँ बापुरो जणम्या जणम णसाय।
बरयाँ साजण साँवरो म्हारो चुडड़ो अमर हो जाय।
जणम-जणम रो काण्हड़ो म्हारी प्रीत बुझाय।
मीरा रे प्रभु हरि अविणासी कब रे मिड़श्यो आय॥

(९०)

प्यारे दरशण दीश्यो आय थे बिणा रह्या णा जाय।
जड़ बिणा कंवड़ चंद विणा रजणी थे विणा जीवण जाय।
आकुड़ व्याकुड़ रेण बिहावाँ विरह कड़ेजो खाय।
दिवस णा भूख निदराँ रेणा मुखशूँ कह्या णा जाय।
कोण सुणे काशूँ कहियाँ री मिड़ पिय तपण बुझाय।
क्यूँ तरशावाँ अन्तरजामी आय मिड़ो दुख जाय।
मीरा दासी जणम जणम री थारो णेह लगाय।

(६१)

छोड़ मत जाज्यो जी महाराज ।
म्हा अबड़ा बड़ म्हारो गिरधर थें म्हारो सरताज ।
म्हा गुमहीन गुणागर नागर म्हा हिवड़ो रो साज ।
जग तारण भोभीत निवारण थें राख्याँ गजराज ।
हारयाँ जीवण सरण रावलाँ कठे जावाँ ब्रजराज ।
मीराँ रे प्रभु ओर णा काँई राखा अबरी लाज ॥

(६२)

आजु शुण्या हरि आवाँ री ।
आवांरी मण भावाँ री ।
हरि णा आवाँ गेंड लखावाँगेंड बाण पडया ड़डचावाँ री ।
णेणा म्हाराँ कह्याँ णा माणा णीर भरयाँ निश जावाँ री ।
काँई करयाँ कछ णा वस म्हारो णा म्हारे पंख उड़ावाँ री ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बाट जोहाँ थे आवाँ री ॥

(६३)

स्याम मिड़ण रे काज सखि उर आरत जागी ।
तड़फ-तड़फ कड़ णा पड़ाँ बिरहाणड़ ड़ागी ।
निशदिण पंथ णिहाराँ पिव रो पड़क णा पड़ भर ड़ागी ।
पीव-पीव म्हा रटाँ रेण दिण ड़ोक लाज कुड़ त्यागी ।
बिरह भुवंगम डश्याँ कड़ेज्याँ ड़हर हड़ा हड़ जागी ।
मीरा व्याकुड़ अत अकुडाणी स्याम उमंगा ड़ागी ।

(६४)

मुरड़िया बाजां जमणा तीर ।
मुरड़ी म्हारो मण हर ड़ीन्हो चित्त धरां णा धीर ।
श्याम कण्हैया स्याम कमरयां स्याम जमण रो नीर ।
धुण मुरड़ी शुण शुध बुध बिशरां जर जर म्हारो सरीर ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर वेग हरयां म्हा पीर ।

(६५)

म्हारो सांवरो ब्रज वाशी ।
जग शुहाग मिथ्या री सजणी होवा हो मटज्याशी ।
बरन करयां अविनाशी म्हारो काड़ व्याड़ णा खाशी ।
म्हारो प्रीतम हिरदां बशतां दरस लह्यां शुख राशी ।
मीरां रे प्रभु हरि अविनाशी सरण गह्या थे दाशी ॥

(९६)

री म्हा बैठ्यां जागां जगत शब शोवां ।
बिरहण बैठ्यां रंग महड़ मा णेणा लड़या पोवां ।
तारां गणता रेण बिहावां शुख घड़यां री जोवां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मिड़ बिछड़यां णा होवां ।

(९७)

सजणी कब मिड़श्या पिव म्हारां
चरण कवड़ गिरधर शुख देश्यां राख्यां णेणा णेरां ।
णिरखां म्हारो चाव घणेरो मुखडा देख्यां थारां ।
व्याकुड़ प्राण धरयां णा धीरज वेग हरयां म्हा पीरां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे विण तपण घणेरां ।

(९८)

साँवरे री म्हा तो रंग राती ।
स्याम सणेशो म्हा णा दीश्यां जीवण जोत बुझाती ।
ऊँचा ढ़च चढ़ पंथ निहारयां मग जोवाँ दिन राती ।
थें देख्यां विण कड़ णा पड़तां फाट्यां री म्हा छाती ।
मीरां रे प्रभु दरसण दीश्यो विरह विथा विड़खाती ॥

(९९)

म्हा लागां लगण सिरि चरणा री !
दरस विणा म्हाणे कछ णा भावां जग माया या सुपणा री ।
भो सागर भय जग कुड़ बण्वण डार दयां हरि चरणां री ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर आस गह्यां थे सरणा री ।

(१००)

गिरधर म्हारो प्यारो ।
जणम लयां मथुरा णगरी मां बिणराबण पग धारो ।
मत दीश्यां पूतणा कटभां केतां अधम उधारो ।
जमणा तीरां धेण चरावां ओढ़ां कामर कारो ।
श्यामड़ बदण कमड़ दड़ लोचणां पीताम्बर पटवारो ।
मोर मुगट मकराक्रत कुंडड़ करमा मुरड़ी धारो ।
जड़ बूड़तां राख्यां व्रजवासी छागण गिरवर धारो ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे म्हा प्राण अधारो ॥

(१०१)

माईम्हा गोविन्द गुन गाश्यां ।
चरणाम्रतरो णेम शकारे णित उठ दरसण जाश्या ।
हरि मंदिरमा निरत करावां घूंघरयां धमकाश्यां ।
श्याम नाम रा झाझ चड़ाश्यां भोसागर तर जाश्यां ।
यो संसार बीड रो कांटो गेड़ प्रीत अटकाश्यां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर गुन गावां शुख पाश्यां ।

(१०२)

होड़ी पिया विण लागां री खारी ।
शूणो गाँव देस शव शूणो शूणी सेज अटारी ।
शूणी बिरहण पिव विण डोड़ां तज गयां पीव पियारी ।
{बिरहा दुख मारी ॥
देस विदेशा णा जावा म्हारो अणेशा भारी ।
गणतां गणतां घिश गयां रेखां आंगरियां री शारी ।
आयां णा री मुरारी ॥
बाज्यां झाँझ मिरदंग मुरडियां बाज्यां कर इकतारी ।
आयां वसंत पिया घर णा री म्हारी पीड़ा भारी ।
स्याम मण क्यां री बिसारी ॥
ठाढ़ी अरज करा गिरधारी राख्या ड़ाज हमारी ।
मीरां रे प्रभु मिड़ज्यो माधो जणम जणम री क्वांरी ।
मणे लागी दरसण तारी ॥

नोट—१ से ६६ तक के पद डाकोर की हस्तलिखित प्रति से अविकल रूप में लिये गए हैं । इनमें प्राय: 'ल' के स्थान पर 'ड़' का प्रयोग है । मूल प्रति में इसका चिह्न कुछ-कुछ मराठी के 'ल' से मिलता जुलता है, किन्तु इसका उच्चारण कोमल 'ड़' की तरह होता है ।

काशी की प्रति में कहीं 'ल' के स्थान पर सम्पूर्ण 'ड़' का प्रयोग किया गया है और कहीं 'ल' का ही । सम्भव है हस्तलिखित प्रतियों की अति प्राचीनता काल के कारण कहीं-कहीं अशुद्ध पाठ जान पड़े, किन्तु चेष्टा यही की गई है कि मूल में जो पाठ उपलब्ध हैं वे ही ज्यों-के-त्यों प्रस्तुत पदावली में रखे जाएँ ।

काशी की प्रति से उद्धृत (संख्यां ६६ से आगे के) पदों की भाषा में भारत के कुछ प्रचलित प्रयोगों की मात्रा अधिक देख पड़ेगी ।

(१०३)

णेणा वणज बसांवाँ री म्हारा सांवरा आवां ।
णेणा म्हारा सांवरा राज्यां डरतां पड़क णा ड़ावां ।
म्हारा हिरदां बश्यां मुरारी पड़ पड़ दरशण पावां ।
स्याम मिलण सिंगार शजावां शुख री सेज बिछावां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बार-बार बड़ जावां ।।

शब्दानुक्रमणिका

अ

न

प